सांख्य-दर्शन और विज्ञानभिक्षु

डॉ॰ उर्मिला चतुर्वेदी

सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु

डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी
एम्. ए., पी-एच्. डी.

प्रकाशक
कला प्रकाशन
वाराणसी–२२१००१

प्रकाशक :
कला प्रकाशन
के. ३७/५५, ग्वालदास साहू लेन
बुलानाला, वाराणसी–२२१००१

© लेखिका
प्रथम संस्करण १६८१ ई०

मूल्य : ५०.००

मुद्रक :
सरस्वती मुद्रणालय
के. ५४/८८, दारानगर, वाराणसी–२२१००१

पूज्य पिताजी

श्री कलाधरप्रसाद चतुर्वेदी

को

श्रद्धा सहित

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

आमुख ९–११

सङ्केत-सूची १३–१४

पूर्वपीठिका १–५२

सांख्य-दर्शनके प्रारम्भ और विकासका संक्षिप्त इतिहास १-३४

सांख्य-दर्शन का महत्त्व–१, सांख्य शब्द का अर्थ–२, सांख्य-दर्शन की प्राचीनता–४, महर्षि कपिल–५, कपिल की कृति–९, आसुरि–१९, पञ्चशिख–२१, धर्मध्वज जनक–२२, वसिष्ठ–२३, याज्ञवल्क्य–२३, वोढु आदि सांख्याचार्य-२४, जैगीषव्य–२४, असित-देवल–२५, हारीत, वाल्मीकि, पाराशर, भार्गव एवं उलूक आदि सांख्याचार्य–२६, वार्षगण्य–२६, ईश्वरकृष्ण–२७, विन्ध्यवास–२७, अन्य प्राचीन सांख्याचार्य–२८, सांख्यकारिका के टीकाकार–२८, सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार–२८, माठर वृत्तिकार–२९, युक्तिदीपिकाकार–२९, आचार्य गौडपाद–३१, जयमङ्गलाकार–३२, वाचस्पति मिश्र–३२, अनिरुद्ध–३३, विज्ञानभिक्षु–३३, महादेव वेदान्ती–३४, तत्त्वसमाससूत्र के टीकाकार–३४, अन्य सांख्य ग्रन्थ–३४.

सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण ३४-३५

आचार्य विज्ञानभिक्षु का व्यक्तित्व ओर कृतित्व ३५-४१

पिज्ञानभिक्षु का कृतित्व–४२.

वेद और सांख्य-दर्शन ४४-५२

प्रथम अध्याय

प्रमाण-मीमांसा ५३–८७

प्रमाण-विचार ५३-६६

त्रिविध प्रमाण–५६, प्रत्यक्ष-प्रमाण–५६, अनुमान-प्रमाण–६०, शब्द-प्रमाण–६५.

उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि के स्वतन्त्र प्रमाण होने का निराकरण ६६-७०

कारणतावाद और सांख्य का सत्कार्यवाद ... ७०-७७

सांख्य-दर्शन में ख्याति-सम्बन्धी विचार ... ७७-८७

द्वितीय अध्याय — पृष्ठ संख्या

पुरुष-तत्त्व ८८–११४

पुरुष का स्वरूप तथा उसकी सत्ता की सिद्धि ८८-९३

पुरुष का भोक्तृत्व–९३, पुरुष का बहुत्व–१०३, उपाधि–१०६, जीव–१०७.

तृतीय अध्याय

प्रकृति-तत्त्व ११५–१३८

प्रकृति का स्वरूप–११५, गुण–१२२, प्रकृति की प्रवृत्ति–१३०, सृष्टि का प्रयोजन–१३२.

चतुर्थ अध्याय

सृष्टि और उसका विकास... ... ... १३९–१७८

सृष्टि का आदि तत्त्व महत्तत्त्व–१४०, बुद्धिके धर्म–१४४, बुद्धि के सात्त्विक रूप–१४४, धर्म–१४४, ज्ञान–१४५, वैराग्य–१४५, ऐश्वर्य–१४६, बुद्धि के तामसिक रूप–१४८, अहङ्कार–१४८, एकादश इन्द्रियाँ–१५१, मन–१५३, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ –१५४, पञ्चतन्मात्र–१५५, पञ्चमहाभूत–१५६, त्रयोदश करण–सूक्ष्म-शरीर–१६२, स्थूल-शरीर–१६८, दिक् और काल–१७१, प्रत्यय-सर्ग–१७२, विपर्यय–१७२, अशक्तियाँ–१७५, तुष्टियाँ–१७५, सिद्धियाँ–१७६, भौतिक सृष्टि के प्रकार–१७७.

पञ्चम अध्याय

दु:ख तथा उससे मुक्ति १७९–२१७

दु:ख–१७९, दु:ख के प्रकार–१८१, दु:ख-निवृत्ति का लौकिक उपाय और पुरुषार्थ-सिद्धि में उसकी अनुपयोगिता–१८२, दु:ख-निवृत्ति के वैदिक उपाय और पुरुषार्थ-सिद्धि में उनकी अनुपयोगिता–१८३, तत्त्वज्ञान ही दु:ख-निवृत्तिरूप पुरुषार्थ का उपाय है–१८६, बन्धन और उसके प्रकार–१८९, प्राकृतिक बन्धन–१८९, वैकृतिक बन्धन–१८९, दाक्षिण बन्धन–१९०, बन्धन के कारण–१९०, अविवेक ही बन्धन का कारण है–१९७, अविवेक का स्वरूप–१९७, मोक्ष–२०१, मोक्ष के प्रकार–२०१, मोक्ष का स्वरूप–२०१, जीवन्मुक्ति–२०७, विदेहमुक्ति–२०८, कर्म मोक्ष का साधन नहीं है–२०९, ज्ञान ही मोक्ष का साधन है–२१०, ज्ञान के साधन–२११, पुनर्जन्म–२११, सांख्य, न्याय तथा अद्वैत-वेदान्त के मोक्ष-सिद्धान्त की तुलना–२१५.

षष्ठ अध्याय पृष्ठ संख्या

सांख्य-दर्शन और ईश्वरवाद २१८–२४०

सांख्य की ईश्वरवादी धारा–२२०, उपनिषदों का ईश्वरवादी सांख्य–२२०, महाभारत का ईश्वरवादी सांख्य–२२२, श्रीमद्भगवद्गीता का ईश्वरवादी सांख्य–२२३, पुराणों का ईश्वरवादी सांख्य–२२४, अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित सेश्वरवादी सांख्य–२२६, सांख्य की निरीश्वरवादी धारा–२२७, सांख्य की निरीश्वरवादी धारा के प्रवर्तक आचार्य वार्षगण्य–२२७, सांख्यकारिका तथा उसकी टीकाओं में प्रतिपादित निरीश्वरवादी सांख्य–२२८, अनिरुद्ध द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरवादी सांख्य–२२९, आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में सांख्य-दर्शन में ईश्वर का स्थान–२३२.

सप्तम अध्याय

उपसंहार २४१–२५३

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची २५४–२६३

दार्शनिक-पद अनुक्रमणिका २६४–२७५

ग्रन्थ अनुक्रमणिका २७६–२८३

नाम अनुक्रमणिका २८४–२८८

आमुख

भारतीय दर्शनों में सांख्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस दर्शन ने बौद्ध आदि अन्य दर्शनों को तो प्रभावित किया ही है आयुर्वेद और पौराणिक साहित्य पर भी अपनी अमिट छाप लगा दी है। सांख्य-दर्शन का उपलब्ध साहित्य बहुत अधिक नहीं है। सांख्यकारिका, सांख्यप्रवचनसूत्र और तत्त्व-समाससूत्र इस दर्शन के मूल ग्रन्थ हैं। सैद्धान्तिक परम्परा की दृष्टि से इन ग्रन्थों के बाद सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका का स्थान है। यद्यपि कारिकाओं को समझने की दृष्टि से तत्त्वकौमुदी आदि टीकाएँ भी उपयोगी हैं किन्तु युक्तिदीपिका के बाद सांख्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य विज्ञानभिक्षु का सांख्यप्रवचनभाष्य ही है। आचार्य विज्ञानभिक्षु को सांख्य-दर्शन का भाष्यकार होने का गौरव तो प्राप्त ही है उन्हें सांख्य-दृष्टि को स्वीकार कर स्वतन्त्र सांख्य-ग्रन्थ लिखनेवाला अन्तिम महान् आचार्य भी माना जाता है। उन्होंने सांख्य-दर्शन को पुनरुज्जीवित किया और ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत-भाष्य तथा योगसूत्र पर वार्त्तिक लिखकर वेदान्त तथा योग से उसका समन्वय कर उसे प्रथम कोटि के दर्शनों की श्रेणी में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। अपने ग्रन्थों में उन्होंने सांख्य-दर्शन के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया है वह उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और विभिन्न दर्शनों की तलस्पर्शी विद्वत्ता की छाप लिए हुए है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सांख्य-दर्शन की विज्ञानभिक्षुकृत व्याख्या का एक समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक से पी-एच. डी. उपाधि हेतु सन् १९७३ में काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का परिनिष्ठित रूप है। यद्यपि सांख्य-दर्शन पर कुछ शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु पर भी दो शोध-प्रबन्ध पुस्तकरूप में प्रकाशित हो चुके हैं। पहला शोध-प्रबन्ध डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य द्वारा रचित 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और उनका भारतीय-दर्शन में स्थान' प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत में डी. फिल्. उपाधि हेतु स्वीकृत हुआ था। यह शोध-प्रबन्ध मेरे शोध-प्रबन्ध के पूर्व प्रकाशित हो चुका था। दूसरा पुस्तकाकार शोध-प्रबन्ध '*Indian Philosophy—Its Exposition*

in the Light of Vijñānbhikṣu's Bhāṣya and Yogavārtika: A modern approach', डॉ० नारायणकुमार चट्टोपाध्याय द्वारा '*A Critical Study of Vijñānabhikṣu's Position in the Modern Period of Indian Philosophy*' शीर्षक से पी-एच. डी. उपाधि हेतु सन् १९७५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्वीकृत हुआ। किन्तु दोनों ही ग्रन्थों में आचार्य विज्ञानभिक्षु के विशिष्ट सांख्य-सिद्धान्तों और उनके योगदान का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन नहीं हुआ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्तों के सम्यक् अध्ययन के विना सांख्य-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष तो उपेक्षित रह ही गया; साथ ही व्यवस्थित और गम्भीर चिन्तन के अभाव में विज्ञानभिक्षु द्वारा निरूपित सांख्य-सिद्धान्तों के विषय में भ्रान्त धारणाएँ बद्धमूल हो गयीं। प्रस्तुत ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य-दर्शन की व्याख्या को मूल ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत कर उसका निष्पक्ष मूल्याङ्कन करते हुए तत्सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। इस दिशा में सांख्य-दर्शन की ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्तों का उनके मूल ग्रन्थों के आधार पर उपस्थापन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु की दार्शनिक उपलब्धियों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का शोध-प्रबन्ध रूप श्री केदारनाथ मिश्र, रीडर, दर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्देशन में लिखा गया था। उन्होंने ही मेरा ध्यान इस विषय पर कार्य करने के लिए आकृष्ट किया था तथा अपने कुशल निर्देशन एवं विभिन्न संस्कृत ग्रन्थों के अध्यापन द्वारा इसे पूर्ण करने में मुझे सदैव सहयोग एवं सम्बल प्रदान किया। इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने के कार्य को भी उन्होंने अपने पूर्ण सहयोग एवं सक्रिय योगदान द्वारा पूर्ण कराया है। केवल अध्ययन के क्षेत्र में ही नहीं अन्य शैक्षणिक-कार्यों में भी समय-समय पर अपने बहुमूल्य परामर्शों एवं पथ-प्रदर्शन द्वारा गुरुतर कार्यों को भी वे मेरे लिए सुगम और सम्भव बना देते हैं। अपने अध्ययनकाल से ही उपकृत मेरा हृदय उनका चिरकृतज्ञ रहेगा।

प्रो० एन. एस. एस. रामन, अध्यक्ष दर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा गुरुवर्य प्रो० रामशङ्कर मिश्र के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करवाने की अनुमति प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है।

इस ग्रन्थ को लिखने में मुझे पं० उदयवीर शास्त्री, प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र, डॉ० अणिमा सेनगुप्ता तथा डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य की कृतियों से विशेष सहायता मिली है, एतदर्थ मैं इन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करती हूँ।

सरस्वती मुद्रणालय के सञ्चालक श्री निर्मलकुमार जी को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने कुशलतापूर्वक मुद्रण-कार्य को सम्पन्न किया है।

अन्त में मेरा निवेदन है कि कहीं-कहीं असावधानीवश भूलें रह गयीं हैं; आशा है सुधी-जन इसे मानवीय दुर्बलता के रूप में ग्रहण कर क्षमा करेंगे।

—उर्मिला चतुर्वेदी

सङ्केत-सूची

अनि. = अनिरुद्ध वृत्ति
अ. ब्र. सि. = अद्वैत ब्रह्म सिद्धि
अमर. = अमरकोश
अवत. = अवतरणिका
अहिर्बु. = अहिर्बुध्न्य संहिता
आ. वि. उ. भा. द. स्थान=आचार्य विज्ञान-भिक्षु और उनका भारतीय दर्शन में स्थान
उपो. = उपोद्घात
ऐत. उप. = ऐतरेय उपनिषद्
कठोप. = कठोपनिषद्
का. = कारिका
का. सा. सा. = काशी की सारस्वत साधना
कूर्मपु. = कूर्मपुराण
गरुडपु. = गरुडपुराण
गौड. = गौडपादभाष्य
गीता = श्रीमद्भगवद्गीता
गीता रह. = गीता रहस्य
चर. = चरकसंहिता
छान्दो. उप. = छान्दोग्य उपनिषद्
जयम. = जयमङ्गला
तर्क. = तर्करहस्य दीपिका
तर्कसं. = तर्कसंग्रह
तत्त्वकौ. = तत्त्वकौमुदी
तत्त्वया. = तत्त्वयाथार्थ्यदीपन टीका
तत्त्ववै. = तत्त्ववैशारदी
तत्त्वस. = तत्त्वसमाससूत्र
तैत्ति. उप. = तैत्तिरीय उपनिषद्
न्यायकु. = न्यायकुसुमाञ्जलि
न्यायभा. = न्यायभाष्य
न्यायम. = न्यायमञ्जरी
न्यायवा. = न्यायवार्तिक
न्यायवार्तिकता. = न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
प्रमाणमी. = प्रमाणमीमांसा
प्रमाणस. = प्रमाणसमुच्चय
परि. = परिच्छेद
बृह. उप. = बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्रह्मपु. = ब्रह्मपुराण
भाग. = श्रीमद्भागवत पुराण
भा. द. = भारतीय दर्शन–डॉ० राधाकृष्णन्
भा. द. रू. = भारतीय दर्शन की रूपरेखा
भा. द. प. = भारतीय दर्शन का परिचय
भार. द. =भारतीय दर्शन–महामहोपाध्याय उमेश मिश्र
भारतीय द. = भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय
भा. द. इ. = भारतीय दर्शन का इतिहास
मङ्गला. = मङ्गलाचरण
मत्स्यपु. = मत्स्यपुराण
मध्व. = मध्वाचार्यकृत भाष्य
म. पु. सां. = महाभारत और पुराणों में सांख्य-दर्शन
महाभा. = महाभारत
माठ. = माठरवृत्ति
मुण्ड. उप. = मुण्डक उपनिषद्
मेधा. = मेधातिथि भाष्य
मैत्रा. उप. = मैत्रायिणी उपनिषद्
यतीन्द्र. = यतीन्द्रमतदीपिका
याज्ञ. अप. = याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरादित्य टीका
युक्ति. = युक्तिदीपिका
योगभा. = योगभाष्य
योगवा. = योगवार्तिक

योगसा. = योगसारसंग्रह
योगसि. = योगसिद्धान्त चन्द्रिका
यो. सू. = योगसूत्र
वायुपु. = वायुपुराण
विष्णुस. = विष्णुसहस्त्रनाम
विज्ञा. = विज्ञानामृतभाष्य
वेदान्तकौ. = वेदान्तकौमुदी
वैशे. सू. = वैशेषिक सूत्र
श्लोकवा. = श्लोकवार्तिक
श्वेता. उप. = श्वेताश्वतर उपनिषद्
शाङ्क. = शाङ्करभाष्य
शरी. = शरीर स्थान
शिवार्क. = शिवार्कमणिदीपिका
शिशु. मल्लि. = शिशुपाल-वध की मल्लिनाथ टीका
स्याद्. हेम. = स्याद्वादमञ्जरीकी हेमचन्द्रकृत टीका
सन्मति. = सन्मति तर्क प्रकरण
सर्वद. = सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वो. = सर्वोपकारिणी टीका
सां. ऐ. प. = सांख्य-दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा
सांख्यका. = सांख्यकारिका
सांख्यच. = सांख्यचन्द्रिका
सांख्य ज्यो. = सांख्यकारिकाकी ज्योतिष्मती व्याख्या
सांख्यतत्त्वा. = सांख्यतत्त्वालोक
सां. तत्त्वकौ. प्रभा = सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा
सांख्यतत्त्ववि. = सांख्यतत्त्व विवेचन
सां. द. = सांख्य दर्शनम्
सां. द. इ = सांख्य-दर्शन का इतिहास
सां. प्र. भा. = सांख्यप्रवचनभाष्य
सां. सा. = सांख्यसार
सांख्य सिद्धा. = सांख्य-सिद्धान्त
सां. सू. = सांख्यसूत्र
सां. सू. वि. = सांख्यसूत्र विवरण
सां. सू. वृ. सा. = सांख्यसूत्र वृत्ति सार
सुवर्ण. = सुवर्णसप्ततिशास्त्र
सौरपु. = सौरपुराण
क्षीर. = क्षीरस्वामीकृत व्याख्या

A C.S. Co. L.I.P. = A Comparative Study of the Conception of Liberation in Indian Philosophy.
A C. S. I. P. = A Critical Survey of Indian Philosophy.
A H. I. P. = A History of Indian Philosophy.
C. S. : A C. S. = Classical Sāṁkhya : A Critical Study.
E. R. E. = Encyclopaedia of Religion and Ethics.
E. S. T. = Evolution of Sāṁkhya School of Thought.
I. L. = Indian Literature.
I. P. P. = Indian Psychology of Perception.
I. P. S. = Indian Philosophical Studies.
H. I. P. = History of Indian Philosophy.
H. P. E. W. = History of Philosophy Eastern & Western.
H. S. L. = History of Sanskrit Literature.
S. S. = Sāṁkhya System.
S. S. I. P. = Six Systems of Indian Philosophy.
S. Y. = Sāṁkhya and Yoga.
T. P.-C. S. = Theism of Pre-Classical Sāṁkhya.
T. S. C. P. = The Sāṁkhya Conception of Personality.
T. S. K. I. = The Sāṁkhya Kārikā of Īśvarakṛṣṇa.
T. T. R. = The Theory of Rebirth.

सांख्यदर्शन
और
विज्ञानभिक्षु

पूर्वपीठिका

सांख्य-दर्शन के प्रारम्भ और विकास का संक्षिप्त इतिहास :

सांख्य-दर्शन भारतवर्ष के प्राचीन महत्त्वपूर्ण दर्शनों में अन्यतम है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही इस दर्शन ने प्रबुद्ध चिन्तकों को प्रभावित किया है और भारतीय वाङ्मय पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। "भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य-दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था।"[१] महाभारत में सांख्य-शास्त्र को सनातन कहा गया है।[२] ईश्वरकृष्ण इसे पवित्र और अग्र्य-ज्ञान कहते हैं।[३] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में सांख्य-दर्शन को प्राचीन भारत में सुसम्बद्ध और व्यवस्थित दर्शन का निर्माण करने का सर्वप्रथम प्रयास माना जाता है।[४] जॉन डेवीज की धारणा है कि सांख्य-दर्शन प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मन में उठनेवाले जगत् की सृष्टि, मनुष्य के स्वरूप एवं सम्बन्धों तथा उसकी नियति से सम्बद्ध रहस्यात्मक प्रश्नों का केवल चिन्तन के ही आधार पर समाधान करने या उत्तर देने का प्राचीनतम प्रयत्न है।[५] रिचर्ड गार्बे ने ठीक ही कहा है कि 'दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें मानवीय मस्तिष्क की पूर्ण स्वतन्त्रता और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है तो वह कपिल के सिद्धान्त में।'[६]

सांख्य-दर्शन के महत्त्व के प्रख्यापक अनेक वाक्य औपनिषद साहित्य एवं महाभारत आदि में उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में सांख्य के ज्ञान को अग्र्य-ज्ञान कहा गया है और परमात्मा को 'सांख्ययोगाधिगम्य' कहकर इसी ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की बात स्वीकार की गयी है।[७] महर्षि याज्ञवल्क्य

---

१. सां. द. इ. वासुदेवशरण अग्रवाल 'भूमिका' पृष्ठ १.

२. साङ्ख्यञ्च योगञ्च सनातने द्वे। (महाभारत १२/३४९/७३)।

३. एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। (सांख्यकारिका ७०)।

४. सांख्यतत्त्वा. भूमिका, पृष्ठ १.

५. The Sāṅkhyakārikā of Īśvarakṛṣṇa, Preface.

६. हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ १२७. ७. श्वेता. उप. ५/२ तथा ६/१३.

की दृष्टि में सांख्य के सदृश कोई ज्ञान नहीं है।[1] स्मृतियों, पुराणों, काव्यों और ज्योतिष तथा आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों में परिलक्षित होनेवाला सांख्य-दर्शन का प्रबल प्रभाव इस बात का द्योतक है कि इस दर्शन ने भारतीय चिन्तन परम्परा में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सांख्य शब्द की निष्पत्ति 'संख्या' शब्द में अण् प्रत्यय लगाने से होती है और संख्या का अर्थ सम्यक् ख्याति है। सांख्य-दर्शन सम्मत सम्यक् ख्याति चेतन पुरुष को व्यक्त और अव्यक्त रूप अचेतन प्रकृति से विविक्त करके जान लेना है। इसी विवेकज्ञान को सांख्य-दर्शन में 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति', 'विवेकख्याति' आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इसी सत्त्वपुरुषान्यताख्याति को सांख्य-दार्शनिक जीवन के परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानते हैं।

अनेक विद्वान् सांख्य-दर्शन का अर्थ गणनापरक स्वीकार करते हैं और गणनार्थक 'संख्या' शब्द से सांख्य की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। रिचर्ड गार्बे का मत है कि संख्या शब्द का अर्थ गिनती है और यह गिनती सांख्य में मिलती है।

कभी-कभी इस धारणा की पुष्टि महाभारत[2] आदि के उन वाक्यों से होती मानी जाती है जिनमें सांख्य को 'परिसंख्या' से सम्बद्ध कहा गया है। प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र की धारणा है कि सांख्य-दर्शन को सांख्य संज्ञा से अभिहित किए जाने का एक प्रमुख कारण उसका तत्त्वों की संख्या का निर्धारण करना है।[3]

सोमतिलक सूरि[4] का मत है कि इस दर्शन की सांख्य संज्ञा पुरुष-निमित्तक है। 'संख' या 'शंख' नामक आदि पुरुष के नाम पर ही इसे सांख्य-दर्शन कहा गया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्य शब्द का अर्थ गणनापरक तथा ज्ञानपरक दोनों स्वीकार करते हैं। वे सांख्य प्रवचन भाष्य में[5] सांख्यदार्शनिकों की सांख्य संज्ञा का स्वारस्य बताते हुए महाभारत के वसिष्ठ के वचन को उद्धृत करते हैं—

---

१. नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्। (महाभारत १२/३१६/२)।

२. महाभारत, १२/३०६/४२–४३. ३. सां. ऐ. प. पृष्ठ ५.

४. सांख्य इति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा। संखस्य इमे सांख्याः, तालव्यो वा शकारः शङ्खनामादि-पुरुषः। —लघुवृत्ति ४४.

५. सां. प्र. भा., उपो., पृष्ठ ६.

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥[१] (महाभा० १२/३०६/४२-४३)

तात्पर्य यह है कि संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान का उपदेश देने, प्रकृति का प्रतिपादन करने तथा तत्त्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करने के कारण सांख्य-दार्शनिक सांख्य कहे जाते हैं। इस श्लोक में सांख्य के गणनार्थक तथा ज्ञानार्थक दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं।

संख्या एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ ज्ञान, विवेक, चिन्तन, विचार, चर्चा आदि है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्य पद का घटक संख्या शब्द इसी अर्थ का द्योतक माना गया है। कोशकार अमरसिंह ने संख्या शब्द के पर्यायवाची 'चर्चा, विचारणा'[२] आदि माने हैं और संख्यावान् के पण्डित एवं कवि।[३] महाभारत में संख्या शब्द के इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए सुलभा कहती है--

दोषाणां च गुणानाञ्च प्रमाणं प्रविभागतः ।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ (महाभा० १२/३२०/८२)।

अर्थात् गुण-दोष-मीमांसापूर्वक किसी विषय पर प्रमाण पुरस्कृत सरणि से विचार करने को संख्या कहते हैं। इसी संख्या शब्द से सांख्य शब्द की निष्पत्ति हुई है। सांख्यदार्शनिक विचार, चिन्तन और तर्क पर बहुत अधिक बल देते हैं तथा तत्त्वविनिश्चय में चिन्तन और अनुमान का ही आश्रय लेते हैं (श्रुति का नहीं, यद्यपि वे अपने तर्कसिद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कभी-कभी श्रुति-वाक्य भी उद्धृत करते हैं)। सांख्य का मूल आधार बौद्धिक चिन्तन है, यह बात केवल सांख्य-दार्शनिक ही नहीं आचार्य शङ्कर के समान सांख्य के प्रबल प्रतिपक्षी भी स्वीकार करते हैं।[४] गीता (३/३) के 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इत्यादि वाक्यों में जिसे सांख्य-योग कहा गया है वह भी ज्ञान या चिन्तन का मार्ग ही है। विज्ञानभिक्षु की सांख्य शब्द की परिभाषा इसी अर्थ की पोषक है। उनका मत है कि 'संख्या सम्यग्विवेकेनात्मकथनम्'[५]

---

१. गीता प्रेस द्वारा मुद्रित संस्करण में इन श्लोकों का पाठ इससे किञ्चिद्भिन्न है।
२. चर्चा संख्या विचारणा। (अमर. १/५/३)।
३. संख्यावान् पण्डितः कविः। (अमर. २/६/५)।
४. गीता शांक. १३/२४.
५. सां. प्र. भा. पृष्ठ ७.

अर्थात् सांख्य शब्द के घटक संख्या शब्द का अर्थ है सम्यक् रूप से विचार-पूर्वक प्रकृति और उसकी प्रसूति से विविक्त करके आत्म-तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन। शङ्कराचार्य भी सांख्य शब्द का अर्थ 'शुद्ध आत्म-तत्त्व का ज्ञान' ही मानते हैं। वे अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिए व्यास-स्मृति के 'शुद्धात्म-तत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते' इत्यादि वाक्यों को भी उद्धृत करते हैं।[1] मध्वाचार्य भी सांख्य का अर्थ ज्ञान स्वीकार करते हैं तथा उपरिलिखित व्यास-स्मृति को उद्धृत करते हैं।[2] सांख्य-दर्शन का घटक संख्या शब्द उपर्युक्त दोनों अर्थों की दृष्टि से अन्वर्थ है क्योंकि तत्त्वों की संख्या का निर्णय तत्त्व के स्वरूप के निर्णय पर निर्भर है और तत्त्व के स्वरूप के निर्णय के लिए प्रखर बौद्धिक साधना की आवश्यकता होती है; अतः दोनों ही अर्थों से सांख्य के तर्कप्रवण और बुद्धिवादी होने का ही द्योतन होता है।

सांख्य-दर्शन की प्राचीनता

महाभारत में सांख्य-दर्शन का उल्लेख जिस प्रकार हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत-काल में इस दर्शन का व्यापक प्रभाव था। उपनिषदों में विशेष रूप से परवर्ती उपनिषदों में--सांख्य का उल्लेख है। कठोपनिषद[3] में प्रयुक्त अव्यक्त, व्यक्त, महद् आदि शब्द तथा श्वेताश्वतर उपनिषद्[4] में प्रयुक्त 'सांख्य', 'कपिल' आदि शब्द निश्चय ही सांख्य-दर्शन से सम्बद्ध हैं और इन उपनिषदों से पूर्व ही सांख्य-दर्शन एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप ले चुका होगा। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य जैसे प्राचीन उपनिषदों में भी सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों के संकेत मिलते हैं। स्पष्ट है कि सांख्य-शास्त्र और उसके उद्भावक का काल अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के सन्धिकाल में होना चाहिए।[5] अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' के बारहवें सर्ग में बुद्ध को अराड द्वारा सांख्य की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख किया है और डॉ॰ वेबर के अनुसार सांख्य सभी भारतीय दर्शनों में प्राचीनतम है और बौद्ध-दर्शन मूलतः

---

१. सांख्यस्य शुद्धतत्त्वविज्ञानस्याचार्यश्चेति कपिलाचार्यः। 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते' इति व्यासस्मृतेः। (विष्णुस. शांक. ७०)।

२. सांख्यं ज्ञानम्। 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते' इति भगवद्वचनाद् व्यास-स्मृतौ। (गीता मध्व. २/३९)।

३. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। (कठोप. १/३/११)।

४. श्वेता. उप. ६/१३, ५/२. ५. सां. ऐ. प. पृष्ठ १७–१८.

सांख्य-सिद्धान्त का एक रूप मात्र था।[1] अतः सांख्य-दर्शन का बुद्ध (छठी शताब्दी ई० पू०) से प्राचीन होना निर्विवाद है। श्री उदयवीर शास्त्री सांख्य-दर्शन के उद्भावक कपिल के काल को सत्य-युग का अन्तिम चरण या त्रेता-युग का प्रारम्भ स्वीकार करते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए विष्ण-पुराण (३/२/५५) को उद्धृत भी करते हैं।[2]

महर्षि कपिल

भारतीय परम्परा में महर्षि कपिल को आदि विद्वान् तथा सांख्य-दर्शन का प्रवर्तक माना गया है। प्राचीन दार्शनिक-साहित्य में कपिल का अनेकशः उल्लेख हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से कपिल के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर-उपनिषद् के 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (५/२) इस मन्त्र में हुआ मिलता है। भगवद्गीता (१०/२६) में श्रीकृष्ण स्वयं को सिद्धों में कपिल मुनि बताते हैं। महाभारत (१२/३३६/६८) तथा (१२/३४६/६५) में कपिल को सांख्य-प्रवर्तक के रूप में स्मरण किया गया है। विष्णुपुराण,[3] भागवत[4] तथा गरुडपुराण[5] में कपिल को विष्णु का अवतार माना गया है। पञ्चशिख के योगभाष्य में उद्धृत वाक्य[6] एवं भागवत तथा गरुडपुराण[7] आदि के अनुसार सांख्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश महर्षि कपिल ने आसुरि को दिया था, जिसमें तत्त्वसमूह (के स्वरूप आदि) का निर्णय किया गया था। शङ्कराचार्य भी सांख्य-शास्त्र को कपिल-शास्त्र मानते हैं।[8] इस प्रकार प्राचीन भारतीय परम्परा कपिल को सांख्य-शास्त्र का आदि प्रवर्तक स्वीकार करती है। किन्तु महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों में मिलनेवाले कपिल के वर्णनों के परस्पर विरोधपूर्ण होने के कारण कुछ आधुनिक विद्वान् इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। महाभारत में कपिल को कहीं अग्नि

---

१. देखिए अनि. : गार्बे, भूमिका, पृष्ठ २.

२. सां. द. इ., पृष्ठ ४२. ३. विष्णु पु. २/१४/९.

४. पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ (भाग. १/३/१०)।

५. गरुड पु. १/१/१८.

६. आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। (योगभा. १/२५)।

७. देखिए ऊपर टिप्पणी ४–५. ८. गीता शांक. १८/१९.

का अवतार[1] तथा कहीं ब्रह्मा का मानस-पुत्र[2] माना गया है। वायुपुराण[3] में भी कपिल को अग्नि का अवतार कहा गया है। कपिल सम्बन्धी इन उल्लेखों में परस्पर विरोध तो है ही भागवत (३/२४/५–६) के उस वर्णन से भी इन उल्लेखों का विरोध है जिनमें कपिल को कर्दम और देवहूति का पुत्र तथा बिन्दु-सरोवर को उनका जन्म-स्थान बताया गया है। सांख्य-कारिका के गौडपाद भाष्य में ब्रह्मसुत कपिल मुनि को सांख्य-प्रणेता कहा गया है।[4] तत्त्वसमास-सूत्र की सर्वोपकारिणी टीका में कपिल नाम के दो पृथक्-पृथक् ऋषियों का उल्लेख है। एक कपिल जो विष्णु के अवतार तथा कर्दम और देवहूति के पुत्र हैं उन्हें 'तत्त्वसमाससूत्र' का रचयिता कहा गया है और दूसरे कपिल अग्नि के अवतार हैं और उन्हें 'सांख्यप्रवचनसूत्र' का रचयिता कहा गया है।[5] शङ्करा-चार्य ने सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल से भिन्न सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करनेवाले वासुदेव कपिल के होने की बात भी कही है।[6] सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार आचार्य विज्ञानभिक्षु कपिल को विष्णु का अवतार[7] मानते हैं तथा इन परस्पर असंगत मतों समाधान करते हुए कहते हैं कि विष्णु के अवतार कपिल ने ही अपनी माता देवहूति और उनके द्वारा समस्त लोक को सांख्य-शास्त्र का उपदेश दिया, यह बात भागवत आदि ग्रन्थों से सिद्ध है। इसके विपरीत कपिल को अग्नि का अवतार माननेवाले महाभारत के वचनों का इतना ही तात्पर्य है कि उनमें 'अग्नि' नामक शक्ति का आवेश होने के कारण यत्र-तत्र अग्नि नाम से उनका उल्लेख हुआ है।[8] श्री उदयवीर शास्त्री ने भी परस्पर विरुद्ध उद्धरणों का समाधान इसी प्रकार किया है कि कर्दम और देवहूति के पुत्र विष्णु के अवतार कपिल को ही सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने के कारण अग्नि का अवतार कहा जाता है तथा ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य अथवा उनसे ज्ञान प्राप्त करने के कारण उन्हें ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है।[9] बालराम उदासीन के मतानुसार कल्पभेद से कपिल को विष्णु तथा अग्नि का

---

१. अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः। (महाभा. ३/२२१/२१)।

२. महाभा. १२/३४०/७२–७३. ३. वायुपु. ६/४२.

४. गौड., पृष्ठ १. ५. तत्त्वस. सर्वो., पृष्ठ ५९.

६. देखिए, ब्रह्मसूत्र शांक. २/१/१ तथा उसकी आनन्दगिरि एवं गोविन्दानन्द कृत व्याख्याएँ।

७. नारायणः कपिलमूर्तिः। (सां. प्र. भा., पृष्ठ १)।

८. सां. प्र. भा., पृष्ठ २६६.

९. सां. द. इ., पृष्ठ ५.

अवतार एवं ब्रह्म-पुत्र मान कर उक्त मतों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।[1]

पश्चिम एवं पूर्व के कुछ विचारक कपिल की ऐतिहासिकता में सन्देह करते हैं। डॉ० कीथ, कोलब्रुक, जैकोबी तथा मैक्समूलर आदि विद्वान् कपिल को अनैतिहासिक पुरुष मानते हैं। डॉ० कीथ का मत है कि कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्याय है तथा अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मता का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में मिलता है।[2] डॉ० हरदत्त शर्मा का मत है कि कपिल की ऐतिहासिकता में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता।[3] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने भी कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है यद्यपि आसुरि के प्रति उनके सांख्य-विषयक उपदेश को उन्होंने ऐतिहासिक घटना माना है।[4] प्रायः योग-भाष्य में उद्धृत 'आदिविद्वान्निर्माण-चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' इस वाक्य के आधार पर कपिल को ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है। किन्तु गोपीनाथ कविराज का मत है कि कपिल मुनि चित्त विहीन थे अतः वे मनुष्य शरीर में पृथ्वी पर कभी भी वर्त्तमान नहीं थे, उन्होंने केवल जिज्ञासु आसुरि को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने मात्र के लिए योग-बल से चित्त का निर्माण कर लिया था।[5] विज्ञानभिक्षु ने भी स्वीकार किया है कि सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योग-बल से स्वनिर्मित चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया।[6] कपिल ने आसुरि को सांख्य का उपदेश दिया था, यह मान लेने में प्रायः सभी उपर्युक्त विद्वान् सहमत हैं और एक बार यह स्वीकार कर लेने पर

---

१. पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ (भाग. १/३/१०)।
इति स्मृतौ पञ्चमावतारत्वोक्तेर्विष्णोरवतारः कपिल इति भावः। 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः' इति महाभारतं तु कल्पभेदेन नेयम्। कल्पभेदेनैव च कपिलो ब्रह्मपुत्र इति स्मर्यते। (योगसूत्र १/२५ बाल. उदा. कृत टीका)।

२. सां. सि., पृष्ठ ४७.   ३. तत्त्वकौ. : झा., भूमिका, पृष्ठ १२.

४. जय. (भूमिका), पृष्ठ २–३.   ५. वही, पृष्ठ ३.

६. आदिविद्वान् स्वयम्भूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तम-धिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासव आसुरये तत्त्वं प्रोवाच। (योगवा. १/२५)।

साधारण मानवी बुद्धि––जो यह मानती है कि मनुष्य केवल शरीरधारी वास्तविक व्यक्ति से ही उपदेश ग्रहण कर सकता है––की प्रवृत्ति स्वभावतः यही मानने की होती है कि कम से कम आसुरि को उपदेश देने के समय कपिल इस पृथ्वी-तल पर अस्थिचर्मादिमय शरीर धारण कर विद्यमान रहे होंगे।

कपिल का समय

महर्षि कपिल के समय का निश्चित रूप से निर्देश कर सकना कठिन है। कठ[1] और श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् सांख्य विचारों से पर्याप्त प्रभावित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो सांख्य-प्रवर्तक कपिल का नाम भी उपलब्ध होता है।[3] जैसा प्रो॰ विंटरनित्ज़ ने बताया है[4] इनकी रचना महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व हो चुकी थी! स्वयं महात्मा बुद्ध ने प्रमुख सांख्य चिन्तक अराड से सांख्य प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान का श्रवण किया था।[5] स्पष्ट है कि परमर्षि कपिल बुद्ध से पहले हुए होंगे। महाभारत (और गीता) में कपिल का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है उससे उपर्युक्त मत की ही पुष्टि होती है। डॉ॰ राधाकृष्णन् भी कपिल का काल बुद्ध से पूर्व मानते हैं।[6] कालीपद भट्टाचार्य ने कपिल से ईश्वरकृष्ण तक माठरवृत्ति, गौडपाद-भाष्य, जयमङ्गला तथा षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या से पन्द्रह आचार्य एवं ऋषि-तर्पण के ग्यारह आचार्य, इस प्रकार छब्बीस आचार्यों की गणना कर के तथा प्रत्येक के लिए सामान्य रूप से तीस वर्ष का समय निर्धारित कर के कपिल का समय सातवीं शती ईसा पूर्व माना है।[7] उनका यह निष्कर्ष तथ्य से बहुत दूर नहीं है, फिर भी यह अवधेय है कि उनकी सूची में न आनेवाले कई नाम युक्तिदीपिका,[8] महाभारत[9] तथा बुद्ध-चरित[10]

----

१. कठोप. १/३/१०–११. २. श्वेता. उप. ६/१३.

३. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्। (श्वेता. उप. ५/२)।

४. A History of Indian Literature, p. 237.

५. बुद्धचरितम्, १२/१–२१. ६. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५३.

७. 'Some Problems of Sāṅkhya Philosophy and Sāṅkhya Literature', pp. 510-513, published in Indian Historical Quarterly, September, 1932.

८. युक्ति, ७०.

९. महाभा. १२/२१९/२६–३१, १२/२२९/३–४, १२/३०२–३०८, १२/३१८/५९–६२, १२/३२०/४.

१०. बुद्धचरितम् १२/६७.

में मिलते हैं। अतः छब्बीस आचार्यों की उनकी सूची को निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार सभी का काल तीस वर्ष मानना भी आवश्यक नहीं है।

कपिल की कृति

कपिल की कृति के सम्बन्ध में भी सांख्य-दर्शन के विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अनेक आधुनिक विद्वानों का मत है कि कपिल को सांख्य का आदि प्रवर्तक माना जा सकता है किन्तु उन्होंने इस विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी यह कह सकना कठिन है। प्राचीन भारतीय परम्परा षष्टितन्त्र को कपिल की रचना मानती है। पञ्चशिख के प्रसिद्ध कथन 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'[1] में कपिल के उपदेश के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस मत की पुष्टि ईश्वरकृष्ण के वचनों से भी होती है।[2] उन्होंने स्वयं कहा है कि शिष्य-परम्परा से प्राप्त इस ज्ञान को मैंने (ईश्वरकृष्ण ने) सत्तर कारिकाओं (संक्षेप) में प्रस्तुत किया है और इस प्रक्रिया में आख्यायिकाओं तथा परमत खण्डन को छोड़ दिया है।[3] इस प्रकार पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण के मतानुसार षष्टितन्त्र, जिसे तन्त्र भी कहा गया है, कपिल-प्रणीत मौलिक सांख्य-शास्त्र का नाम है। अहिर्बुध्न्यसंहिता[4] में कपिलसांख्य को साठ भागोंवाला कहा गया है। शङ्कराचार्य ने भी षष्टितन्त्र को 'कपिल-प्रणीत' माना है।[5] वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार भास्कराचार्य ने भी षष्टि-तन्त्र का रचयिता कपिल को माना है।[6] पण्डित उदयवीर शास्त्री,[7] प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र[8] तथा डॉ० रामसुरेश पाण्डेय[9] षष्टितन्त्र को कपिल-प्रणीत मानने के पक्ष में हैं।

----

१. योगभा. १/२५ में उद्धृत।

२. एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥ (सांख्यका. ७०)।

३. शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥ (सांख्यका. ७१–७२)।

४. अहिर्बु. १२/१९. ५. ब्रह्मसूत्र शांक. २/१/१. ६. ब्रह्मसूत्र भास्क. २/१/१.

७. सा. द. इ. पृष्ठ १०४. ८. सां. ऐ. प., पृष्ठ ८८. ९. म. पु. सां., पृष्ठ ७६.

चीनदेशीय परम्परा में षष्टितन्त्र का रचयिता पञ्चशिख को माना गया है।[१] म० म० गोपीनाथ कविराज ने, जयमङ्गला की अपनी भूमिका में इसे पञ्चशिख प्रणीत बताया है।[२] प्रोफ़ेसर हिरियन्ना ने ईश्वरकृष्ण के 'तेन च बहुधाकृतं तन्त्रम्' (सांख्यका० ७०) आदि वाक्यों तथा जयमङ्गला[३] के टीका के कुछ वाक्यों के आधार पर इस मत के साथ अपनी सहमति प्रकट की है।[४] डॉ० कीथ[५] तथा डॉ० हरदत्त शर्मा[६] को यह मत स्वीकार नहीं है। ईश्वरकृष्ण के 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' का यह अभिप्राय नहीं प्रतीत होता कि पञ्चशिख ने तन्त्र की रचना की थी। यदि उनका ऐसा अभिप्राय होता तो वे 'कृतं तन्त्रम्' लिख देते। 'बहुधा' पद का प्रयोग स्पष्ट कर देता है कि तन्त्र पहले से विद्यमान था, पञ्चशिख ने आसुरि से उसका अध्ययन कर उसे शिष्यों को पढ़ाया तथा उस पर व्याख्या ग्रन्थ लिखकर उसका प्रचार किया। 'बहुधा' पद का एक और स्वारस्य है जिसे माठर[७] तथा युक्तिदीपिकाकार[८] ने स्पष्ट किया है। वह यह है कि पञ्चशिख तक यह क्रम रहा कि गुरु कुछ शिष्यों को ही तन्त्र का अध्ययन कराता था किन्तु पञ्चशिख ने उसे बहुत से शिष्यों को पढ़ा कर प्रचारित कर दिया। अतः ईश्वरकृष्ण के कथन 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' को पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का कर्त्ता मानने का साधक स्वीकार करना ठीक नहीं है। जयमङ्गला टीका से इस बात की और अधिक पुष्टि होती है कि पञ्चशिख से पूर्व षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ विद्यमान था। पञ्चशिख ने उसमें संक्षेप से प्रतिपादित साठ पदार्थों में से एक-एक को लेकर उसकी व्याख्याभूत एक-एक खण्ड की रचना की और इस प्रकार साठ पदार्थों के आधार पर साठ खण्डों की रचना हो गयी।[९] इस टीका से पञ्चशिख के मूल षष्टितन्त्र के व्याख्याकार होने की ही पुष्टि होती है,

---

१. सां सि., पृष्ठ ७६. २. जयम. (भूमिका) पृष्ठ १.

३. जयम. पृष्ठ ६५, का. ५१, ७०–७२.

४. 'The Ṣaṣṭitantra and Vārṣagaṇya', p. 110, published in the 'Journal of Oriental Research', Madras, 1929.

५. सां. सि. पृ० ५०.

६. तत्त्वकौ. : झा., भूमिका, पृ. २३–२५.

७. पञ्चशिखेन तेन बहुधाकृतं तन्त्रम्। बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम्॥ (माठ. ७०)।

८. तेन च बहुधाकृतं तन्त्रं बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्। (युक्ति. ७०)।

९. 'बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः॥' (जयम. ७०)।

रचयिता होने की नहीं। सम्भव है व्याख्याकार होने के कारण ही चीन देशीय परम्परा में पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का कर्त्ता माना जाने लगा हो। षष्टितन्त्र के वार्षगण्य कृत होने का आधार भी कुछ ग्रन्थों में मिलता है। व्यास-भाष्य के—

तथा च शास्त्रानुशासनम्,
गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ इति। (योगभा० ४/१३)।

इत्यादि वाक्यों की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः।'[१] स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार व्यास द्वारा यहाँ उद्धृत श्लोक षष्टितन्त्र का है। पुनः अपनी भामती टीका में श्री मिश्र ने इसी श्लोक को कुछ पाठ भेद से उद्धृत किया है और इसकी अवतरणिका में 'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः'[२] ये शब्द लिखे हैं। इस पाठ भेद को नगण्य मानते हुए कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि वाचस्पति के मतानुसार षष्टितन्त्र 'वार्षगण्य' की रचना है। श्री बालराम उदासीन ने इसी आधार पर षष्टितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य को बताया है।[3]

प्रो० हिरियन्ना[४] तथा उदयवीर शास्त्री[५] वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि व्यासभाष्य और तत्त्व वैशारदी के लेखों को मिलाकर देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि यहाँ षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है और भामती में केवल वार्षगण्य के नाम का उल्लेख है तथा उन्हें 'योगशास्त्र का व्युत्पादयिता' कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व-वैशारदी (१/२५) तथा भामती[६] में षष्टितन्त्र का रचयिता कपिल को ही

---

१. तत्त्वै. ४/१३. २. भामती २/१/३.

३. वार्षगण्याचार्यप्रणीतस्य षष्टिपदार्थप्रतिपादकस्य सांख्यशास्त्रस्य। (तत्त्वै. ४/१३ पर बालराम.)।

४. 'The Ṣaṣṭitantra and Vārṣagaṇya', p. 110, published in the Journal of Oriental Research, Madras, 1929.

५. सां. द. इ., पृष्ठ ८७.

६. 'तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षसाधनमनेनेति तन्त्रं, तदेवाख्या यस्याः सा स्मृतिस्तन्त्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता। अन्याश्चासुरिपञ्चशिखादिप्रणीताः स्मृतयस्तदनुसारिण्यः। (भामती २/२/१)।

स्वीकार किया है। वार्षगण्य को मूल षष्टितन्त्र का रचयिता मानने में एक कठिनाई यह भी है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य पञ्चशिख ने तन्त्र (अर्थात् षष्टितन्त्र) का उपदेष्टा कपिल को माना है।[1] ईश्वरकृष्ण ने अपनी उपसंहारात्मक कारिकाओं में कपिल, आसुरि और पञ्चशिख का उल्लेख किया है और स्पष्ट कहा है कि उनकी रचना उस 'तन्त्र' का संक्षिप्त रूप है जिसे कपिल से आसुरि तथा आसुरि से पञ्चशिख ने प्राप्त करके विस्तृत किया। यदि ईश्वरकृष्ण की दृष्टि में वार्षगण्य षष्टितन्त्र के रचयिता होते तो वे उसका संक्षेप करते समय उनका नामोल्लेख अवश्य करते। अतः षष्टितन्त्र का कर्त्ता कपिल को मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कपिल रचित षष्टितन्त्र कौन-सा ग्रन्थ है। पं० उदयवीर शास्त्री[2] तथा प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र[3] का मत है कि उपलब्ध 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' में ही मूल षष्टितन्त्र निहित है। डॉ० रामसुरेश पाण्डेय तत्त्व-समास-सूत्र को षष्टितन्त्र मानने के पक्ष में हैं।[4] एफ० ई० हाल ने 'सांख्य-सार' की अपनी भूमिका में लिखा है कि 'स्वप्नेश्वर' ने अपनी 'कौमुदी प्रभा' में 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' को पञ्चशिख की कृति माना है और यह बताया है कि सांख्य-शास्त्र का प्रवर्तन कपिल के द्वारा होने के कारण उसे कपिल-प्रणीत मान लिया जाता है।[5] अनिरुद्ध[6] तथा विज्ञानभिक्षु[7] इन सूत्रों को कपिलकृत मानते हैं। सर्वोपकारिणी टीका के अनुसार कर्दम और देवहूति के पुत्र, विष्णु के अवतार कपिल ने तत्त्वसमाससूत्र की रचना की तथा अग्नि के अवतार कपिल ने सांख्य-प्रवचन-सूत्र की रचना की।[8] विज्ञानभिक्षु दोनों सूत्र-ग्रन्थों को कपिल की रचना मानते प्रतीत होते हैं।[9] ब्रह्मसूत्र (२/२/८) के अपने भाष्य में श्री कण्ठाचार्य सांख्यसूत्र १/१६ तथा १/७ कपिल सूत्र के नाम से उद्धृत करते हैं।[10] अप्पयदीक्षित ने श्रीकण्ठभाष्य

---

१. आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

२. सां. द. इ., पृष्ठ ११५.

३. सां. ऐ. प., पृष्ठ ११३.

४. म. पु. सां., पृष्ठ ६५.

५. सां. सा. भूमिका, पृष्ठ ८.

६. अनि., पृष्ठ १.

७. सां. प्र. भा., पृष्ठ २ तथा २६६.

८. सर्वो., पृष्ठ ५९.

९. सां. प्र. भा., पृष्ठ ६ तथा २६६.

१०. 'तदेतत् न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगतस्तद्योगादृते न स्वभावतो बद्धस्य मोक्ष-साधनोपदेशः' इत्यादि कपिलसूत्रैः। (ब्रह्मसूत्र २/२/८ श्रीकण्ठभा.)।

की अपनी टीका में सांख्यसूत्र (१/७६) को कपिल-प्रणीत मानकर उद्धृत किया है।[1]

श्री उदयवीर शास्त्री ने सांख्यसूत्रों को कपिल-कृत मानने में यह तर्क दिया है कि ईश्वरकृष्ण की ७२वीं कारिका से स्पष्ट होता है कि उन्होंने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह ग्रन्थ वर्त्तमान सांख्य-प्रवचन-सूत्र ही है और इसी का प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है। ईश्वरकृष्ण की अड़सठ कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय सांख्य-प्रवचन-सूत्र के तीन अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसका उन्होंने संक्षेप किया है। इसके अनन्तर ईश्वरकृष्ण लिखते हैं कि उन्होंने षष्टितन्त्रोक्त आख्यायिकाओं तथा परवादों को छोड़ दिया है। ये दोनों बातें वर्तमान सांख्य-प्रवचन-सूत्र में उपलब्ध होती हैं। श्री शास्त्री ने कारिकाओं तथा सूत्रों की तुलना करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र वर्तमान सांख्य-प्रवचन-सूत्र ही है। उनका मत है कि उपलब्ध सांख्य-प्रवचन-सूत्र यद्यपि इसी रूप में प्राचीन षष्टितन्त्र नहीं है तथापि प्राचीन षष्टितन्त्र इसी में निहित है।[2] महर्षि कपिल को सांख्य-प्रवचन-सूत्रों तथा तत्त्वसमाससूत्रों का रचयिता मानने के मत के विरोध में प्रायः अधोलिखित तर्क दिये जाते हैं—(१) सांख्य-प्रवचन-सूत्रों के अनेक सूत्र परवर्ती ग्रन्थों जैसे ब्रह्मसूत्र,[3] योगसूत्र,[4] सांख्यकारिका[5] आदि से उद्धृत प्रतीत होते हैं। (२) सांख्य-प्रवचन-सूत्रों में कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख के मत का उल्लेख है।[6] (३) इन सूत्रों में स्रुघ्न, पाटलिपुत्र आदि नगरों के नाम आये हैं[7] जो निश्चित रूप से चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व के पहले के नहीं हो सकते। (४) इनमें न्याय-वैशेषिक आदि सम्प्रदायों का खण्डन है।[8] (५) किसी प्राचीन सूत्रकार या प्रसिद्ध दार्शनिक ने इन सूत्रों को उद्धृत नहीं किया है। कुछ विद्वान् तो सांख्य-प्रवचन-सूत्रों पर किसी प्राचीन

---

१. प्रधानकारणवादे पक्षपातहेतुं 'परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' इत्यादि कपिलसूत्रोक्तं सूचयन् पूर्वपक्षयति प्रधानेति। (शिवार्क २/२/१)।

२. सां. द. इ., पृष्ठ १०४–११५.

३. सां. सूत्र ४/३, ब्रह्मसूत्र ४/१/१ है।

४. सां. सूत्र २/३३, योगसूत्र १/५ है।

५. सां. सूत्र १/१२४ सांख्यका. १० की प्रथम पंक्ति है, सां. सूत्र २/३१ सांख्यका. २९ की द्वितीय पंक्ति तथा सां. सूत्र २/१८ सांख्यका. २५ की प्रथम पंक्ति है।

६. सां. सूत्र ५/३२, ६/६८.

७. सां. सूत्र १/२८.

८. सां. सूत्र १/२५, ५/८५–८७, ९०, ९९.

भाष्य आदि के न होने के कारण इन्हें प्रायः चौदहवीं शताब्दी के आस-पास की रचना मानने का मत प्रतिपादित करते हैं।[1] उनका कहना है कि अनिरुद्ध कृत सांख्यसूत्रवृत्ति सांख्य-प्रवचन-सूत्र की प्राचीनतम टीका है और इसकी रचना पन्द्रहवीं शताब्दी में हुई है।

कपिल के द्वारा सातवीं शती ईसा पूर्व या उससे पहले सांख्यसूत्रों की रचना किये जाने के मत के विरोध में दिये जानेवाले जिन तर्कों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र का विचार यह है कि सांख्य-प्रवचन-सूत्र के जिन सूत्रों को ब्रह्मसूत्र और योगसूत्र से उद्धृत कहा जाता है उनके मौलिक सांख्यसूत्र होने तथा परवर्ती काल में ब्रह्मसूत्रकार एवं योगसूत्रकार द्वारा उद्धृत किये जाने की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता।[2] सांख्यसूत्र २/१८ जिसे प्रायः सांख्यकारिका की पचीसवीं कारिका से उद्धृत समझा जाता है, के सम्बन्ध में पं० उदयवीर शास्त्री,[3] एवं प्रोफ़ेसर मिश्र[4] का कहना है कि कारिका के प्रथम चरण एवं उपर्युक्त सांख्यसूत्र के पाठों में भेद होने के कारण सूत्र को स्वतन्त्र रचना मानने की सम्भावना का निर्णय नहीं किया जा सकता। सूत्र का पाठ 'सात्त्विकमेकादशकम्' है जब कि कारिका का पाठ 'सात्त्विक एकादशकः' है। इसी प्रकार सांख्यसूत्र १/१२४ को दसवीं सांख्यकारिका से उद्धृत मानना भी पं० उदयवीर शास्त्री[5] एवं प्रो० मिश्र[6] की दृष्टि में ठीक नहीं है क्योंकि अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार सूत्र का पाठ 'हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्' है जो कारिका के पाठ से भिन्न है। अवधेय है कि विज्ञानभिक्षु के अनुसार सूत्र का पाठ 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्' है जो दसवीं सांख्यकारिका के पूर्वार्द्ध के पाठ से अक्षरशः मिलता है। प्रो० मिश्र का कहना है कि अनिरुद्ध ने प्रत्येक पद की व्याख्या की है किन्तु 'अव्यापि' पद को छोड़ दिया है। इससे यह अनुमान होता है कि मूल सूत्र का पाठ वही रहा होगा जो अनिरुद्ध ने स्वीकार किया है। अनिरुद्ध के बाद और विज्ञानभिक्षु से पहले किसी ने सूत्र में कारिका के संस्कारवश 'अव्यापि' पद को जोड़ दिया होगा।[7] इस सम्बन्ध में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि विज्ञानभिक्षु अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में अनिरुद्ध कृत

---

१. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५५.

२. सां. ऐ. प., पृष्ठ ११२. ३. सां. द. इ., पृष्ठ ११७. ४. सां. ऐ. प., पृष्ठ १११.

५. सां. द. इ., पृष्ठ ११६. ६. सां. ऐ. प., पृष्ठ ११०. ७. सां. ऐ. प., पृष्ठ १११.

सांख्यसूत्रवृत्ति का जिस प्रकार उल्लेख करते हैं उससे लगता है कि वे इस वृत्ति तथा तदनुसारी सांख्यसूत्रों के पाठ से सुपरिचित रहे होंगे। यद्यपि उन्होंने इस वृत्ति को महत्त्वपूर्ण नहीं माना है और इसका अनेकशः खण्डन किया है। अतः बहुत सम्भव है कि विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध द्वारा स्वीकृत पाठ की जानकारी के बावजूद सांख्यसूत्र का 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्' यह पाठ स्वीकृत किया हो।

सांख्य सूत्रों में पञ्चशिख के उद्धरणों के पाये जाने के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर मिश्र का कथन है कि पञ्चशिख कपिल के प्रशिष्य तथा समकालिक थे तथा उन्होंने अपनी व्याख्या द्वारा मूल षष्टितन्त्र को विस्तृत किया था, अतः कपिल द्वारा अपने सूत्र ग्रन्थ में ऐसे योग्य शिष्य के मत का नामसहित उल्लेख कर दिया जाना स्वाभाविक ही है।[1]

उदयवीर शास्त्री[2] तथा प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र[3] प्रथम अध्याय के ३५ सूत्रों (२०वें सूत्र से ५४वें सूत्र तक) को प्रक्षिप्त मानते हैं। इन्हीं सूत्रों में पाटलिपुत्र आदि नगरों का नामोल्लेख करनेवाला सांख्यसूत्र १/२८ तथा वैशेषिकों का खण्डन करनेवाला सांख्य सूत्र १/३५ भी आ जाता है। इसी प्रकार उन्होंने पाँचवें अध्याय के ७६, ८० तथा ८४ से ११५ तक के सूत्र, जिनके अन्तर्गत न्याय-वैशेषिक का खण्डन करनेवाले सांख्य सूत्र[4] भी आ जाते हैं, प्रक्षिप्त माने हैं। इन सूत्रों के प्रक्षिप्त होने का कारण उन्होंने प्रकरण-भेद बताया है। किन्तु सांख्यसूत्रों के व्याख्याकारों ने इस ओर कोई भी संकेत नहीं किया है और समस्त सूत्रों को कपिल कृत मान कर श्रद्धापूर्वक उन पर व्याख्या लिखी है।

पं० उदयवीर शास्त्री[5] तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र[6] का मत है कि प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में सांख्यसूत्रों के कुछ उद्धरण मिलते हैं। इन विद्वानों की धारणा है कि अधिकांश ग्रन्थों में सांख्यकारिका के उद्धरण इसलिए भी प्राप्त होते हैं कि वह सरल, सुबोध होने के कारण पठन-पाठन की परम्परा में आ गयी थी, फिर भी हम प्राचीन ग्रन्थों में सूत्रों का उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त कर सकते हैं। सांख्यदार्शनिक देवल अत्यन्त प्राचीन आचार्य हैं। माठर-

---

१. सां. ऐ. प., पृष्ठ १०२.
२. सां. द. इ., चतुर्थ प्रकरण।
३. सां. ऐ. प., पृष्ठ १०५.
४. सां. सूत्र, ५/८५–८७, ९०, ९९.
५. सां. द. इ., चतुर्थ प्रकरण।
६. सां. ऐ. प., पृष्ठ ९२–९९.

वृत्ति[1] से ज्ञात होता है कि देवल तथा ईश्वरकृष्ण के बीच कई आचार्य हुए होंगे। महाभारत[2] तथा गीता[3] में देवल का नाम उल्लिखित है जिससे सिद्ध होता है कि वे प्राचीन आचार्य थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य टीका में देवल के मत को नामोल्लेखपूर्वक इस प्रकार उद्धृत किया गया है—तत्र देवलः ... पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। ... एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि इह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते। तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। ... षोडश विकाराः। त्रयोदश-करणानि।...पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुखम्। विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा। सिद्धि-रष्टधा। प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्। ...इति दशमूलिकार्थाः। ...प्रकृतेर्महानुत्पद्यते महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्तन्मात्रणीन्द्रियाणि च तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्ति-क्रमः।[4] इन विद्वानों का मत है कि इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि देवल किसी पूर्वप्रणीत ग्रन्थ का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उद्धरण के 'अशक्तिरष्टाविंशतिधा', 'तुष्टिर्नवधा' और 'सिद्धिरष्टधा' क्रमशः सांख्यसूत्र ३/३८–४० है। इसी प्रकार 'षोडश विकाराः', 'दश मूलिकार्थाः', 'त्रिविधो बन्धः' तया 'त्रिविधं दुःखम्' अंश अक्षरशः क्रमशः तत्त्वसमासूत्र २, १६, १९ तथा २२ हैं। इसके अतिरिक्त 'विपर्ययः पञ्चविधः', 'त्रयोदश करणानि', 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रेभ्यो विशेषाः', 'अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिः' तथा 'अभिमानलक्षणोऽहङ्कारः' थोड़े पाठ-भेद के साथ क्रमशः सांख्यसूत्र ३/३७, २/३८, १/६१, २/१३ तथा २/१६ हैं। इसी प्रकार 'त्रयो गुणाः', 'त्रीणि प्रमाणानि' तथा 'पञ्च वायुविशेषाः' कुछ अन्तर के साथ तत्त्वसमाससूत्र ४, २१ तथा १० हैं। युक्तिदीपिका २६ में तत्त्वसमाससूत्र (११) 'पञ्चकर्मयोनयः' का उल्लेख है। न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य (४/१/४८) में 'उपादाननियमात्' (सां० सू० १/११५) को उद्धृत किया है। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर, जिनका समय छठी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता, न्यायसूत्र (४/१/२१) के वार्त्तिक में सांख्यसूत्र (१/६१) उद्धृत करते प्रतीत होते हैं।[5] इसी प्रकार श्रीकण्ठ,[6] अहिर्बुध्न्य-

---

१. माठ. ७१. २. महाभारत, १२/२७५.
३. गीता, १०/१३. ४. याज्ञ. अप. ३/४/१०९.
५, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति। (न्यायवा. ४/१/२१)।
६. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः इत्यङ्गीकारात्। (ब्रह्मसूत्र, श्रीकण्ठ, २/१/१)।

संहिता के कर्ता,[१] अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी[२] तथा हरिभद्र सूरि[३] भी सांख्यसूत्र १/६१ को उद्धृत करते प्रतीत होते हैं। श्रीकण्ठाचार्य ब्रह्मसूत्र (२/२/८) के अपने भाष्य में सांख्यसूत्र १/१६ तथा १/७ को उद्धृत करते हैं।[४] अप्पय दीक्षित ने श्रीकण्ठभाष्य की अपनी टीका में सांख्यसूत्र १/७६ को कपिल-प्रणीत मानकर उद्धृत किया है।[५] नैषधीयचरित (१/५६) की मल्लिनाथ-कृत व्याख्या का 'अणुपरिमाणं मन इति सूत्रणात्' वाक्य 'अणुपरिमाणं तत्' (सां० सू० ३/१४) से अद्भुत साम्य रखता है। पं० उदयवीर शास्त्री[६] तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र[७] की धारणा है कि मल्लिनाथ ने सांख्यसूत्र के आधार पर ही ऐसा लिखा होगा।

पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र का यह मत तो युक्तियुक्त है कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना षष्टितन्त्र के आधार पर की थी और वह षष्टितन्त्र कपिल-प्रणीत था। किन्तु इन विद्वानों का सांख्य-प्रवचन-सूत्र को ही षष्टितन्त्र ग्रन्थ मानने का आग्रह प्रमाणपुष्ट न होने से उचित नहीं प्रतीत होता। सांख्य-प्रवचन-सूत्र के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते। पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र, जिन ग्रन्थों में सांख्यसूत्र १/६१ का उद्धृत होना मानते हैं, वहाँ वस्तुतः सांख्यसूत्र उद्धृत होना नहीं अपितु सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाना मात्र प्रतीत होता है। सांख्य-कारिका की युक्तिदीपिका टीका में इस प्रकार का एक वाक्य मिलता है— 'महतः प्रच्युतं हि रजो विकृतम्, अण्डस्थानीयाः पञ्चकर्मयोनयो भवन्ति—धृतिः, श्रद्धा, सुखा विविदिषा अविविदेषेति।' (युक्ति० २६)। जिसके आधार पर पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ने वहाँ 'पञ्च कर्मयोनयः' इस तत्त्वसमाससूत्र को उद्धृत माना है! इसी प्रकार वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य (४/१/४८) के 'प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासत् उपादाननियमात्।' इत्यादि वाक्य में 'उपादाननियमात्' (सा० सू० १/११५) इस सांख्यसूत्र के उद्धृत होने का मत व्यक्त किया गया है। किन्तु इन वाक्यों के आधार पर निःसन्दिग्ध और निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये क्रमशः

----

१. अहिर्बु. ६/१७–१८.
२. अमर. क्षीर. १/४/२९.
३. षड् दर्शन. ३५.
४. ब्रह्मसूत्र श्रीकण्ठ. २/२/८.
५. शिवार्क. २/२/१.
६. सां. द. इ., पृष्ठ १८२.
७. सां. ऐ. प., पृष्ठ ९५.

युक्तिदीपिकाकार और न्यायभाष्यकार के ही शब्द न होकर उनके द्वारा उद्धृत किये जा रहे सांख्यसूत्र हैं क्योंकि इसका कोई विनिगमक वहाँ उपलब्ध नहीं होता। नैषधीयचरित (१/५६) की मल्लिनाथकृत टीका का वाक्य 'अणुपरिमाणं मन इति तार्किकाः' है 'अणुपरिमाणं मन इति सूत्रणात्' नहीं जैसा कि पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ने माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य टीका (३/४/१०६) के देवल वचन के आधार पर भी सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्व-समास-सूत्र का षष्टितन्त्र होना नहीं सिद्ध होता। इस टीका में देवल के नाम से लगभग दो पृष्ठ का उद्धरण मिलता है। यदि इस अंश को ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह सम्पादक की त्रुटि प्रतीत होती है। सम्पादक महोदय की सतर्कता का ज्ञान तो इसी से होता है कि इस उद्धरण के बीच में एक श्लोक है जिसे सम्पादक ने तत्त्व-समास-सूत्र बताया है। इस टीका में 'तत्र देवलः' कहकर यह वाक्य उद्धृत किया गया है—

अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः। देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः, अभ्युदयो निःश्रेयसमिति।

यहाँ प्रयुक्त 'इति' शब्द देवल वचन की समाप्ति का सूचक प्रतीत होता है। इसके आगे अपरादित्य ने सांख्य-सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया है। इस वर्णन के कुछ वाक्य सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्व-समास-सूत्र से मिलते हैं जिनके आधार पर पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ने इन्हें सांख्य-प्रवचन-सूत्र और तत्त्व-समास-सूत्र का उद्धरण माना है एवं इन सूत्र-ग्रन्थों को देवल की प्राचीनता के आधार पर उनसे पूर्व हुए महर्षि कपिल का स्वीकार किया है। डॉ० रामसुरेश पाण्डेय ने भी इस टीका के देवल वचन के आधार पर तत्त्व-समास-सूत्र को कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र माना है।[1] किन्तु वे इसी देवल वचन में उद्धृत सांख्य-प्रवचन-सूत्र से मिलते-जुलते वाक्यों के सम्बन्ध में मौन हैं। वे सांख्य-प्रवचन-सूत्र को आठवीं शती से पूर्व की रचना नहीं मानते।[2] उनकी यह धारणा अत्यन्त भ्रान्त है क्योंकि एक स्थान के आधे उद्धरणों को प्राचीन तथा आधे उद्धरणों को अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में हमारी धारणा है कि अपरादित्य टीका का इतना लम्बा उद्धरण देवल का नहीं हो सकता। ये अपरादित्य टीका के वाक्य हैं। इन वाक्यों को अपरादित्य का भी माना जा सकता है। ये अपरादित्य के

---

१. म. पु. सां., पृष्ठ ७६. २. म. पु. सां., पृष्ठ ७८.

द्वारा उससे पूर्व प्रणीत सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्व-समास-सूत्र के भी हो सकते हैं। अतः इन वाक्यों को सूत्र-ग्रन्थों के उद्धरण मानने पर भी इन सूत्रों का समय अपरादित्य के समय से पूर्व अर्थात् बारहवीं शताब्दी से पूर्व ही सिद्ध किया जा सकता है, देवल से पूर्व नहीं।

पं० उदयवीर शास्त्री तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ने जिन सूत्रों को प्रक्षिप्त माना है, उन्हें प्रक्षिप्त मानने के लिए दिये गये तर्क निर्णायक नहीं हैं। सांख्य-सूत्रों के व्याख्याकार अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु तथा महादेव वेदान्ती ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया है और सभी सूत्रों को कपिलप्रणीत मानकर श्रद्धापूर्वक उनपर व्याख्या लिखी है। सांख्यसूत्रों में ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र तथा सांख्यकारिका के उद्धरण के विषय में प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र के तर्क निर्णायक नहीं प्रतीत होते। सांख्य-प्रवचन-सूत्र इन ग्रन्थों से बाद की रचना है, अतः सांख्य-सूत्रकार द्वारा इन ग्रन्थों के उद्धृत होने की सम्भावना बढ़ जाती है। सांख्यसूत्रों में पञ्चशिख[1] तथा सनन्दाचार्य[2] के मत का उल्लेख भी इस ग्रन्थ के कपिलप्रणीत होने की सम्भावना को कम करता है। अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रह जाता है कि इन सूत्रों को कपिलप्रणीत क्यों कहा गया। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का मत है कि कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र ग्रन्थ वाचस्पति के समय से पूर्व ही लुप्त हो चुका था।[3] अतः नवीं शताब्दी के बाद ही किसी ने प्रचलित सांख्य-दर्शन के आधार पर सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्व-समास-सूत्र की रचना की होगी। योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त के सूत्र ग्रन्थ हैं और इनके रचयिता इन दर्शनों के प्रवर्तक हैं किन्तु सांख्य-दर्शन में किसी प्राचीन सूत्रग्रन्थ के न मिलने के कारण कालान्तर में इन्हीं सूत्रग्रन्थों को कपिलप्रणीत मान लिया गया।

आसुरि

आसुरि कपिल के प्रथम शिष्य[4] तथा आचार्य पञ्चशिख के गुरु थे। इस मान्यता की पुष्टि ईश्वरकृष्ण के वचन से भी होती है।[5] गोपीनाथ कविराज ने

----

१. आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः। (सां. सूत्र ५/३२)।
अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः। (वही, ६/६८)।

२. लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दाचार्यः। (वही, ६/६९)।

३. H. I. P., Vol. I, p. 221.

४. महाभा. १२/२१८/१०, भाग. १/३/१०, योगभा. १/२५.

५. सांख्यका. ७०.

आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।[१] परन्तु डॉ० कीथ आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते।[२] डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि यदि आसुरि शतपथ-ब्राह्मण के आसुरि से अभिन्न हों तो उनका समय ६०० ई० पूर्व माना जा सकता है।[३] किन्तु डॉ० गार्वे का मत है कि यदि आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति मान भी लिया जाये तो भी उन्हें शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न मानना होगा।[४]

आसुरि की ऐतिहासिकता तथा उनकी शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से अभिन्नता में सुवर्णसप्ततिशास्त्र,[५] माठरवृत्ति[६] तथा जयमङ्गला[७] के वाक्य प्रमाण हैं। इन तीनों ग्रन्थों में सांख्य दार्शनिक आसुरि के गृहस्थाश्रम से संन्यास लेने का वर्णन मिलता है, इनमें तथा शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित वर्णनों में पर्याप्त साम्य है। इन वर्णनों में आसुरि को सहस्रयाजी गृहस्थ ब्राह्मण बताया गया है। अतः इन ग्रन्थों में उल्लिखित आसुरि एक ही व्यक्ति थे। युक्तिदीपिका में भी आसुरि का उल्लेख है, युक्तिदीपिकाकार ने आसुरि के वैराग्य को प्राकृतिक बताते हुए लिखा है कि परमर्षि की कृपा से आसुरि के धर्म का शुद्ध स्रोत निकला जिससे अनुगृहीत होनेपर दुःखभय से पीड़ित होकर उसकी निवृत्ति के उपायों को जानने की इच्छा हुई फलतः उन्होंने प्रव्रज्या ले ली।[८]

आसुरि की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। जैन आचार्य गुणरत्न सूरि ने आसुरि के नाम से यह श्लोक उद्धृत किया है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥ (तर्कर० ४१)।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल जल में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार असङ्ग अर्थात् शुद्ध चिद्रूप पुरुषमें बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है। उस समय बुद्धि का जो दृक् रूप में परिणाम होता है वही पुरुष का भोग है। यही सिद्धान्त सांख्य-सूत्र २/३५ तथा सांख्यकारिका ३७ में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में उल्लिखित आसुरि ब्रह्मवादी सांख्य के पोषक हैं और ब्रह्म को परम-तत्त्व स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार जीव का

---

१. जयम. (भूमिका), पृष्ठ ३.
२. सां. सि., पृष्ठ ४९.
३. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५३.
४. सां. यो. पृष्ठ २–३.
५. सुवर्ण., पृष्ठ १.
६. मा. १, ७०.
७. जय. ७०.
८. युक्ति. ४२.

स्वातन्त्र्य सापेक्ष है, यह निष्कर्ष राधाकृष्णन् ने महाभारत में उपलब्ध आसुरि के सिद्धान्तों से निकाला है।[1]

पञ्चशिख

सांख्य-दर्शन के इतिहास में पञ्चशिख का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये आसुरि के शिष्य थे और इन्होंने आसुरि से प्राप्त ज्ञान को विस्तृत किया था।[2] माठरवृत्ति[3] और युक्तिदीपिका[4] में इसी बात को और भी स्पष्ट किया गया है कि पञ्चशिख ने आसुरि से प्राप्त सांख्य-शास्त्र के ज्ञान अर्थात् उसके साठ पदार्थों को साठ खण्डों में विस्तृत कर जनक, वसिष्ठ आदि कई शिष्यों को उपदेश दिया।

गार्बे के अनुसार पञ्चशिख का समय प्रथम शताब्दी ई० होना चाहिए।[5] योगभाष्यकार व्यास ने योगभाष्य में पञ्चशिख के वाक्य उद्धृत किये हैं, किन्तु उनका नामोल्लेख नहीं किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में उन्हीं उद्धरणों को पञ्चशिख के नामसहित उद्धृत किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि योगभाष्यकार व्यास के समय चतुर्थ शताब्दी तक पञ्चशिख की रचनायें प्रचलित रही होंगी। भावागणेश ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि पञ्चशिख ने तत्त्वसमाससूत्र पर कोई व्याख्या लिखी थी।[6]

महाभारत के अनुसार पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[7] इनकी आयु अत्यन्त दीर्घ थी, इन्होंने एक सहस्र वर्ष तक मानस-यज्ञ किया था और ये ऊहापोह या तर्क-धर्म में निष्णात पञ्चरात्र-विशेषज्ञ, पञ्चज्ञ, पञ्चकृत और पञ्चगुण युक्त थे। इनकी माता कपिला नाम की ब्राह्मणी थीं। इन्हें नैष्ठकी बुद्धि प्राप्त थी तथा इनकी सर्वज्ञता अनुत्तम थी।[8] ये जनक के गुरु थे तथा तत्त्वोपदेश के लिए जनक के दरबार में बुलाये जाते थे। महाभारत के शान्ति-पर्व में पञ्चशिख और जनक का संवाद वर्णित है।[9] चीन देश की परम्परा के अनुसार पञ्चशिख ने षष्टितन्त्र की रचना की थी। षष्टितन्त्र पर विचार करते

---

१. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५१. २. सांख्यका. ७०.

३. पञ्चशिखेन तेन बहुधाकृतं तन्त्रम्। बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम्। (माठ. ७०)।

४. बहुधाकृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति, तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः तथा बहुभ्यो जनक वसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्॥ (युक्ति. ७०)।

५. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २२४. ६. तत्त्वया. मङ्ग. ३. ७. महाभारत १२/३२०/२४.

८. महाभारत १२/२१८/१०–१२, १५–१७. ९. वही, १२/२१८–१९.

समय हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना नहीं प्रत्युत इसका विस्तार और प्रचार किया था। ई० एफ्० हाल ने सांख्यसार की भूमिका में लिखा है कि स्वप्नेश्वर ने अपनी 'कौमुदी-प्रभा' नामक कृति में 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' को पञ्चशिख कृत माना है और यह बताया है कि सांख्य-शास्त्र का प्रवर्तन कपिल के द्वारा होने के कारण यह सूत्र कपिल की कृति मान लिये जाते हैं।[१]

यद्यपि आसुरि की ही भाँति आचार्य पञ्चशिख का भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि उनके सिद्धान्त सांख्य-योग के प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं। सर्वाधिक उद्धरण योगभाष्य में प्राप्त होते हैं।[२] किन्तु इन वाक्यों को उद्धृत करते समय व्यास ने पञ्चशिख का नामोल्लेख नहीं किया है। वाचस्पति मिश्र[३] ने इन्हीं वाक्यों को पञ्चशिख का वचन कहकर उद्धृत किया है और सम्भवतः उनके लेख के आधार पर ही विज्ञानभिक्षु तथा अन्य परवर्ती टीकाकारों ने भी इन वाक्यों को पञ्चशिख की रचना माना है। सांख्य-सूत्र में भी दो सूत्र पञ्चशिख के नाम से उद्धृत मिलते हैं।[४] विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य-सूत्र १/२७ के भाष्य में पञ्चशिख का मत उद्धृत किया है। पञ्चशिख का एक अन्य वाक्य माठरवृत्ति,[५] गौडपादभाष्य,[६] हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन-समुच्चय की गुणरत्नकृत व्याख्या[७] तथा तत्त्वयाथार्थ्यदीपन टीका[८] में उद्धृत है। इसके अतिरिक्त भावागणेश ने तीन और वाक्य पञ्चशिख के नाम से उद्धृत किये हैं।[९] इन सभी उद्धरणों तथा महाभारत में उपलब्ध पञ्चशिख के उपदेशों से ज्ञात होता है कि वे ब्रह्म को परमतत्त्व तथा प्रकृति और पुरुष की स्वतन्त्रता को सापेक्ष मानते थे। डॉ० राधाकृष्णन् भी महाभारत में प्राप्त होनेवाले पञ्चशिख के उपदेशों के अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[१०]

धर्मध्वज जनक

महाभारत के शान्तिपर्व में धर्मध्वज जनक का उल्लेख है।[११] वहीं वसिष्ठ के साथ संवाद में इन्हें करालजनक[१२] तथा याज्ञवल्क्य के साथ संवाद में

---

१. सां. सा. (भूमिका), पृष्ठ ८.
२. योगभा. १/४, २५, ३६, २/६, १३, १५, १७–१८, २०, २२, २५, ३/१३–१४.
३. भामती २/२/१०. ४. सां. सूत्र ५/३२, ६/६८. ५. माठ. २२.
६. गौड. १. ७. तर्कर. ४. ८. तत्त्वया. ३
९. तत्त्वया. ७–९, २१–२२. १०. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५१.
११. महाभारत १२/२१९–३१, १२/३२०/४. १२. महाभारत १२/३०२/७.

दैवरातिजनक[1] कहा गया है। युक्तिदीपिका में जनक को पञ्चशिख का साक्षात् शिष्य बताया गया है।[2] महाभारत में वर्णित धर्मध्वज जनक तथा युक्तिदीपिका में वर्णित जनक एक ही व्यक्ति है क्योंकि उन्होंने अपने गुरु सांख्याचार्यों में परम ज्ञानी पञ्चशिख से त्रिविध मोक्ष का ज्ञान प्राप्त होने की बात स्वीकार की है।[3] प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र इनका समय रामायण-काल को स्वीकार करते हैं।[4]

वसिष्ठ

युक्तिदीपिका में पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में जनक के साथ वसिष्ठ का नाम भी आया है।[5] महाभारत के शान्तिपर्व में ३०२ से ३०८ अध्याय तक वसिष्ठ और करालजनक का संवाद वर्णित है। इस संवाद में सांख्य-सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन है।

याज्ञवल्क्य

महाभारत के शान्तिपर्व में याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक का संवाद उपलब्ध होता है जिसमें दैवरातिजनक के प्रकृति इत्यादि विषयक प्रश्न के उत्तर में दिये गये ज्ञान को याज्ञवल्क्य ने योग और विशेषतः सांख्य का ज्ञान बताया है। पं० उदयवीर शास्त्री[6] तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र[7] का मत है कि ये याज्ञवल्क्य शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी-संहिता तथा शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इनके द्वारा दिया गया उपदेश सांख्य-दर्शन के साथ पर्याप्त सामञ्जस्य रखता है। उसमें उपदेशों में आठ प्रकृतियों तथा सोलह विकारों का उल्लेख है। अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये आठ प्रकृतियाँ हैं। एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत सोलह विकार हैं।[8] इनकी उत्पत्ति का क्रम भी सांख्य-दर्शन के अनुरूप वर्णित किया गया है—अव्यक्त से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से मन, इन्द्रियाँ और सूक्ष्म-भूत तथा सूक्ष्म-भूतों से पञ्च-महाभूत उत्पन्न

---

१. महाभारत १२/३१०/४.
२. युक्ति. ७०.
३. वही १२/३२०/२४–२५.
४. सां. ऐ. प. पृष्ठ १४४.
५. युक्ति. ७०.
६. सा. द. इ., पृष्ठ ४९३–४९४.
७. सां. ऐ. प., पृष्ठ १४९.
८. महाभारत १२/३१०/१०–१५.

होते हैं।[1] त्रिगुणात्मक जगत् प्रकृति का परिणाम है। शान्तिपर्व के ३१३वें अध्याय में तीनों गुणों के स्वरूप का विवेचन है।

वोढु आदि सांख्याचार्य

वोढु, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सहदेव, प्लुति, पुलह, भृगु, अङ्गिरस, मरीचि, क्रतु, दक्ष, अत्रि आदि अठारह सांख्याचार्यों के नामों की सूची कालीपद भट्टाचार्य[2] ने दी है। वोढु, सनक, सनन्दन तथा सनातन के नाम गौडपादभाष्य में भी मिलते हैं, वहाँ इन्हें ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है।[3] अन्य नाम भी पुराणों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इन आचार्यों के कोई सांख्य-सिद्धान्त नहीं प्राप्त होते। सांख्य-सूत्र (६/६९) में केवल सनन्दाचार्य के एक मत का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि पुरुष का भोक्तृत्व उसके लिङ्ग शरीर से युक्त होने के कारण सम्पन्न होता है। सनन्दाचार्य के एक अन्य मत का उल्लेख मनुस्मृति (१/५६) की कुल्लूकभट्टी व्याख्या में उपलब्ध होता है।

महाभारत में उपलब्ध होनेवाले अनेक संवादों में सांख्य-सिद्धान्त का निरूपण मिलता है। इन संवादों में पुलस्त्य, कश्यप, शुक्र, सनत्कुमार, नारद, आर्षिषेण, शुक आदि सांख्याचार्यों का उल्लेख हुआ है।

जैगीषव्य

जैगीषव्य वर्त्तमान महाभारत के समय से पर्याप्त प्राचीन सांख्याचार्य थे, यह बात महाभारत में जैगीषव्य के सम्बन्ध में उपलब्ध उल्लेखों से ज्ञात होती है।[4]

---

१. महाभारत १२/३१०/१६–२०.

२. 'Some Problems of Sāṅkhya Philosophy and Sāṅkhya Literature', p. 511, published in Indian Historical Quarterly, September, 1932.

३. सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव, वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥१॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः। (गौड. मङ्ग. १)।

४. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥
जैगीषव्यं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम्।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ (महाभारत १२/२२९/३–४)।

जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देखकर देवल ने संन्यास ग्रहण किया था[1] तथा देवल ने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था।[2] जैगीषव्य सिद्धि प्राप्त परम योगी थे यह बात योगभाष्य (३/१८) से भी ज्ञात होती है। योगसूत्र २/५५ के भाष्य की अवतारणा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने जैगीषव्य को परमर्षि कहा है और उनके मत को सूत्रकार का स्वाभिमत कहा है (तत्त्ववै० २/५५)। वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (३/२/४२) से ज्ञात होता है कि जैगीषव्य की कोई अपनी कृति थी जिसमें उन्होंने प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योग विषयों को स्पष्ट किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि योग एवं उसके साधन आदि के सम्बन्ध में जैगीषव्य का मत प्रामाणिक माना जाता था।

असित देवल

महाभारत के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि देवल महाभारत के रचनाकाल से पर्याप्त प्राचीन आचार्य थे और उनका जैगीषव्य के साथ संवाद भी हुआ था।[3] गीता में भी असित देवल का उल्लेख है।[4] उनके सांख्याचार्य होने का समर्थन नारद-देवल संवाद से होता है। देवर्षि नारद द्वारा भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में पूछे जाने पर देवल ने उसका उत्तर देते हुए प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार किया है—

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्॥ (महाभा० १२/२७५/३८)।

यह संवाद ब्रह्मवादी सांख्य का प्रतिपादन करता है। इस नारद-देवल संवाद को भीष्म ने 'पुरातन इतिहास' कहा है। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत के शान्तिपर्व से पूर्व देवल की स्थिति थी। शान्तिपर्व का रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व से बाद का नहीं हो सकता और देवल का समय इससे पर्याप्त प्राचीन होना चाहिए।

माठरवृत्ति में सांख्य-परम्परा में देवल का उल्लेख हुआ है।[5] माठरवृत्ति से ही ज्ञात होता है कि देवल और ईश्वरकृष्ण के मध्य कई आचार्य हुए थे।[6]

---

१. महाभारत ९/५०/५३–५५. २. वही १२/२२९/४. ३. महाभारत १२/२२९.
४. असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। (गीता १०/१३)।
५. कपिलादासुरिणा प्राप्तं ... ततः पञ्चशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवल-प्रभृतीनागतम्। (माठ. ७१)
६. वही।

इससे ईश्वरकृष्ण से देवल की पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है। शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य से ज्ञात होता है कि देवल का कोई धर्मसूत्र अवश्य था, जिसमें उन्होंने सांख्य-शास्त्र के प्रधान-कारणवाद एवं उसके आधारभूत सत्कार्यवाद का आश्रय लिया था तथा समर्थन किया था।[1] याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपरादित्य व्याख्या में देवल का सांख्य-योग-विषयक सन्दर्भ उद्धृत है।[2]

हारीत, वाल्मीकि, पराशर, भार्गव एवं उलूक आदि सांख्याचार्य

माठरवृत्ति में भार्गव, उलूक, वाल्मीकि एवं हारीत आदि सांख्याचार्यों के नाम मिलते हैं।[3] हारीत का नाम युक्तिदीपिका में भी प्राप्त होता है।[4] महाभारत के याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में पराशर का भी नाम उपलब्ध होता है।[5] ये सभी आचार्य महाभारत से पर्याप्त प्राचीन हैं। आज केवल इनके नाम मात्र ही अवशिष्ट हैं।

वार्षगण्य

वार्षगण्य सांख्य तथा योग के विश्रुत आचार्य हैं। इनका नाम महाभारत की सांख्याचार्यों की सूची में प्राप्त होता है (महाभा० १२/३१८/५९)। युक्तिदीपिका में भी अन्य सांख्याचार्यों के साथ वार्षगण्य का नाम प्राप्त होता है (युक्ति० ७१)। उदयवीर शास्त्री का मत है कि 'वार्षगण्य' गोत्र नाम प्रतीत होता है, सांस्कारिक नाम नहीं।[6] श्री नाथूराम प्रेमी के वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण इन दोनों नामों को एक ही व्यक्ति का नाम मानने के मत का खण्डन करते हुए उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है। ईश्वरकृष्ण का काल ई० शतक प्रारम्भ होने से कुछ पूर्व ही अनुमान किया जाता है तथा वार्षगण्य का समय पाणिनि से प्राचीन है और यह समय सम्भवतः महाभारत से पूर्व माना जा सकता है।[7] पाणिनीय अष्टाध्यायी में 'वार्षगण्य' का उल्लेख है[8] अतः वे पाणिनि से भी

---

१. ब्रह्मसूत्र शांक. १/४/२८. २. याज्ञ. अप. ३/४/१०९. ३. माठ. ७१.

४. हारीतवाद्धलिकैरातपौरिकार्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिन्यमूकादिक...। (युक्ति. ७१)।

५. जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्।
पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः॥ (महाभारत १२/३१८/५९)।

६. सां. द. इ., पृष्ठ ५०७. ७. सां. द. इ., पृष्ठ ५०७. ८. अष्टा. ४/१/१०५.

प्राचीन प्रतीत होते हैं। अतः वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता।

डॉ० ताकाकुसु का मत है कि वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु थे। अय्यास्वामी शास्त्री ने भी ताकाकुसु का ही अनुसरण किया है।[1] किन्तु ईश्वरकृष्ण तथा वार्षगण्य का व्यवधान उनके गुरु-शिष्य होने का समर्थन नहीं करता।

कुछ लोग वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का कर्ता मानते हैं, किन्तु जैसा कि ऊपर कपिल के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, यह मानना ठीक नहीं है। सम्भव है उन्होंने इसका संशोधित संस्करण तैयार किया हो। वार्षगण्य का कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके अनेक वाक्य योगभाष्य,[2] तत्त्वकौमुदी,[3] भामती[4] तथा युक्तिदीपिका[5] में उद्धृत मिलते हैं।

ईश्वरकृष्ण

ईश्वरकृष्ण कपिल द्वारा प्रतिपादित एवं आसुरि, पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्द्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे। बौद्ध भिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) ने इनकी कृति सांख्यकारिका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था और उसकी टीका भी लिखी थी। अतः उन्हें छठीं शताब्दी से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। उनका समय प्रायः कुषाणकाल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक माना जाता है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने सांख्यकारिका का समय २०० ई० माना है।[6] सांख्यकारिका का प्रतिपाद्य षष्टितन्त्र के विषयों का संक्षेप में विवेचन करना रहा है (सांख्यका० ७०)। इतना तो सांख्यकारिका नाम से ही स्पष्ट है कि यह सांख्य-दर्शन का सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं हो सकता। इसमें षष्टितन्त्र के केवल सिद्धान्तों का ग्रहण किया गया है और आख्यायिकाओं तथा पर-मत खण्डन को छोड़ दिया गया है।[7] ६८ कारिकाओं में सांख्य-सिद्धान्त को निबद्ध किया गया है। यद्यपि ये कारिकाएँ कहीं-कहीं कठिन और दुर्बोध हैं तथापि कुल मिलाकर यह ग्रन्थ बहुत स्पष्ट, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है।

विन्ध्यवास

विन्ध्यवास या रुद्रिल विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण के परवर्ती आचार्य हैं। चीनी परम्परा में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को अभिन्न व्यक्ति माना गया है।[8]

---

१. सुवर्ण. ७१ तथा पाद टि.। २. योगभा. ३/५३. ३. तत्त्वकौ. ४७.
४. भामती २/१/३. ५. युक्ति. ५, १३, १७, २२, ३२, ४०.
६. H. I. P., p. 212. ७. सांख्यका. ७२. ८. सां. सि., पृष्ठ ८४.

डॉ० ताकाकुसु ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास को अभिन्न व्यक्ति तथा सांख्यकारिका का लेखक मानते हैं ।[1] किन्तु विन्ध्यवास तथा ईश्वरकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्त में पर्याप्त वैषम्य होने के कारण उन्हें अभिन्न व्यक्ति मानना ठीक नहीं प्रतीत होता । विन्ध्यवास के वाक्य मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य,[2] श्लोकवार्त्तिक,[3] युक्तिदीपिका,[4] भोजवृत्ति,[5] स्याद्वादमञ्जरी की हेमचन्द्र कृत टीका[6] तथा तर्करहस्य दीपिका[7] में उद्धृत मिलते हैं ।

अन्य प्राचीन आचार्य

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में पौरिक,[8] पञ्चाधिकरण,[9] एवं पतञ्जलि[10] आदि प्राचीन सांख्याचार्यों के वाक्य उद्धृत मिलते हैं । इनके अतिरिक्त वाद्धलि, कैरात, ऋषभेश्वर, कौण्डिन्य एवं मूक आदि आचार्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं (युक्ति० ७१) ।

सांख्यकारिका के टीकाकार

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका संक्षिप्त एवं सारगर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुई कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं जिनमें सुवर्णसप्ततिशास्त्र, माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, तत्त्वकौमुदी इत्यादि प्राचीन एवं नारायणतीर्थ कृत सांख्यचन्द्रिका आदि अर्वाचीन टीकाएँ हैं ।

सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार

सुवर्णसप्ततिशास्त्र सांख्यकारिका की सबसे प्राचीन टीका मानी जाती है । इसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्धभिक्षु परमार्थ ने सन् ५५७ से ५६६ ई० के मध्य चीनी भाषा में किया था । लोकमान्य तिलक सुवर्णसप्ततिशास्त्र का उपजीव्य गौडपादभाष्य को मानते हैं तथा वेल्वल्कर[11] तथा उदयवीर शास्त्री[12] माठरवृत्ति को । प्रो० कीथ[13] तथा पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री[14] परमार्थकृत

---

१. सुवर्ण. भूमिका, पृष्ठ ३४. २. मेधा. १/५५. ३. श्लो. वा. ५/६२.
४. युक्ति. २२. ५. भोज. ४/२२. ६. स्याद्. हेम. १५.
७. तर्क. ४१. ८. युक्ति. ५६.
९. युक्ति. २२, ३२, अव., ३९. १०. वही ३, २२, ३२.
११. सुवर्ण. भूमिका, पृष्ठ १०. १२. सां. द. इ., पृष्ठ ४६७.
१३. सां. सि., पृष्ठ ८५, पाद टि. ।
१४. एस्. सूर्यनारायण शास्त्री, सांख्यका. (अनु.) भूमिका, पृष्ठ ३८.

चीनी अनुवाद को माठरवृत्ति पर आधारित नहीं मानते अपितु दोनों के एक स्रोत से निःसृत होने की कल्पना करते हैं। अय्यास्वामी शास्त्री का मत है कि परमार्थ के चीनी अनुवाद का मूल न तो गौडपादभाष्य है और न माठरवृत्ति प्रत्युत यह अनुयोगद्वार सूत्र में उल्लिखित माठर तथा षड्दर्शनसमुच्चय की तर्क-रहस्य-दीपिका व्याख्या में वर्णित 'माठरभाष्य' पर आधारित है।[१]

माठरवृत्तिकार

माठरवृत्ति के समय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। पं० अय्यास्वामी शास्त्री,[२] डॉ० जानसन[३] तथा डॉ० उमेश मिश्र[४] माठरवृत्ति का समय १००० ई० के पश्चात् मानते हैं। पं० उदयवीर शास्त्री 'माठरवृत्ति' को सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्राचीन टीका मानते हैं तथा इसे परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका से अभिन्न मानते हैं।[५] उनका मत है कि इसीलिए गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की तर्करहस्यदीपिका टीका में 'माठरभाष्य' शब्द का प्रयोग किया है।[६] माठरवृत्ति युक्तिदीपिका से भी प्राचीन टीका है। युक्तिदीपिका में अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का वर्णन या खण्डन किया गया है जो माठरवृत्ति में उपलब्ध होते हैं। माठरवृत्ति में अर्थ सम्बन्धी मतभेदों का अभाव होने से भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। उदयवीर शास्त्री माठरवृत्ति का समय ईसवी सन् का प्रारम्भ मानते हैं।[७]

युक्तिदीपिकाकार

युक्तिदीपिका में माठर के मतों का उल्लेख, अनुकरण एवं खण्डन[८] तथा जयमङ्गला[९] टीका में युक्तिदीपिका के मतों का उल्लेख प्राप्त होने से युक्तिदीपिका की माठरवृत्ति से परवर्तिता तथा जयमङ्गला से पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है। सांख्य-दर्शन में युक्तिदीपिका का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् है। इसके रचयिता ने सांख्य के विकास की अनेक टूटी कड़ियों को प्रस्तुत किया

---

१. सुवर्ण. (भूमिका), पृष्ठ ३८. २. सुवर्ण. (भूमिका), पृष्ठ १०.

३. E. S., p. 11.

४. 'Gauḍapāda-bhāṣya and Māṭhara-vṛtti', paper read at 6th A. I. O. Conference.

५. सां. द. इ., पृष्ठ ४२३. ६. सां. द. इ., पृष्ठ ४१९. ७. वही, पृष्ठ ४७३.

८. युक्ति. ३८, ४३. ९. जयम. १५.

है! वार्षगण्य, पतञ्जलि, पौरिक, पञ्चाधिकरण, विन्ध्यवासी इत्यादि के विस्मृतप्राय मतों का उल्लेख युक्तिदीपिका में मिलता है।

युक्तिदीपिका के रचयिता का नाम अज्ञात है। युक्तिदीपिका (कलकत्ता संस्करण) की पुष्पिका में इसे वाचस्पति-कृत कहा गया है किन्तु ग्रन्थ के सम्पादक ने इसके आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। मुखबन्ध में भी इसके वाचस्पतिकृत न होने की ही पुष्टि की गयी है। वाचस्पति ने सांख्यकारिका पर तत्त्वकौमुदी नाम की टीका लिखी है। जयमङ्गला में युक्तिदीपिका उद्धृत है[1] तथा तत्त्वकौमुदी[2] में जयमङ्गला के उद्धरण प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कई शताब्दियों पूर्व रची गयी युक्तिदीपिका वाचस्पति की रचना नहीं हो सकती। जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी के प्रत्यक्ष-लक्षण के प्रसंग में ईश्वरकृष्ण के 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' का उल्लेख किया है तथा उसमें अतिव्याप्ति दोष की शङ्का कर के 'राजा' नामक किसी टीकाकार का समाधान प्रस्तुत किया है[3] और यह समाधान युक्तिदीपिका में ही प्राप्त होता है। तत्त्वसमाससूत्र की सर्वोपकारिणी टीका में 'तथा च राजवार्तिकम्' कह कर सांख्य के दस मौलिकार्थों का वर्णन किया गया है।[4] इसी ग्रन्थ की सांख्य-सूत्र-विवरण नामक टीका में 'तदुक्तम्' कह कर युक्तिदीपिका के मङ्गलाचरण के दसवें तथा ग्यारहवें श्लोक के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया गया है।[5] प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद ने तत्त्वसमाससूत्र की किसी 'कापिलसूत्रविवरण' नामक टीका में किन्हीं 'माधव परिव्राजक' द्वारा 'भोजराजवार्तिकेऽप्युक्तम्' कह कर युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों में से दसवाँ पूरा तथा ग्यारहवें के प्रथमार्द्ध के उद्धृत किये जाने की बात कही है।[6] यदि उपर्युक्त 'माधव परिव्राजक' की सूचना सही हो तो युक्तिदीपिका को किन्हीं भोजराज की कृति होना चाहिए। वाचस्पति मिश्र ने युक्तिदीपिका के मङ्गलाचरण के तीन श्लोकों को 'तथा च राजवार्तिकम्' शब्दों के साथ उद्धृत किया है।[7] इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि युक्तिदीपिका किसी राजा की रचना थी। युक्तिदीपिकाकार ने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र कारिकाओं को सूत्रपद से व्यवहृत किया है, अतः सम्भव है कि इसी आधार पर तात्कालिक विद्वानों ने

---

१. जयम. १५.
२. तत्त्वकौ. ११, २०, ३०, ४४, ५१.
३. न्यायम. द्वितीय आह्निक, पृष्ठ १००.
४. सर्वोप. १७.
५. सां. सू. वि., पृष्ठ ७१.
६. सां. द. ऐ. प., पृष्ठ २६२.
७. तत्त्वकौ. ७२.

सूत्रार्थ को उस रूप में विशद करनेवाले इस ग्रन्थ का नाम वार्तिक रख दिया हो और इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया हो एवं इसका 'राजवार्तिक' नाम व्यवहार में आता रहा हो।

वाचस्पति मिश्र का समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, अतः युक्तिदीपिका का समय इससे पहले होना चाहिए।[1] युक्तिदीपिका में न्यायवार्तिक, श्लोकवार्तिक और वाक्यपदीय आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के उद्धरण नहीं हैं जब कि शबर, दिङ्नाग[2] तथा वसुबन्धु के उद्धरण प्राप्त होते हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि युक्तिदीपिकाकार पञ्चम शताब्दी ई० के आस-पास हुए होंगे। डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय का मत है कि युक्तिदीपिका की रचना दिङ्नाग के पश्चात् तथा वाचस्पति मिश्र से पूर्व हुई होगी।[3]

आचार्य गौडपाद

गौडपादभाष्य भी सांख्यकारिका की प्राचीन टीका है। उदयवीर शास्त्री इसे माठरवृत्ति की छायामात्र मानते हैं[4] और इसका समय ५५० ई० निर्द्धारित करते हैं।[5] कालीपद भट्टाचार्य गौडपाद का समय ७वीं शताब्दी मानते हैं।[6] लोकमान्य तिलक का मत है कि गौडपादभाष्य प्रसिद्ध गौडपाद (शङ्कराचार्य के परमगुरु) की ही कृति है।[7] किन्तु उदयवीर शास्त्री इस भाष्य के कर्ता गौडपाद को आचार्य शङ्कर के परमगुरु एवं माण्डूक्यकारिका के रचयिता गौडपादाचार्य से भिन्न समझते हैं। इस मान्यता का कारण देते हुए वे कहते हैं कि गौडपादभाष्य की शैली और उसका प्रतिपाद्य विषय आदि प्रसिद्ध गौडपाद की गुरु, गम्भीर, अत्यन्त संक्षिप्त शैली तथा गम्भीर दार्शनिक विवेचन से भिन्न है।[8] प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र का मत है कि शास्त्रीजी का मत सत्य हो सकता है, किन्तु उनका यह तर्क निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। गौडपादभाष्य की भी व्याख्या-शैली इतनी संक्षेपात्मक है कि उसे गौडपादकृत माना जा सकता है। जहाँ तक इसके तथा प्रसिद्ध गौडपादाचार्य के विचारों के

---

१. सां. द. इ., पृष्ठ ४०५. २. युक्ति. १७. ३. युक्ति. (भूमिका), पृष्ठ १८.
४. सां. द. इ., पृष्ठ ४०५. ५. सां. द. इ., पृष्ठ ४७३.
६. 'Some Problems of Sāṅkhya Philosophy and Sāṅkhya Literature', p. 509, published in Indian Historical Quarterly, September, 1932.
७. गीता-रहस्य, पृष्ठ १५३. ८. सां. द. इ., पृष्ठ ४०५.

वैषम्य का प्रश्न है, उसका समाधान यह हो सकता है कि अनेक प्राचीन आचार्यों ने अपने मत से भिन्न मतों के ग्रन्थों की टीकायें लिखी हैं।[1]

जयमङ्गलाकार

जयमङ्गलाकार गौडपाद से अर्वाचीन हैं क्योंकि ये कहीं-कहीं गौडपादभाष्य उद्धृत करते प्रतीत होते हैं।[2] वाचस्पति मिश्र तत्त्वकौमुदी में जयमङ्गला का कई स्थल पर उपयोग करते हैं।[3] अतः वाचस्पति मिश्र से पूर्व जयमङ्गलाकार का समय ७०० ई० के पश्चात् रहा होगा। जयमङ्गला की अन्तिम पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम शङ्कर तथा उनके गुरु का नाम गोविन्द दिया गया है,[4] जो प्रसिद्ध शङ्कराचार्य के अनुरूप है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे शङ्कराचार्य की रचना मानते हैं। पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि यह पुष्पिका प्रक्षिप्त है तथा इस टीका को शङ्कराचार्यकृत नहीं माना जा सकता। इसका कर्त्ता शङ्करार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था।[5] पं० उदयवीर शास्त्री[6] तथा प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र[7] ने जयमङ्गला का कर्त्ता शङ्कर को माना है किन्तु वे इन शङ्कर को प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शङ्कराचार्य से भिन्न मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र का समय 'न्याय-सूची-निबन्ध' के उपसंहारात्मक श्लोक में ८९८ संवत्सर दिया गया है जिसे विक्रम संवत् मानने पर इनका समय ८४१ ई० सिद्ध होता है। इनका जन्म मिथिला में हुआ था तथा ये 'द्वादशदर्शनटीकाकार' कहे जाते हैं। सांख्यकारिका पर लिखित इनकी तत्त्वकौमुदी टीका अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। सर्वाङ्गपूर्ण होने के कारण विद्वानों ने इसे सांख्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना है। डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र की धारणा है कि अद्वैत वेदान्त के पोषक होने के कारण सांख्यकारिका से उनका अनेक स्थलों पर स्पष्ट मतभेद रहा होगा किन्तु उन्होंने उसकी टीका लिखते समय अपने सिद्धान्त का

----

१. सा. द. ऐ. प., पृष्ठ २६६–२६७. २. जयम. २३.

३. तत्त्वकौ. ११, २२, ३०, ४४, ५१.

४. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण श्रीशङ्करभगवता कृता सांख्यसप्ततिटीका समाप्ता। (जयम. अन्तिम पुष्पिका)।

५. जयम. (भूमिका), पृष्ठ ८–९. ६. सां. द. इ., पृष्ठ ३६४.

७. सां. द. ऐ. प., पृष्ठ २८४–८५.

मोह छोड़कर प्रतिपाद्य विषय की बड़ी ईमानदारी के साथ व्याख्या की है।[१] डॉ० उमेश मिश्र का मत है कि 'वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या को न्याय-भूमि की दृष्टि से लिखा है। इन्होंने सांख्य के तत्त्वों के समान ही मान कर न्याय-दर्शन की प्रक्रिया के अनुसार सांख्य के बौद्धिक (अर्थात् बुद्धि-तत्त्व से निकले हुए) तत्त्वों का विचार किया है। अतएव सांख्य-दर्शन के रहस्य को प्रतिपादित करने में यह टीका सफल नहीं है।'[२] इस कथन में सत्यता अवश्य है किन्तु इससे तत्त्वकौमुदी का महत्त्व कम नहीं होता। किसी ग्रन्थ का टीका में जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिए वैसा ही शास्त्रीय विवेचन तत्त्व-कौमुदी में प्राप्त होता है।

अनिरुद्ध

सांख्य-प्रवचन-सूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका अनिरुद्धकृत 'सांख्यसूत्र-वृत्ति' है। महादेव वेदान्ती ने अपनी टीका वृत्तिसार के प्रारम्भ में लिखा है कि उन्होंने अपनी टीका अनिरुद्धवृत्ति का अध्ययन करके तथा उसके सिद्धान्तों को समझकर लिखी है।[3] यद्यपि विज्ञानभिक्षु अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में अनिरुद्ध का उल्लेख नहीं करते तथापि अनेक स्थलों पर वे अनिरुद्ध का खण्डन करते हैं।[४] अतः इन आधारों पर महादेव वेदान्ती तथा विज्ञानभिक्षु से उनकी पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है। विज्ञानभिक्षु का समय सोलहवीं शताब्दी ई० है इसलिए अनिरुद्ध को पन्द्रहवीं शताब्दी में रखा जा सकता है। पं० उदयवीर शास्त्री अनिरुद्ध का समय ग्यारहवीं शताब्दी ई० मानते हैं।[५] प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र ने उदयवीर शास्त्री के मत का खण्डन किया है तथा विज्ञानभिक्षु के काल के आधार पर अनिरुद्ध का समय पन्द्रहवीं शताब्दी माना है।[६] डॉ० राधाकृष्णन् भी अनिरुद्ध का समय पन्द्रहवीं शताब्दी मानते हैं।[७] किन्तु डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अनिरुद्ध का काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार करते हैं।[८] सांख्य-प्रवचन-सूत्रों के महान् व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु हैं जिनकी चर्चा बाद में

---

१. सां. तत्त्वकौ. प्रभा., पृष्ठ ३६.   २. सां. यो. द., पृष्ठ १५.

३. दृष्ट्वाऽनिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा साङ्ख्यीयसिद्धान्तम्।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्तादिर्महादेवः॥ (सां. सू. वृ. सा. मंग. १)।

४. सां. प्र. भा. १/६१.   ५. सां. द. इ., पृष्ठ ३१२.

६. सा. द. ऐ. प., पृष्ठ ३१३.   ७. भा. द. खण्ड २, पृष्ठ २५५.

८. H. I. P., Vol. 1, p, 212.

की जायेगी। इनके अतिरिक्त सांख्य-सूत्र के एक अन्य व्याख्याकार महादेव वेदान्ती हैं। तत्त्वसमाससूत्रों की छः व्याख्यायें सांख्यतत्त्व-विवेचन, तत्त्वयाथार्थ्य-दीपन, सर्वोपकारिणी टीका, सांख्यसूत्रविवरण, तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति—क्रमदीपिका तथा तत्त्वसमासवृत्ति उपलब्ध हैं। इनमें से सर्वोपकारिणी टीका, सांख्यसूत्र-विवरण तथा तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति—क्रमदीपिका प्राचीन टीकायें प्रतीत होती हैं किन्तु इनके रचयिताओं का नाम अज्ञात है। प्राचीन टीकाओं के अतिरिक्त नारायण तीर्थकृत सांख्यचन्द्रिका सांख्यकारिका की अर्वाचीन टीका है। सांख्यचन्द्रिका का समय सत्रहवीं शताब्दी है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हरिहरानन्द आरण्य ने 'सांख्यतत्त्वालोक' नामक एक स्वतन्त्र सांख्य-ग्रन्थ की रचना की।

सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण

सांख्य-दर्शन द्वैत मत का प्रतिपादक है। इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं। इन्हींके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। इनमें प्रकृति अचेतन और एक है किन्तु पुरुष चेतन और अनेक है। सांख्य-दर्शन सत्कार्यवाद का समर्थक है जिसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[1] इन गुणों में अङ्गाङ्गिभाव होनेपर ही सृष्टि होती है किन्तु यह सृष्टि कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है वरन् कारण में अन्तर्निहित सम्भावनाओं की कार्यरूप में उद्भूति मात्र है। प्रकृति में जगत् के समस्त पदार्थों की अव्यक्त रूप में सत्ता रहती है इसीलिए इसका नाम अव्यक्त है।[2]

सांख्य-दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये तीन प्रकार के दुःख हैं। इन दुखों का कारण अविद्या है। यद्यपि पुरुष अपने मूल रूप में शुद्ध चैतन्य मात्र है, वह निर्गुण एवं जगत् का निरपेक्ष साक्षी मात्र है, किन्तु प्रकृति के संयोग से अविद्यावश वह अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने को कर्त्ता समझने लगता है। फलतः उसे जन्म-जन्मान्तर में दुःखरूप कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इस जन्म-परम्परा का नैरन्तर्य ही पुरुष का बन्धन है एवं इससे छुटकारा ही उसका मोक्ष है।

---

१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां. प्र. भा. १/६१)।

२. सांख्यका. १६.

यह बन्धन और दुःख अविद्याजन्य है, अतः विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही कैवल्य सम्भव है। सांख्य के अनुसार पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही ज्ञान है। पुरुष का वास्तविक स्वरूप, विशुद्ध, राग-क्रियाहीन चैतन्य तथा साक्षीमात्र है, कर्त्ता आदि नहीं। जब वह अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप से परिचित हो जाता है तो उसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है। अहङ्कार नष्ट हो जाने के कारण वह अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता। कर्तृत्व-भावना के नष्ट हो जाने से वह जन्म-जन्मान्तर में कर्म-फल का भागी नहीं बनता। इस प्रकार जब पुरुष को अपने शुद्ध साक्षी तथा चैतन्य स्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है तो वह कर्म तथा जन्म-परम्परा के चक्र से मुक्त हो जाता है। जन्म-क्रम ही पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण है अतः उससे मुक्त होकर वह इन दुःखों से भी मुक्त हो जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही मोक्ष अवस्था सांख्य में कैवल्य कहलाती है। मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के परिणामस्वरूप यह शरीर रहता है, सांख्य-दर्शन में इस स्थिति को जीवनन्मुक्ति कहा गया है। प्रारब्ध कर्मों के भोग के पश्चात् शरीर-पात होने पर विदेह-मुक्ति होती है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का व्यक्तित्व और कृतित्व

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने विपुल ग्रन्थराशि की रचना की तथापि हमें उनके व्यक्तित्व, जन्म-स्थान, निवास-स्थान, माता-पिता तथा गुरु के विषय में कोई स्पष्ट सङ्केत नहीं मिलता। उनकी कृतियों का गम्भीर अध्ययन करने पर उनके व्यक्तित्व का अस्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है, उसी के आधार पर उनका परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

डॉ० कीथ,[१] एफ्० ई० हाल,[२] रिचर्ड गार्बे,[३] प्रो० एम्० विंटरनित्ज़[४] डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[५] एवं डॉ० राधाकृष्णन्[६] ने आचार्य विज्ञानभिक्षु का समय सोलहवीं शताब्दी माना है।

---

१. सां. सि. पृष्ठ ११२, डॉ. कीथ ने अपने एक अन्य ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ ५७९) में विज्ञानभिक्षु का समय १६५० ई० माना है।

२. सां. सा. (भूमिका), पृष्ठ ३७.

३. सां. सू. वृ. (भूमिका), पृष्ठ ८.

४. Indian Literature, p. 457.

५. H. I. P., Vol. I, p. 221.

६. भा. द. खण्ड २, पृष्ठ २५५.

डॉ० पी० के० गोडे ने अपने लेख[1] में बताया है कि विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश के द्वारा हस्ताक्षरित एक निर्णयपत्र प्राप्त हुआ है जिसके आधार पर विज्ञानभिक्षु और भावागणेश दोनों का काल-निर्धारण सोलहवीं शताब्दी में किया जा सकता है। यह निर्णयपत्र वाराणसी में 'मुक्ति-मण्डप' में लिखा गया था और इसका समय शक संवत् १५०५ (१५८३ ई०)[2] है। इसमें तात्कालिक वाराणसी के ब्राह्मण-वर्ग के प्रमुखों की सम्मति और उनके हस्ताक्षर हैं। इसमें भावागणेश की सम्मति और हस्ताक्षर इस प्रकार हैं— 'तत्र सम्मतिः। भावये गणेशदीक्षित प्रमुख चिपोलणे।' डॉ० पी० के० गोडे ने तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के रचयिता गणेश दीक्षित[3]—जिनकी माता का नाम उमा तथा पिता का नाम गोविन्द था—तथा भावागणेश दीक्षित—जिनके पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी था—दोनों के एक ही व्यक्ति के होने की सम्भावना व्यक्त की है।[4] उनका मत है कि इस मान्यता से निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले भावागणेश दीक्षित के विज्ञानभिक्षु के शिष्य होने की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि उन दो-तीन शताब्दियों में गणेश दीक्षित नामक कोई अन्य व्यक्ति नहीं हुआ। पं० उदयवीर शास्त्री[5] ने डॉ० पी० के० गोडे का खण्डन कर भावागणेश का समय चौदहवीं शताब्दी निर्धारित किया है। उनके अनुसार विश्वनाथ और गोविन्द तथा उमा एवं भवानी एक नहीं हो सकते इसलिए भावागणेश और तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेश दीक्षित एक व्यक्ति नहीं हो सकते। भावागणेश ने अपने नाम के साथ दीक्षित पद का प्रयोग नहीं किया है। अतः आफ्रेक्ट का भावागणेश के साथ दीक्षित

---

१. The Chronology of Vijñānabhikṣu and his Disciple Bhāvagaṇeśa, The Leader of Citapāvana Brāhmaṇas of Banaras, Published in Brahmavidyā : Adyar Library Bulletin, Vol. 8, 1944.

२. Ibid., p. 24.

३. आफ्रेक्ट ने नामसादृश्यजन्य भ्रम से इस ग्रन्थ की भी भावागणेश की ग्रन्थसूची में गणना की है। सीसी. १/१४४.
'भावागणेश', 'भावाविश्वनाथ दीक्षित' के पुत्र, 'भावारामकृष्ण' के पौत्र तथा 'विज्ञानभिक्षु' के शिष्य थे। (वही, पृष्ठ २०)।

४. क्या हम विश्वनाथ की गोविन्द से तथा भवानी की उमा से तुलना कर सकते हैं? (वही, पृष्ठ २१ की पाद टि. २)।

५. सां. द. इ. पृष्ठ २९३–९८.

पद का प्रयोग करना भ्रान्तिमूलक है। 'भावा' एवं 'भावये' पद भिन्न-भिन्न हैं इसलिए निर्णयपत्र पर हस्ताक्षरवाले 'भावये गणेशदीक्षित' विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश से भिन्न हैं। विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध एवं महादेव वेदान्ती के परवर्ती तथा अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि के रचयिता सदानन्द यति के पूर्ववर्ती हैं। सदानन्द यति ने विज्ञानभिक्षु का नामोल्लेख सहित खण्डन किया है।[1] डॉ० ए० बी० कीथ ने सदानन्द यति का समय १५०० ई० से कुछ पूर्व स्वीकृत किया है।[2] अतः पं० उदयवीर शास्त्री का निष्कर्ष है कि विज्ञानभिक्षु का समय चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता, इनका समय १३५० ई० माना जा सकता है।[3]

डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव[4] उदयवीर शास्त्री के इस मत से तो सहमत हैं कि तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेश दीक्षित एवं विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश एक व्यक्ति नहीं हैं। किन्तु वे गोडे महोदय की इस धारणा को भी ठीक मानते हैं कि उपर्युक्त निर्णयपत्र पर विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने ही हस्ताक्षर किये थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में उदयवीर शास्त्री के अन्य सभी मतों का खण्डन किया है। शास्त्रीजी का यह कथन उन्हें मान्य नहीं है कि भावागणेश ने अपने नाम के साथ कहीं दीक्षित पद का प्रयोग नहीं किया है। भावागणेश ने 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' टीका की समाप्ति करते हुए पुष्पिका में अपने पिता का नामोल्लेख 'विश्वनाथ दीक्षित'—इस रूप में किया है। अतः भावागणेश का दीक्षित होना सिद्ध है।[5] डॉ० श्रीवास्तव की दृष्टि में भावा और भावये शब्द भिन्न-भिन्न नहीं हैं। उनका मत है कि संस्कृत भाषा में प्रयोक्तव्य रूप भावा ही था इसलिए संस्कृत लिखने के समय भावागणेश अपने को 'भावा' लिखते रहे होंगे किन्तु निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर करते समय उन्होंने दैनिक व्यवहार में अन्य लोगों द्वारा उच्चरित होनेवाले 'भावये' पद का प्रयोग किया होगा। उस निर्णय-पत्र में हस्ताक्षर करनेवाले 'बखले कृष्णभट्ट प्रमुख कल्हणे' इत्यादि प्रमुख लोगों ने भी व्यवहार में प्रचलित नाम ही लिखे हैं उनके संस्कृत रूप नहीं। डॉ०

---

१. यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्। (अ. ब्र. सि. प्रथम मुद्रा. पृष्ठ ३१)।

२. H. S. L., p. 478.

३. सा. द. इ., पृष्ठ ३०४.

४. आ. वि. उ. भा. द. स्था., पृष्ठ ३४–४०.

५. 'इति श्रीभावाविश्वनाथदीक्षितसूनु—भावागणेशविरचितं तत्त्वयाथार्थ्यदीपनं समाप्तम्।' (तत्त्वया. अन्तिम पृष्ठ)।

श्रीवास्तव के अनुसार पं० उदयवीर शास्त्री का विज्ञानभिक्षु को अनिरुद्ध से परवर्ती तथा सदानन्द यति से पूर्ववर्ती मानना तो ठीक है, किन्तु महादेव वेदान्ती से परवर्ती मानना नहीं। महादेव वेदान्ती के द्वारा सांख्यसूत्रवृत्तिसार में विज्ञानभिक्षु के सांख्य-प्रवचन-भाष्य का उद्धृत न किया जाना उन्हें विज्ञान-भिक्षु से पूर्ववर्ती नहीं बना देता। महादेव वेदान्ती का सांख्यसूत्रवृत्तिसार स्वतन्त्र रचना नहीं अपितु सांख्यसूत्रवृत्ति का सारांश मात्र है, अतः इसमें अनिरुद्ध के विचार होने मात्र से इसे विज्ञानभिक्षु का परवर्ती नहीं कहा जा सकता। महादेव वेदान्ती का एक श्लोक[1] विष्णुसहस्रनाम की उनकी टीका में प्राप्त होता है, जिससे सिद्ध होता है कि उनका समय सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता।[2] उदयवीर शास्त्री ने सदानन्द यति का समय पन्द्रहवीं शती ई० माना है और अद्वैतब्रह्मसिद्धि में विज्ञानभिक्षु के नामोल्लेखपूर्वक खण्डन के आधार पर उनका समय चौदहवीं शताब्दी सिद्ध किया है किन्तु यह भी उचित नहीं है क्योंकि पन्द्रहवीं शती ई० वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द यति का समय है, अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार सदानन्द यति का नहीं। डॉ० कीथ ने भी वेदान्तसार के रचयिता का ही समय पन्द्रहवीं शती माना है।[3] अद्वैतब्रह्मसिद्धि के लेखक सदानन्द यति का समय वामन शास्त्री इस्लामपुरकर ने संवत् १७६१ माना है।[4] सदानन्द यति ने रघुनाथ शिरोमणि का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है।[5] रघुनाथ शिरोमणि का समय १४७०–१५४७ ई० निश्चित है। बङ्गाल के नदिया प्रदेश में लिखे गये इस ग्रन्थ के सदानन्दयति के निवास-स्थान कश्मीर तक पहुँचने में कम-से-कम पचास-साठ वर्ष अवश्य लगे होंगे, अतः उनका समय सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता।

विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध[6] एवं वाचस्पति[7] के मतों के खण्डन के अतिरिक्त

---

१. श्रीमत्स्वयंप्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तिसम्पदः। महादेवो करोद्व्याख्यां विष्णुसहस्रनाम्नाम्। खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे। मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलंकृति ॥ (आ. वि. उ. भा. द. स्था., पृष्ठ ३८)।

२. वही।

३. H. S. L., p. 478.

४. अ. ब्र. सि. (भूमिका), पृष्ठ ४.

५. एतेन यत्पदार्थखण्डने शिरोमणिना परमाणुसद्भावे...प्रष्टव्या इत्यादि वल्गितं तदप्यपास्त-मपसिद्धान्तत्वात्। (अ. ब्र. सि., पृष्ठ ९)।

६. सां. प्र. भा., १/१९, १/६१.

७. वही, ३/४३.

चित्सुख के मत का भी खण्डन किया है। चित्सुख[१] द्वारा प्रतिपादित स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त का खण्डन विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक[२] में किया है। उन्होंने योगवार्त्तिक[३] में श्रीहर्ष का भी उल्लेख किया है। इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त का उपसंहार करते हुए उन्होंने एकभाविकत्व सिद्धान्त का खण्डन करनेवाले रामद्वयाचार्य[४] का खण्डन किया है।[५] सूक्ष्म-शरीर की विवेचना करते समय योगवार्त्तिक (२/१६) में उन्होंने सम्भवतः सदानन्द यति के वेदान्तसार (६५) में प्रतिपादित मत का खण्डन किया है। विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानामृतभाष्य में शैवभाष्य का भी सङ्केत किया है। यह सङ्केत सम्भवतः ब्रह्मसूत्र के नीलकण्ठभाष्य की ओर है। नीलकण्ठ का काल चौदहवीं शताब्दी है। अतः वाचस्पति मिश्र (६वीं शताब्दी), श्री हर्ष (११वीं शताब्दी), नीलकण्ठ (१४वीं शताब्दी), अनिरुद्ध (१५वीं शताब्दी) का खण्डन-मण्डन करनेवाले विज्ञानभिक्षु १५वीं शताब्दी के पश्चात् ही हुए होंगे।

सांख्यसार की पाण्डुलिपि में उनका समय इस प्रकार निर्देश किया गया है—"संवत् १६८० भादौ सुदि १०'। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का १६२३ ई० से पूर्व होना निश्चित रूप से कहा जा सकता है। सदानन्दयति,[६] भावागणेश,[७] नारायणतीर्थ[८] तथा नागेशभट्ट[९] ने विज्ञानभिक्षु का नामोल्लेख किया है। भावागणेश तो उनके शिष्य ही थे। डॉ० पी० के० गोडे के अनुसार भावागणेश का समय १५८३–१६२३ ई० माना जाता है। सदानन्दयति, नारायणतीर्थ तथा नागेशभट्ट सत्रहवीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। अतः विज्ञानभिक्षु का समय सोलहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

---

१. अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणं ... तस्मादनाविलस्वप्रकाशलक्षणम्। (तत्त्वप्र. प्रथम परि. पृष्ठ ११)।

२. यत्तु–अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमित्याधुनिकवेदान्तिब्रुवाणां प्रलपनं तत्प्रागेव निराकृतम्। (योगवा. ४/१९)।

३. स्वप्नादिदृष्टान्ते श्रीहर्षादीनामसत्खण्डेन च वेदान्तज्ञानतज्जन्यज्ञानयोरपि भ्रमत्वापत्त्या वेदान्तप्रमाण्यासिद्धौ तत्प्रतिपाद्यब्रह्मसिद्धिप्रसङ्गात्। (योगवा. ४/१४)।

४. अथ प्रायणं सर्वकर्माणां व्यञ्जकं तानि च सर्वाणि मुमुक्षुदेहमारभन्ते। ... श्रुत्याद्यदर्शनादाम्नायसिद्धानेकविजातीयदेहभोग्यफलानां कर्मणामेकदेहारम्भकत्वानुपपत्तेश्च। ...इतिव्यर्था प्रायणस्य व्यञ्जकत्वकल्पना। (वेदान्तकौ., पृष्ठ ६५)।

५. योगवा., २/१३. ६. अ. ब्र. सि., प्रथममुद्ग., पृष्ठ ३१.

७. कपिलासुरिपञ्चशिखान् गुरून् विज्ञानाचार्यवर्यांश्च। (तत्त्वया., मङ्ग. २)।

८. योगसि., पृष्ठ १. ९. योगसूत्रवृत्ति, पृष्ठ २३०.

डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव की कल्पना है कि विज्ञानभिक्षु का जन्म किसी ग्राम में नहीं वल्कि किसी नगर में ही अवश्य हुआ था। उस नगर में वड़ी-वड़ी सड़कें थीं। किसी राजघराने का महल भी था। वहाँ इन लोगों का आना-जाना भी था। राजकुल में इन लोगों की प्रतिष्ठा थी। ...ये ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। इस प्रसंग में प्रस्तुत किया गया श्री हयवदनरावजी का यह मत कि 'विज्ञानभिक्षु ब्राह्मण कायस्थ थे' सर्वथा निर्मूल है। ...वे... अपने को भूदेव के रूप में लिखते हैं। ...इनके ग्रन्थों में हिन्दी भाषा का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। ...सूर्य को केवल 'नारायण' शब्द से व्यवहृत करना विज्ञानभिक्षु को हिन्दी-भाषी क्षेत्र का निवासी सूचित करता है। ...इस आधार पर यदि विज्ञानभिक्षु की जन्म-नगरी हम उत्तर-प्रदेश या बिहार में अथवा मध्य-प्रदेश के उत्तरी भाग में मानें, जो कि चौदहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दी के अन्यतम गढ़ रहे, जैसा कि हिन्दी नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट से प्रमाणित है, तो सत्य से बहुत दूर न होंगे।[१]

विज्ञानभिक्षु का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध था। उन्होंने दर्शन-शास्त्र के साथ-साथ साहित्य का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उनके दार्शनिक ग्रन्थों में कालिदास[२] तथा माघ[३] की पंक्तियाँ वरबस निकल पड़ी हैं। विवादास्पद पदों का व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ देने की पद्धति उनके व्याकरण के अनुशीलन को द्योतित करती है।[४] दर्शनशास्त्र में पुराणों तथा स्मृतियों का उपयोग सिद्ध करने में वे अद्वितीय हैं। उनके ग्रन्थों में उनका नाम यतिवर विज्ञानभिक्षु, विज्ञानयति या विज्ञानाचार्य मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने वैराग्य के कारण प्रव्रज्या ले ली थी तथा त्रिदण्डी संन्यासी हो गये थे। योगानुभूति कर लेने के पश्चात् इन्होंने उपदेश देना तथा ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया था तब तक इनके गुरु ने विदेह कैवल्य लाभ कर लिया था।[५] उन्हें अपने ज्ञान पर निष्ठा तथा चरम कोटि की आस्था थी इसीलिए इन्होंने अपने प्रतिपक्षियों के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। शङ्कराचार्य तथा अन्य

---

१. आ. वि. उ. भा. द., स्था., पृष्ठ २४–२७.

२. योगवा. ३/१४.

३. सां. प्र. भा., १/१०४.

४. चिति संज्ञान इतिव्युत्पत्त्या चेतनोऽत्राभिज्ञः। (सां. प्र. भा., २/७)।

५. यान्तु श्रीमद् गुरोः पदम्। (विज्ञा. मङ्ग., ५)।

अद्वैत मत के पोषक आचार्यों के लिए वे प्रच्छन्न बौद्ध,[1] वेदान्तिब्रुवः[2] आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे उनके स्वभाव की उग्रता प्रकट होती है।

विज्ञानभिक्षु की प्रवृत्ति समन्वयात्मक है। उन्होंने सांख्य, योग तथा वेदान्त का समन्वय उपस्थित किया। वे ज्ञानमार्गी होते हुए भी अनीश्वरवादी नहीं थे। उन्होंने योगसाधना में ईश्वरमार्ग को मुख्य कल्प[3] और निरीश्वरवाद को गौण कल्प स्वीकार किया है। योगसाधना में उन्होंने मुख्यकल्प अर्थात् ईश्वरमार्ग का ही अवलम्बन लिया है। वे भक्त ज्ञानी थे। उनका साध्य ज्ञान तथा तज्जन्य कैवल्य था और उसका साधन थी भक्ति। उनकी भक्ति का लक्ष्य इष्टदेव के चरणों में रति नहीं थी प्रत्युत विवेक-ख्याति थी। विज्ञानभिक्षु का सन्देश ज्ञान-चक्षुओं को उन्मीलित करने के लिए है। उनके हरि मोक्षस्वरूप नहीं अपितु मोक्षद हैं।[4]

आचार्य विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थों में ग्रन्थकार का नाम यतिवर विज्ञानभिक्षु, विज्ञानमति या विज्ञानाचार्य मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों की रचना उन्होंने योगसाधना के पश्चात् प्रारम्भ की थी। उन्होंने लगभग सोलह ग्रन्थ लिखे हैं। इतनी विशाल ग्रन्थ-रचना के लिए पर्याप्त समय की अपेक्षा होती है, अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु अवश्य ही दीर्घजीवी रहे होंगे।

डॉ० एफ्० ई० हाल[5] तथा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज[6] ने आचार्य विज्ञानभिक्षु के प्रसाद माधवयोगी, भावागणेश दीक्षित तथा दिव्यसिंह मिश्र तीन शिष्य बताये हैं। हाल के अनुसार प्रसादमाधवयोगी ने शारीर-कारिका भाष्य अथवा कारिकार्थ-विनिश्चय नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[7] दिव्यसिंह मिश्र ने प्रसादमाधवयोगी के उक्त ग्रन्थ पर शारीर-कारिका-भाष्य-वार्त्तिक नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[8] दिव्यसिंह मिश्र के अनुसार प्रसाद-माधव ही विज्ञानभिक्षु के मुख्य शिष्य थे[9] किन्तु यश भावागणेश का अधिक हुआ था।[10]

---

१. अनयैव च रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्नबौद्धानां नामविद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम्। (सां. प्र. भा., १/२२)।

२. वही, १/२२, १५१, १५३. ३. योगवा., १/२३.

४. प्रीयतां मोक्षदो हरिः। (सां. प्र. भा. मङ्ग., ६)।

५. सां. सा. (भूमिका), ३७–३९. ६. का. सा. सा., पृष्ठ २२.

७. सां. सा. (भूमिका), पृष्ठ ३८, पाद टि.। ८. वही।

९. वही। १०. का. सा. सा., पृष्ठ २३.

विज्ञानभिक्षु का कृतित्व

आचार्य विज्ञानभिक्षु के प्रखर पाण्डित्य ने उनकी लेखनी में अजस्र प्रवाह तथा सजीवता ला दी थी। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। आफ्रेक्ट महोदय ने उनके ग्रन्थों की सूचना इस प्रकार दी है--(१) उपदेशरत्नमाला, (२) ईश्वरगीता-भाष्य, (३) कठवल्ल्युपनिषदालोक, (४) कैवल्योपनिषदालोक, (५) योगवार्त्तिक, (६) प्रश्नोपनिषदालोक, (७) ब्रह्मादर्श, (८) भगवद्गीता टीका, (९) माण्डूक्योपनिषदालोक, (१०) मुण्डकोपनिषदालोक, (११) मैत्रेय्युपनिषदालोक, (१२) योगसारसंग्रह, (१३) विज्ञानामृत या ब्रह्मसूत्र ऋजुव्याख्या, (१४) वेदान्तालोक, (१५) श्वेताश्वतरोपनिषद्, (१६) सांख्यकारिकाभाष्य, (१७) सांख्य-प्रवचन-भाष्य, (१८) सांख्यसार। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ की सूचना पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद (भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष, सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) ने दी है। उन्होंने योगसारसंग्रह की भूमिका में लिखा है कि विज्ञानभिक्षु द्वारा रचित वैशेषिकशास्त्र पर भिक्षुवार्तिक नामक एक और ग्रन्थ भी है।[१]

उपरिलिखित इन सभी ग्रन्थों को विज्ञानभिक्षु की रचनायें नहीं माना जा सकता। विज्ञानभिक्षु के साक्ष्य के आधार पर सांख्य-प्रवचन-भाष्य,[२] सांख्यसार,[३] योगवार्त्तिक,[४] योगसारसंग्रह,[५] विज्ञानामृतभाष्य,[६] उपदेशरत्नमाला,[७] ब्रह्मादर्श[८] और श्रुतिभाष्यादि[९] ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। श्रुतिभाष्यादि पद ईश्वर गीताभाष्य का भी द्योतक हो सकता है। ईश्वरगीताभाष्य की प्राप्त पाण्डुलिपि से ज्ञात होता है कि इन्होंने कूर्मपुराण की ईश्वरगीता पर भाष्य लिखा था, श्रीमद्भगवद्गीता पर नहीं। श्रुतिभाष्यादि पद से जिन उपनिषद्-भाष्यों की ओर सङ्केत किया गया है, प्राप्य पाण्डुलिपियों के आधार पर उनके नाम इस प्रकार हैं— कठवल्ल्युपनिषदालोकः, कैवल्योपनिषदालोकः, प्रश्नोपनिषदालोकः, माण्डूक्योपनिषदालोकः, मुण्डकोपनिषदालोकः, मैत्र्युपनिषदालोकः, श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः तथा तैत्तिरीयोपनिषदालोकः (इस अन्तिम पुस्तक का उल्लेख

---

१. योगसा. (भूमिका), पृष्ठ ४, पाद टि.।

२. सां. सा. पृष्ठ १, योगसा., पृष्ठ ५९.

३. योगसा., पृष्ठ ५९, ११२.

४. वही, पृष्ठ २, ३, ११, ५९; सां. प्र. भा., १/१.

५. यह विज्ञानभिक्षु की अन्तिम रचना है। इसमें पहले लिखे गये सभी ग्रन्थों का उल्लेख है।

६. सां. प्र. भा., उपो. पृष्ठ ६.

७. विज्ञान., १/१/२.

८ योगसा., पृष्ठ १२२.

९. योगवा., २/२२.

आफ्रेक्ट ने नहीं किया है किन्तु इस पुस्तक की एक प्रति एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में नागर अक्षरों में उपलब्ध है)। इन्हीं आठों पुस्तकों का सामूहिक नाम वेदान्तालोक है। आफ्रेक्ट महोदय ने भ्रम से वेदान्तालोक की पृथक् ग्रन्थ के रूप में गणना की है।

डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने विज्ञानभिक्षु की रचनाओं के सन्दर्भ में लिखा है कि पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने विज्ञानभिक्षु के वैशेषिकशास्त्र पर भिक्षुवार्त्तिक तथा सांख्यकारिकाभाष्य की पाण्डुलिपि मिलने की सूचना दी है।[1] किन्तु इनके सम्बन्ध में डॉ० श्रीवास्तव का मत है कि विज्ञानभिक्षु के उपलब्ध ग्रन्थों में 'सांख्यकारिकाभाष्य' की कोई सूचना नहीं है। इस भाष्य की उपलब्ध पाण्डु-लिपि के अन्त में लिखे 'विज्ञानभिक्षुरचितं सांख्यभाष्यम्' इस वाक्यांश से जिस भ्रम को अवकाश मिलता है उसका निराकरण भी उसी स्थान पर मिलने-वाले 'भाष्यञ्चात्र गौडपादकृतम्' आदि शब्दों से हो जाता है। अतः सांख्य-कारिकाभाष्य को विज्ञानभिक्षु की रचना नहीं माना जा सकता।[2] किन्तु डॉ० श्रीवास्तव ने इस ओर कोई सङ्केत नहीं किया है कि यह सांख्यकारिकाभाष्य सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य से भिन्न है या अभिन्न। यदि यह गौडपाद-भाष्य से अभिन्न हो तब तो इसके विज्ञानभिक्षु कृत होने के मत का खण्डन हो जाता है किन्तु यदि यह गौडपादभाष्य से भिन्न है तब इसे विज्ञानभिक्षुकृत माना जा सकता है।

डॉ० श्रीवास्तव का मत है कि वैशेषिकशास्त्रपर लिखे गये 'भिक्षुवार्त्तिक' को भी विज्ञानभिक्षु की रचना नहीं माना जा सकता। उक्त वार्त्तिक के पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादजी द्वारा उद्धृत अंश में ग्रन्थ का प्रथम श्लोक अधोलिखित है—

ॐ नमः सच्चिदानन्दमूर्तये परमात्मने।
भवबन्धच्छिदे तस्मै ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ॥

अपने सांख्य, योग एवं वेदान्त के ग्रन्थों में आत्मा तथा परमात्मा की आनन्द-रूपता का खण्डन करनेवाले विज्ञानभिक्षु इस ग्रन्थ में परमात्मा को सच्चिदानन्द कैसे स्वीकार कर सकते हैं? इतना ही नहीं इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में परमात्मा या ब्रह्म को ब्रह्मा, विष्णु, महेश माना गया है, किन्तु सांख्यसार में ब्रह्म, विष्णु, शिव को जीव कोटिक कहा गया है।[3] अतः यह श्लोक विज्ञानभिक्षु

---

१. आ. वि. उ. भा. द. स्था., पृष्ठ ४७, ५०. २. वही, पृष्ठ ५०.

३. विष्ण्वादयो महैश्वर्यं भुञ्जाना अपि नाधिकाः।
मत्तोऽत्तोऽलं तदैश्वर्यैरविवेकजनप्रियैः ॥ (सां. सा. उत्त., ६/३०)।

द्वारा रचित नहीं हो सकता क्योंकि उनके किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का स्ववचोव्याघात नहीं है। बहुत सम्भव है कि किसी अन्य संन्यासी का नाम विज्ञानभिक्षु रहा हो जिसने इस वार्त्तिक की रचना की हो अथवा उनके नाम की प्रसिद्धि से प्रभावित हो किसी ने उक्त वार्त्तिक को उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो।[1] किन्तु डॉ० श्रीवास्तव का यह मत निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक श्लोक के आधार पर ऐसा निर्णय करना उचित नहीं प्रतीत होता। इस बात की भी सम्भावना हो सकती है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त हो।

आचार्य विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थ-रचनाक्रम के सम्बन्ध में डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का मत है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सर्वप्रथम विज्ञानामृतभाष्य की रचना की होगी इसके अनन्तर उन्होंने उपनिषद्-भाष्य तथा गीता-भाष्य की रचना की होगी। उनका मत है कि ब्रह्मादर्श की रचना वेदान्त-विषयक ग्रन्थों के रचनाकाल के मध्य में हुई होगी। उपदेश-रत्नमाला का उल्लेख विज्ञानामृत भाष्य में ही है अतः यह उनकी वेदान्त-ग्रन्थों में प्रथम रचना रही होगी। इन ग्रन्थों के बाद की रचना योगवार्त्तिक है क्योंकि इसमें विज्ञानामृतभाष्य के साथ-साथ उपनिषद्-भाष्य तथा गीता-भाष्य का उल्लेख है। योगवार्त्तिक के पश्चात् सांख्य-प्रवचन-भाष्य की रचना की गयी होगी क्योंकि इसमें योगवार्त्तिक तथा विज्ञानामृतभाष्य का विवरण प्राप्त होता है किन्तु सांख्यसार का उल्लेख नहीं है। इसके बाद सांख्यसार की रचना हुई होगी क्योंकि इसमें सांख्य-प्रवचन-भाष्य, योगवार्त्तिक तथा विज्ञानामृतभाष्य का उल्लेख है। योगसार-संग्रह विज्ञानभिक्षु की अन्तिम रचना ज्ञात होती है क्योंकि इसमें सांख्यसार, सांख्य-प्रवचन-भाष्य, योगवार्त्तिक, विज्ञानामृतभाष्य, ब्रह्मादर्श आदि ग्रन्थों का उल्लेख है।[2]

वेद और सांख्य-दर्शन

ब्रह्मसूत्र, उसके शङ्कराचार्यकृत भाष्य एवं अन्य अनेक ग्रन्थों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सांख्य वैदिक नहीं है। इसके अनीश्वरवाद, प्रकृति-पुरुष द्वैतवाद, प्रकृतिपरिणामवाद आदि तथाकथित वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के कारण इसे वेद-बाह्य कहकर इसका खण्डन करनेवाले शङ्कराचार्य ने लिखा है कि अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियों के होनेपर भी सांख्य-योग स्मृतियों के

---

१. आ. वि. उ. भा. द. स्था., पृष्ठ ५०–५१. २. वही, पृष्ठ ५४–५५.

खण्डन का यत्न किया गया है क्योंकि ये दोनों संसार में परम पुरुषार्थ के साधन के रूप में विख्यात हैं, शिष्ट पुरुषों द्वारा ग्राह्य है तथा 'तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इत्यादि श्रौत लिङ्गों से युक्त है।[1] इस वाक्य से भी यही सङ्केत मिलता है कि भले ही शङ्कराचार्य न मानें किन्तु उनसे पूर्व तथा उनके समय में भी सांख्य-दर्शन वैदिक माना जाता था और परमपुरुषार्थ का साधन मानकर लोग उसका अनुसरण करते थे।

सांख्य-दर्शन की गणना आस्तिक दर्शनों में की जाती है। आस्तिक-दर्शन वह है जो वेद-निन्दक न हो। सांख्य में केवल वैदिक हिंसा की निन्दा की गयी है, इसीलिए उसे वैदिक-दर्शन के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। स्वयं शङ्कराचार्य यह मानते हैं कि सांख्य-दार्शनिक अपने मत की पुष्टि के लिए उपनिषद्-वाक्यों को उद्धृत करते हैं तथा अपने सिद्धान्तों की उपनिषद्सम्मत, वेदान्तानुकूल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।[2] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सांख्य-दर्शन वेदान्त-सिद्धान्त के समीप है।[3] इस सांख्य-सिद्धान्त का देवल आदि धर्मसूत्रकारों तथा मनु इत्यादि स्मृतिकारों ने आश्रय लिया है। परमर्षि कपिल की श्वेताश्वतरोपनिषद् (५/२) तथा गीता (१०/२६) में प्रशंसा की गयी है और जनसाधारण की सांख्यशास्त्र में श्रद्धा है।

विज्ञानभिक्षु स्वयं सांख्य-दर्शन को वैदिक मानते हैं। वे अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए श्रुति उद्धृत करते हैं।[4] उनके अनुसार सूत्रकार को श्रुति की प्रामाणिकता स्वीकार है।[5] तर्क देते हुए वे कई स्थल पर कहते हैं कि यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो अमुक श्रुति का बाध होगा, इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं।[6] इस प्रकार उन्हें श्रुति का

---

१. सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' (श्वेता. उप., ६/१३) इति। (ब्रह्मसूत्र शाङ्क., २/१/३)।

२. वही, २/१/१. ३. वही, १/४/२८.

४. तरति शोकमात्मविद् (छान्दो. उप. ७/१३) विद्वान् हर्षशोकौ जहाति (कठोप. १/२/२२)— सां. प्र. भा., १/१.

५. उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः। (सांख्यसूत्र, १/५, ५/१२)।

६. प्रधानशक्तेरिच्छादेः पुरुषे योगात् पुरुषस्यापि धर्मसङ्गापत्तिः। तथा च स यत् तत्र पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्यादिश्रुतिविरोधः इत्यर्थः। (सां. प्र. भा., ५/८)।

वाध अनिष्ट है, अतः स्पष्ट है कि उन्हें श्रुति-विरोधी न मानकर श्रुतिमूलक सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादक मानना चाहिए।

वास्तविकता तो यह है कि यह मान्यता तो केवल शाङ्कर वेदान्त की है कि उपनिषदों में केवल प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic Monism) का ही प्रतिपादन हुआ है। ब्रह्मविवर्तवाद आदि मत भी शङ्कर तथा उनके अनुयायियों के हैं। ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च आदि शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भास्कर, रामानुज, मध्व एवं वल्लभाचार्य आदि परवर्ती वेदान्ताचार्यों के मत से उपनिषदों में किसी-न-किसी रूप में परिणामवाद का ही प्रतिपादन हुआ है, विवर्तवाद का नहीं। परिणामवाद को स्वीकार करने से सांख्य-दार्शनिक शङ्कराचार्य की अपेक्षा अन्य वेदान्तियों के अधिक निकट हैं। अद्वैत तथा द्वैत के विषय में भी वेदान्त के आचार्यों में मतभेद है। जब वेदान्त के आचार्यों में परस्पर मतभेद है तब सांख्य को ही मतभेद के कारण वेद-विरोधी या अवैदिक क्यों कहा जाय? शङ्कर, रामानुज, मध्व तथा वल्लभ इत्यादि दार्शनिक अपने-अपने मतों को श्रुतिमूलक कहते हैं किन्तु विपक्षियों के द्वारा इनके सिद्धान्तों को श्रुतिमूलक स्वीकार नहीं किया जाता। बहुत कुछ इसी प्रकार की स्थिति सांख्य-दर्शन के साथ भी है जैसा कि शङ्कराचार्य के सङ्केत से स्पष्ट है।[1] स्वयं सांख्य दार्शनिक तो अपने सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर तदनुरूप वेदान्त-वाक्यों को उद्धृत करते हैं किन्तु ब्रह्मसूत्रकार तथा उनके भाष्यकार शङ्कराचार्य यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि उपनिषद्-वाक्यों का वह अर्थ नहीं है जो सांख्य दार्शनिक करते हैं। अर्थात् सांख्य-दर्शन श्रुत्यनुसारी नहीं है। जहाँ तक सांख्य दार्शनिकों का प्रश्न है उन्होंने कभी स्वयं को वेदविरोधी रूप में प्रस्तुत नहीं किया। यदि सांख्य दार्शनिक वेदविरोधी होते तो साधारण भारतीय दार्शनिक परम्परा में उनकी गणना भी वेदविरोधी नास्तिकों अर्थात् जैनों, बौद्धों तथा चार्वाकों के साथ की जाती, आस्तिक दर्शनों में नहीं।

अत्यन्त प्राचीन-काल से ही महाभारत, गीता, रामायण, स्मृतियों तथा पुराणों पर सांख्य की सुस्पष्ट छाप है। महाभारतकार ने सांख्य-ज्ञान को महान्[2]

---

१. सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यानि अप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते। (ब्रह्मसूत्र शाङ्क. २/२/१)।

२. ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित्।
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥ (महाभारत, १२/३०१/१०९)।

तथा सर्वश्रेष्ठ[१] घोषित किया है। गीता में भी स्पष्ट रूप से सांख्य-सिद्धान्त का उल्लेख है।[२] भागवत पुराण में सांख्य-ज्ञान को मोक्षप्रद कहा गया है।[३] सांख्य प्रकरण के अन्त में भागवतकार कहते हैं कि 'जो पुरुष भगवान् में चित्त लगाकर कपिल मुनि के इस परम गुह्य आत्मयोग को सुनते हैं और कहते हैं, वे भगवच्चरणों को प्राप्त होते हैं।'[४]

डॉ॰ कीथ का मत है कि उपनिषदों में सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों पाना असम्भव है तथापि उनमें यत्र-तत्र ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है जो बाद में सांख्य-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुए। बादरायण तथा शङ्कराचार्य के दर्शनों की ही भाँति सांख्य-दर्शन भी उपनिषदों से ही उद्भूत हुआ है, किन्तु इन दोनों से ही यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह मूलतः और तत्त्वतः भी उपनिषदों की शिक्षा से आगे चला जाता है।[५] प्रो॰ गार्बे का मत है कि सांख्य-दर्शन उपनिषदों के प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic Monism) के विरोध में अर्थात् उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ।[६] प्रो॰ एस्॰ सूर्यनारायण शास्त्री ने गार्बे के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'ऐसा मानना उपनिषदों की बहुविधता तथा सांख्य-दर्शन के विकास के इतिहास, दोनों के ही विरुद्ध है। न तो उपनिषदों में प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic Monism) ही प्रतिपादित है जिसके विरुद्ध सांख्य-दर्शन का प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद उत्पन्न हुआ कहा जा सके और न सांख्य-दर्शन अपने विकासक्रम में आदि से अन्त तक एक-सा ही है जिससे इसे औपनिषदिक या वैदिक सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध कहा जाय क्योंकि कारिकाओं से पूर्व का सांख्य-दर्शन औपनिषदिक मत से पर्याप्त सादृश्य रखता है।[७] इसका बादरायण तथा शङ्कर के दर्शनों से केवल इतना ही भेद प्रतीत होता है कि यह उपनिषदों की शिक्षाओं से आगे बढ़कर अपने स्वतन्त्र चिन्तन को अग्रसर करता है। चिन्तन के इतिहास में कोई भी विचारधारा एकदम नवीन नहीं होती, विचार किसी भी एक मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हो जाते।

---

१. नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्। (महाभारत, १२/३१६/२)।

२. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥ (गीता, ३/२७), ३/३९.

३. भाग., ३/३२/४३. ४. वही, ३/३३/३७. ५. सां. सि., पृष्ठ ७–८.

६. E. R. E., Vol. 11, p. 189. ७. सांख्यका. (भूमिका), पृष्ठ १–२.

डॉ० ई० एच० जॉनस्टन ने ठीक ही लिखा है कि 'विभिन्न पारस्परिक दर्शन-सम्प्रदायों के उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थों में से किसी भी कृति की रचना होने के समय से पूर्व हिन्दू-दर्शन कई शताब्दियों तक निर्माणावस्था में था।'[१] अतः निश्चित रूप से वेदों तथा उपनिषदों में कुछ ऐसे विचार थे जिनसे कालान्तर में सांख्य-दर्शन का विकास हुआ। विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न रूपों में तत्त्व-साक्षात्कार किया और उनमें से कुछ ऋषियों ने ऐसे दार्शनिक-कण अवश्य बिखेरे जिससे सांख्य-दर्शन का विकास किया जा सकता था। इसी कारण डॉ० राधाकृष्णन्[२] की धारणा है कि जब सांख्य-दर्शन यह दावा करता है कि उसका आधार उपनिषद् हैं तो उसके कथन में कुछ औचित्य अवश्य है, यद्यपि उपनिषदों की मुख्य प्रवृत्ति सांख्य के द्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। उपनिषदों की वस्तुवादी चिन्तन प्रवृत्ति ने सांख्य की सृष्टि-सम्बन्धी धारणा को बल प्रदान किया है। सांख्य-दार्शनिकों ने स्वतन्त्र चिन्तन को अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने सिद्धान्तों को उपनिषदों में ढूँढने की चेष्टा नहीं की, अपितु उनका उपस्थापन बौद्धिक दृष्टि से किया। वेदान्त तत्त्व के श्रुत्यैक-समधिगम्य होने का सिद्धान्त उपस्थापित करता रहा है और सांख्य-दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा को प्रोत्साहित करता रहा है। सांख्य यद्यपि विकसित रूप में उपनिषदों में नहीं मिलता तथापि बीज-रूप में उसकी उपलब्धि श्रुतियों में होती है। इससे भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि सांख्य वैदिक है। महाभारत में भी सांख्य दार्शनिकों के लिए 'यथाश्रुतिनिदर्शनात्'[३] पद प्रयुक्त हुआ है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम सांख्य का उल्लेख मिलता है[४] किन्तु सांख्य-सिद्धान्तों का विवेचन तो इससे पूर्व के भी उपनिषदों में प्राप्त होता है। कठ,[५] श्वेताश्वतर[६] तथा मैत्रायणी[७] उपनिषदों में प्राप्त सांख्य-सिद्धान्तों के विवेचन से ज्ञात होता है कि इनके उपनिबद्ध होने के पूर्व ही सांख्य-विचारधारा ने निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लिया होगा। बृहदारण्यक,[८] छान्दोग्य,[९] श्वेताश्वतर[१०]

---

१. E. S., p. 1. प्रस्तुत अनुवाद लेखिका द्वारा किया गया है।
२. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २४८.
३. महाभारत, १२/३१०/२५.
४. तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्। (श्वेता. उप., ६/१३)।
५. कठोप., १/३/१०–११.
६. श्वेता. उप., १/४, ८–९, ४/१०, ५/२, ६/१३.
७. मैत्रा. उप., ३/२, ४/५, ८.
८. बृह. अ., २/३/४, ४/३/१५.
९. छान्दो. उप., ६/२/२.
१०. श्वेता. उप., ५/२, ६/१३.

कठ,[1] प्रश्न[2] और मैत्रायणी[3] उपनिषदों तथा महाभारत[4] गीता एवं श्रीमद्-भागवत[5] में सांख्य-सिद्धान्तों की ओर सङ्केत किया गया प्रतीत होता है।

सांख्यसूत्र में मोक्ष के उत्कर्ष का प्रतिपादन श्रुति के आधार पर किया गया है (उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः, सां० सू० १/५) इसका भाष्य लिखते समय विज्ञानभिक्षु ने 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० उप० ८/१२/१) इस श्रुति को उद्धृत किया है। सांख्यसूत्र ५/१ में मङ्गलाचरण को श्रुति का आदेश बताया गया है और ५/१२ में प्रधान की कारणता सिद्ध करने के लिए श्रुति का साक्ष्य स्वीकार किया गया है। इस सूत्र का भाष्य लिखते समय विज्ञानभिक्षु 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' (बृह० उप० १/४/७) को उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि श्रुति प्रधान-कारणवाद की प्रतिष्ठा करती है। इस प्रकार सांख्यदार्शनिक तर्क के बल पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे और यह दिखाते थे कि श्रुति का प्रतिपाद्य भी यही मत है।

सांख्यों का वेद से इतना ही विरोध है कि वे यह मानते हैं कि यज्ञीय हिंसा के मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती (सां० सूत्र १/६)। मीमांसकों का मत है कि वेदसम्मत यज्ञीय हिंसा पापजनक नहीं होती किन्तु सांख्य-दार्शनिक इस प्रकार की हिंसा को भी सदोष ही मानते हैं (सां० प्र० भा० १/६)। श्रुतिसम्मत होने से हिंसा निर्दोष नहीं हो जाती। यज्ञीय हिंसा से श्रुत्युक्त फल तो मिलेगा किन्तु उससे होनेवाला पाप भी होगा। वैदिक यज्ञों से ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि वैदिक-मार्ग अविशुद्धि, क्षय एवं अतिशय दोषों से युक्त है।[6] उपनिषदों में भी मोक्षरूप फलविशेष की प्राप्ति के लिए वैदिक यज्ञों को अपर्याप्त साधन कहा गया है। मोक्षप्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञों की उपेक्षा करने पर उपनिषद् अवैदिक नहीं हैं तो सांख्य को भी अवैदिक नहीं माना जा सकता। वेदों में दो मार्ग प्रतिपादित किये गये हैं—१. प्रवृत्ति का मार्ग एवं २. निवृत्ति का मार्ग। प्रवृत्ति के मार्ग से दुःखों का ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निरोध अशक्य मानकर सांख्य निवृत्ति-मार्ग पर प्रकर्ष देता है जिससे दुःखों की सार्वकालिक निवृत्ति हो सके। वैदिक-मार्ग से उसका केवल इतना ही विरोध है।

---

१. कठोप. १/३/१०–११.
२. प्रश्नोप. ४/८.
३. मैत्रा. उप. ३/२, ४/५, ४/८.
४. महाभारत १२/२८५/३३–३४.
५. भाग. ३/२४–२८.
६. सां. प्र. भा. १/६.

सांख्याभिमत प्रकृति की एक झलक ऋग्वेद (१०/८२/६, १०/१२९/३) में मिलती है। बृहदारण्यक में ज्ञान को मोक्ष का एकमात्र साधन मानने और पुरुष को निष्क्रिय द्रष्टा तथा अकर्त्ता मानने का सांख्याभिमत सिद्धान्त प्रतिपादित है।[1] पुरुष की असङ्गता का सांख्य-सिद्धान्त भी बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वीकार किया गया है। डॉ० हरदत्त शर्मा का मत है कि बृहदारण्यक के 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' (बृह० उप० २/४/१२) में प्रयुक्त महत् शब्द सांख्य के महत्तत्त्व या बुद्धि का और विज्ञानघन शब्द बुद्धि के ज्ञानस्वरूप होने का द्योतक है।[2] छान्दोग्य के 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० उप० ६/२/२) इत्यादि वाक्य में सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का तथा 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो० उप० ६/१/४) इत्यादि वाक्य में प्रकृति-परिणामवाद का सङ्केत है। छान्दोग्य उपनिषद् में ही अन्यत्र सांख्याभिमत सत्त्व, रजस् तथा तमस् का वर्णन हुआ प्रतीत होता है।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वेता० उप० ४/५) इत्यादि पंक्तियाँ भी प्रकृति और उसके गुणों का वर्णन करती प्रतीत होती हैं। कठोपनिषद् में तो सांख्य के पुरुष, अव्यक्त, बुद्धि इत्यादि न केवल वर्णित हैं अपितु उनकी आनुक्रमिक सूक्ष्मता भी वर्णित है।[4] डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि सांख्य का यह सिद्धान्त कि पुरुष साक्षीमात्र है मुण्डकोपनिषद् के

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥' (मुण्ड. उप. ३/१/१)

इस मन्त्र से प्रेरित प्रतीत होता है।[5] सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया का सङ्केत हमें मुण्डकोपनिषद् १/१/८, २/१/२–३ इत्यादि में मिलता है।

---

१. असङ्गो ह्ययं पुरुषः (बृह. उप. ४/३/१५)।
२. तत्त्वकौ., झा (भूमिका), पृष्ठ ५.
३. यदग्ने रोहितं रूपं, तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। (छान्दो.उप. ६/४/१)।
४. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था: अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा: गतिः॥ (कठोप. १/३/१०–११)।
५. भा. द. खण्ड १, पृष्ठ २३८, पाद टि. १.

श्वेताश्वतर को सांख्य उपनिषद् ही कहा जाता है। सांख्य (६/१३) तथा कपिल (५/२) नाम सर्वप्रथम इसी में आये हैं। इसी उपनिषद् में हमें व्यक्त, अव्यक्त (श्वेता० उप० १/८) तथा ज्ञ (श्वेता० उप० १/९) शब्द मिलते हैं। सांख्य के प्रधान (श्वेता० उप० १/१०) प्रकृति (श्वेता० उप० ४/१०) तथा गुण (श्वेता० उप० १/१३) का भी उल्लेख इस उपनिषद् में उपलब्ध होता है। मैत्रायिणी उपनिषद्—जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन उपनिषद् है—में सत्त्व, रजस्, तमस्[1], तन्मात्रों तथा पञ्चमहाभूतों का वर्णन है।[2] तन्मात्रों का उल्लेख प्रश्नोपनिषद्[3] में भी प्राप्त होता है। उपनिषत्कारों ने इन शब्दों का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया था जिसपर परवर्ती सांख्य-दर्शन ने विशेष अर्थ की मुहर लगा दी। किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकसित एवं व्यवस्थित सांख्य-दर्शन की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार जिससे उसका वर्त्तमान स्वरूप निर्धारित हुआ, वैदिक ही है।

महाभारत में स्पष्ट रूप से सांख्य-सिद्धान्तों को अपनाया गया है। महाभारत के वनपर्व[4] में पञ्चमहाभूत, चौबीस व्यक्त तत्त्वों, अव्यक्त रूप तथा तीन गुणों का उल्लेख है। शान्तिपर्व में बुद्धि तथा आत्मतत्त्व के पार्थक्य का विवेचन है।[5] इसी पर्व में जनक और सुलभा के संवाद में 'सांख्य' का उल्लेख है।[6] शान्तिपर्व (अध्याय २१९) में वर्णित पञ्चशिख का उपदेश सांख्याभिमत सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। महाभारत में सांख्य का पुरुषबहुत्ववाद भी दृष्टिगोचर होता है।[7] गीता में स्फुट रूप से सांख्य-सिद्धान्तों का वर्णन है। उसमें (गीता १४/५–२०) सत्त्व, रजस्, तमस् का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २/१६) इत्यादि पंक्तियों में सत्कार्यवाद का उल्लेख है। भागवत के तृतीय स्कन्ध (अध्याय २५–२८) में सांख्य-सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु-स्मृति में चौबीस तत्त्वों से पुरुष को पृथक् बताया गया है।[8] शङ्खसंहिता में सांख्य के पच्चीस तत्त्वों का वर्णन है यद्यपि वहाँ पुरुष को विष्णु से अभिन्न कहा गया है।[9]

---

१. अथ यो ह खलु वावैतस्य सोऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिः। (मैत्रा. उप. २/५)।

२. पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते। (मैत्रा. उप. ३/२)।

३. प्रश्नोप. ४/८. ४. महाभारत ३/२०९/१६–२१, २११/४.

५. महाभारत १२/२८५/३३–४०. ६. महाभारत १२/३२०/७९, ८२.

७. महाभारत १२/३५०।२६. ८. विष्णुस्मृति २०/२५. ९. शङ्खसं. ७/२१–२५.

याज्ञवल्क्यस्मृति भी सांख्य-सिद्धान्तों से प्रभावित प्रतीत होती है।[1] इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्तों की उपलब्धि वेद, उपनिषद् तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में होती है। यद्यपि इन ग्रन्थों में सांख्य-सिद्धान्त उस रूप में नहीं मिलते जिस रूप में वे सांख्य-दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, तथापि इनसे सांख्य के श्रुति-सम्मत होने की सिद्धि तो होती ही है। वैदिक साहित्य एवं उसके पोषक ग्रन्थों में सांख्य का सम्मानपूर्वक उल्लेख उसे श्रुत्यनुसारी मानकर ही किया गया होगा अवैदिक मान कर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सांख्य-दर्शन पर्याप्त समृद्ध रहा होगा। प्राचीन भारतीय वाङ्मय पर इसका प्रभाव इसकी श्रेष्ठता द्योतित करता है। किन्तु आज इस दर्शन का एक बड़ा अंश नष्ट हो गया है और केवल कुछ अंश ही उपलब्ध है। यह अवशिष्ट अंश ही सांख्य की गणना भारत के श्रेष्ठ दर्शनों में कराने का औचित्य सिद्ध कराने के लिए पर्याप्त है। सांख्य में अन्य दर्शनों की अपेक्षा तत्त्वों का सूक्ष्मतर विवेचन हुआ है। यह अत्यन्त प्राचीन दर्शन है और इसका आविर्भाव-काल लगभग उपनिषदों के समीप ही अनुमान किया जाता है। अत्यन्त प्राचीनकाल में सर्वप्रथम सांख्य-दार्शनिकों ने ही मनुष्य के मस्तिष्क में उठनेवाले रहस्यपूर्ण प्रश्नों का केवल युक्ति से उत्तर देने का प्रयास किया और स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित किया। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण सांख्य-दर्शन का प्राचीनकाल से ही भारतीय दर्शनों के मध्य अन्यतम स्थान है।

---

१. बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहङ्कारसम्भवः।
तन्मात्रादीन्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि च॥ (याज्ञ. स्मृ. ३/१७९)।

प्रथम अध्याय

प्रमाण-मीमांसा

प्रमाण-विचार

सांख्य-शास्त्र मुख्यतः प्रमेय-शास्त्र है, किन्तु प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से ही होने के कारण प्रमाणों के विवेचन की आवश्यकता सांख्य-शास्त्र को भी है। सांख्य-दृष्टि से प्रमाणों की वास्तविक उपादेयता यह है कि वे विवेकलाभ कराने के लिए साक्षात् उपाय हैं। सांख्य-दर्शन में प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा गया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रमा तथा प्रमाण का विशद विवेचन किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रमाण-विवेचन में वाचस्पति मिश्र के मत का ही अनुकरण नहीं किया है अपितु स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत कर अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य की ज्ञान की प्रक्रिया में—(१) प्रमाण, (२) प्रमा-प्रमाण, (३) प्रमा, (४) प्रमाता तथा (५) साक्षी—पाँच पदार्थ स्वीकार किये हैं। सांख्य-दर्शन में इन्द्रियों को प्रमाण माना गया है। इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध होती हैं और बुद्धि चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर विषयाकार में परिणत हो जाती है। यह बुद्धिवृत्ति इन्द्रियों का फल होने के कारण प्रमा होते हुए भी पुरुषनिष्ठ ज्ञान या पौरुषेय-बोध का करण है, इसलिए इसे प्रमा-प्रमाण कहते हैं। वस्तुतः विज्ञानभिक्षु के मत में बुद्धि-वृत्ति ही प्रमाण है, इन्द्रियों में प्रमाण-व्यवहार तो परम्परया होता है।[1] पुरुषनिष्ठ बोध ही प्रमा है।[2] पुरुष को ही ज्ञान होता है इसलिए वह प्रमाता है। किन्तु प्रमाता पुरुष का स्वरूप नहीं है, अपितु वह पुरुष में उपचरित होता है। यदि प्रमातृत्व को पुरुष का स्वरूप माना जायेगा तो 'असङ्गोऽयं पुरुषः' आदि श्रुतियों के साथ विरोध होगा। इसीलिए विज्ञानभिक्षु ने पुरुष में प्रमातृत्व को कल्पित बताया है।[3] वस्तुतः पुरुष प्रमा का साक्षी है, प्रमाता नहीं है।[4]

---

१. चक्षुरादिपु तु प्रमाणव्यवहारः परम्परयैव सर्वथेति भावः। (सा. प्र. भा. १/८७)।

२. पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः। (वही)।

३. कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः। (योगवा. २/२०)।

४. पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमातेति। (सां. प्र. भा. १/८७)।

सांख्य-सूत्रों में प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है। सांख्यकारिका में इस ओर कोई सङ्केत नहीं मिलता किन्तु सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों ने प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के करण अर्थात् साधन को प्रमाण माना है। आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होनेवाला न हो एवं पूर्व से ज्ञात न हो।[१] ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न अतएव उसका फलभूत पुरुषवर्ती बोध प्रमा है।[२] अनिरुद्ध ने प्रमाण का लक्षण 'अनवगतार्थगन्तृ' बताते हुए प्रमाण सामान्य का लक्षण प्रमा का साधकतम अर्थात् करण माना है।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु भी प्रमाण को प्रमा का साधकतम अर्थात् करण मानते हैं। उनके अनुसार प्रमा, बुद्धि तथा पुरुष दोनों का धर्म हो सकती है। प्रमा को स्मृति से अलग करने के लिए वे उसे अनधिगत, भ्रम से भिन्न करने के लिए वस्तुरूप तथा संशय से पृथक् करने के लिए अवधारण-रूप मानते हैं।[४] इस प्रकार सांख्य-दर्शन में बुद्धिवृत्ति को प्रमाण तथा पौरुषेय बोध को प्रमा स्वीकार किया गया है।

प्रमाण तथा प्रमा के स्वरूप के विषय में ऐकमत्य होते हुए भी बुद्धिवृत्ति तथा पुरुष में होनेवाले सम्बन्ध के विषय में परस्पर सांख्याचार्यों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र अन्तःकरण या बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिविम्ब स्वीकार करते हैं।[५] अनिरुद्ध भी पुरुष को ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित मानते हैं।[६] आचार्य विज्ञानभिक्षु का इन दोनों आचार्यों से मतभेद है। अनिरुद्ध के खण्डन के उद्देश्य से ही उन्होंने 'कश्चित्तु बुद्धिगतया...' इत्यादि पंक्तियाँ लिखी हैं। सांख्यसूत्र १/८७ के भाष्य में उन्होंने स्पष्ट रूप से बुद्धि तथा पुरुष दोनों का ही एक-दूसरे में प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है।[७] उनका मत है कि अर्थाकार

----

१. तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। (तत्त्वकौ. ४)।

२. बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। (तत्त्वकौ. ४)।

३. अनवगतार्थगन्तृ प्रमाणमित्युक्तम्। प्रमासाधकतमं यत् तत् प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। (अनि. १/८७)।

४. ...प्रमा। सा च द्वयोर्बुद्धिपुरुषयोरुभयोरेव धर्मो भवतु।...प्रमाया यत् साधकतमं फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं...। स्मृतिव्यावर्तनायानधिगतेति। भ्रमव्यावर्तनाय वस्त्विति। संशयव्यावर्तनाय त्ववधारणम्। (सां. प्र. भा. १/८७)।

५. अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः। (तत्त्वकौ. ५)।

६. अनि. १/९८.

७. तस्मादचैतन्यचैतन्ययोरन्योऽन्यविषयतारूपोऽन्योन्यस्मिन्नन्योऽन्यप्रतिविम्बः सिद्धः। (सां.प्र. भा. १/८७)।

बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बन उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष में विषयाकार बुद्धि का। उनके अनुसार यह प्रतिबिम्बन उभयपक्षीय घटना है, एकपक्षीय नहीं। पारस्परिक प्रतिबिम्बन के लिए विज्ञानभिक्षु ने दोनों के मध्य एक विशिष्ट संयोग स्वीकार किया है। इस संयोग द्वारा चित् पुरुष बुद्धि में बिना संसक्त हुए प्रतिबिम्बित हो जाता है। अपने मत को वे दृष्टान्त के द्वारा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार लोहे के साथ अग्नि का संयोग-विशेष ही उस (लोहे) का उज्ज्वलन है, अग्नि का प्रकाश आदि उसमें संक्रान्त नहीं होता उसी प्रकार पुरुष का भी बुद्धि के साथ संयोग विशेष ही उसमें प्रतिबिम्बन है।[1] बुद्धि का सत्त्वोद्रेक रूप परिणाम होता है क्योंकि सत्त्वोद्रेक रूप परिणाम के बिना बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बन सम्भव नहीं है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के विषय में चार मत प्रचलित हैं। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में इन मतों का उल्लेख किया है।[2] सांख्य-दर्शन में ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः माना गया है। कुछ बौद्ध-दार्शनिक स्वतः अप्रामाण्य तथा परतः प्रामाण्य का मत स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को परतः ही माना गया है। मीमांसा-दर्शन में प्रामाण्य को तो स्वतः माना गया है किन्तु अप्रामाण्य को परतः स्वीकार किया गया है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ज्ञान की सहज विशेषताएँ हैं।[3] प्रामाणिक ज्ञान किसी विषय का निश्चित और अनधिगत ज्ञान होता है।[4] नवीनता, विषय की यथार्थता और निश्चितता प्रामाणिक ज्ञान की विशेषताएँ हैं। सांख्य-दार्शनिक न्याय-दार्शनिकों की भाँति प्रामाणिकता के लिए ज्ञान के बाह्य गुणों की अपेक्षा नहीं मानते। उनका मत है कि यदि ज्ञान की प्रामाणिकता अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करेगी तो उन बाह्य परिस्थितियों की प्रामाणिकता अन्य परिस्थितियों पर, इस प्रकार अनवस्था होगी। वास्तव में प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता ज्ञान की स्वाभाविक विशेषता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि प्रामाणिकता का निकष अर्थक्रियाकारित्व है[5] और जो पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं हैं वे शशश्रृङ्गादि की भाँति असत् हैं।

----

१. सां. प्र. भा. १/९९. २. सर्वदर्शन., पृष्ठ ५५७.

३. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। (सर्वदर्शन., पृष्ठ ५५७)।

४. सां. सूत्र १/८७; अनि. १/८७; सां. प्र. भा. १/८७.

५. यद्यदर्थक्रियाकारि तत् तत् सत्। (सां. प्र. भा. ५/२७)।

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ज्ञान में होते हैं, यह सिद्धान्त स्वव्याघाती प्रतीत होता है। किन्तु सांख्य-दृष्टि से यह असङ्गत नहीं है क्योंकि सांख्य का मत है कि वास्तविकता का जो अंश हमारे समक्ष प्रकट होता है वह सदैव हमारे दृष्टिकोण का सापेक्ष रूप ही होता है तथा सत्कार्यवाद (जो सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त है) के अनुसार केवल अव्यक्त ही व्यक्त हो सकता है अतः जो कुछ व्यक्त होता है उसे ज्ञान में पहले से विद्यमान रहना चाहिए।

त्रिविध प्रमाण

सांख्य-दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है तथा उसे त्रिविध बताया गया है। सांख्यसूत्र, सांख्यकारिका तथा उनके व्याख्याकारों ने प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्त-वचन ये तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु इन तीन प्रमाणों को मानने के सांख्य-मत के समर्थन के लिए मनुस्मृति (१२/१०५) को उद्धृत करते हैं जिसमें उपर्युक्त तीन प्रमाण माने गये हैं। सांख्य-दार्शनिकों का मत है कि इन तीन ही प्रमाणों से सभी प्रमेय पदार्थों की सिद्धि हो जाने से इससे अधिक प्रमाणों को मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्यक्ष—सांख्यसूत्रों में प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा 'यत्सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्' (१/८९) दी गयी है। इसके अनुसार पदार्थ से सम्बद्ध होनेपर वस्तु का आकार ग्रहण करनेवाली बुद्धिवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। वार्षगण्य ने प्रत्यक्ष की परिभाषा 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्'[1] मानी है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को कहते हैं। वार्षगण्य की यह परिभाषा न्यायवार्तिक[2] तथा प्रमाणसमुच्चय में भी मिलती है। सांख्य-दार्शनिकों की एक अन्य प्राचीन परिभाषा 'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका' न्यायमञ्जरी,[3] सन्मतितर्क प्रकरण[4] तथा प्रमाण-मीमांसा[5] में मिलती है। सन्मतितर्कप्रकरण में प्रत्यक्ष के इस लक्षण को विन्ध्यवासी का बताया गया है और वहाँ इस परिभाषा का खण्डन भी किया गया है।[6]

----

१. युक्ति. ५.
२. न्यायवा. १/१/४.
३. न्यायम., पृष्ठ १००.
४. सन्मतितर्क., पृष्ठ ५३३.
५. प्रमाणमी., पृष्ठ ३९.
६. श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिकेति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणमनेनैव निरस्तम्। (सन्मतितर्क., पृष्ठ ५३३)।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष की 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' (सांख्यका० ५) यह परिभाषा दी गई है, इसके अनुसार विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय पर आश्रित बुद्धि-व्यापार या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। माठर-वृत्ति में 'विषयं विषयं योऽध्यवसाय...तत्प्रत्यक्षम्' (माठ० ५) प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गयी है। इसके अनुसार विषय से संयुक्त इन्द्रिय व्यापार पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष को संशय से भिन्न बताकर संशय को प्रत्यक्ष की परिधि से अलग कर दिया गया है। युक्ति-दीपिकाकार ने प्रत्यक्ष का यही स्वरूप स्वीकार किया है तथा उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'विषयं विषयं प्रति वर्त्तते प्रतिविषयं किं तत् इन्द्रियम्। तस्मिन् योऽध्यवसायः' (युक्ति० ५) अर्थात् इन्द्रियों के अपने विषयों के सम्पर्क में आने पर उनमें अध्यवसाय होता है तब बुद्धिगत तमोगुण के अभिभूत होने से, सत्त्वगुण का आधिक्य, प्राबल्य या उद्रेक होनेपर विषय का निश्चित तथा व्यवस्थित ज्ञान होता है। युक्तिदीपिकाकार ने अपनी इस परिभाषा द्वारा सुख-दुःख तथा ऐसी ही अन्य अनुभूतियों—जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है—के प्रत्यक्ष की व्याख्या व्याकरण की सहायता से की है। वे 'प्रतिविषयाध्यवसायः' पद को एकशेष समास मान कर उसका विग्रह 'प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायः' करते हैं। इसमें प्रथम 'प्रतिविषयाध्यवसाय' पद का अर्थ इन्द्रिय के विषय से सम्बद्ध होनेपर जो बुद्धि का व्यापार होता है, उससे होनेवाले अध्यवसाय से है। इस पद में 'प्रति' शब्द का सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय से है। दूसरे पद का अर्थ भौतिक, मानसिक दूरस्थ, निकटस्थ सभी विषयों में बुद्धि के व्यापार से है। इस व्याख्या से मानसिक विषयों के प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय विषयों के योगज प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है। दूसरे पद में 'प्रति' शब्द का सीधा सम्बन्ध अध्यवसाय से है।[१] गौडपाद,[२] जयमङ्गलाकार[३] तथा वाचस्पति मिश्र[४] ने भी माठर तथा युक्तिदीपिका के मत का ही अनुसरण किया है। अनिरुद्ध तथा विज्ञानभिक्षु[६] ने भी वस्तु के आकार को ग्रहण करनेवाली बुद्धि की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस प्रत्यक्ष के लक्षण से योगियों के प्रत्यक्ष तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष का व्यावर्तन किया है क्योंकि योगियों को प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए विषय तथा उससे इन्द्रिय सन्निकर्ष की

---

१. युक्ति. ५. २. गौड. ५. ३. जयमं. ५.
४. तत्त्वकौ. ५. ५. अनि. १/८९. ६. सां. प्र. भा. १/८९.

आवश्यकता नहीं है और ईश्वर की सत्ता की सिद्धि नहीं होती इसलिए उसके प्रत्यक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता (सां० प्र० भा० १/९०–९२)।

सांख्यसूत्रों तथा सांख्यकारिका के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रियों के विषयों से सम्बद्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक, निश्चयात्मक, असन्दिग्ध तथा व्यवस्थित ज्ञान है। योगभाष्य में भी इसी मत का प्रतिपादन हुआ है।[1] वार्षगण्य[2] तथा विन्ध्यवासी[3] की प्रत्यक्ष की परिभाषा में केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष का ही प्रतिपादन हुआ है। इन आचार्यों की परिभाषा के अनुसार इन्द्रियाँ अपने विषयों के सम्पर्क में आकर तदाकार हो जाती हैं, यही प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्षज्ञान में नाम-जाति से रहित निर्विकल्पक ज्ञान होता है। दिङ्नाग आदि बौद्धों का प्रत्यक्ष-सम्बन्धी मत 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्य-संयुतम्' अर्थात् प्रत्यक्ष नाम-जाति आदि से रहित, कल्पनाशून्य, भ्रान्तिभिन्न निर्विकल्पक ज्ञान है—वार्षगण्य तथा विन्ध्यवासी के मत के सदृश ही है।

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं—माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपाद-भाष्य तथा तत्त्वकौमुदी में प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन नहीं है। किन्तु जय-मङ्गलाकार ने प्रामाणिक और अप्रामाणिक के भेद से दो प्रकार के प्रत्यक्ष स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार शुद्ध प्रत्यक्ष प्रामाणिक तथा अशुद्ध प्रत्यक्ष अप्रामाणिक होता है। उन्होंने अप्रामाणिक प्रत्यक्ष को सव्यपदेश, सविकल्प, अर्थव्यतिरेकि तथा इन्द्रियव्यतिरेकि के भेद से चतुर्विध माना है।[4] अनिरुद्ध[5] तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु[6] ने प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों भेद स्वीकार किये हैं। प्रो० सातकड़ि मुकर्जी का मत है कि निर्विकल्पक और सविकल्पक का भेद मूल सांख्य की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है।[7]

निर्विकल्प प्रत्यक्ष सविकल्प की पूर्वावस्था है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में पदार्थ

---

१. सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। (योगभा. १/७)।
२. श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। (युक्ति. ५)।
३. श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका। (न्यायम., पृष्ठ १००)।
४. दृष्टं शुद्धत्वात् प्रमाणम्, अशुद्धत्वादप्रमाणम्। तच्चतुर्विधम्—सव्यपदेशम्, सविकल्पम्, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रियव्यतिरेकि चेति। (जयम. ५)।
५. तदुभयं सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्च। (अनि. १/८९)।
६. ...निर्विकल्पकसविकल्पकरूपं द्विविधमप्यैन्द्रियकं ज्ञानमालोचनसंज्ञमिति लब्धम्। (सां. प्र. भा. २/३२)।
७. H. P. E. W. Vol. I, p. 255.

का नाम-जाति से रहित ज्ञान होता है। अनिरुद्ध का मत है कि सादृश्य से संस्कारों के बोध द्वारा स्मृति से नाम, जाति आदि विकल्पों सहित जो अधिक ज्ञान होता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सविकल्पक प्रत्यक्ष को मनोजन्य मानने के अनिरुद्ध के मत का खण्डन किया है।[2] विज्ञानभिक्षु निर्विकल्प की भाँति ही सविकल्प प्रत्यक्ष को भी इन्द्रियजन्य मानते हैं।[3] निर्विकल्प और सविकल्प में अन्तर बताते हुए वे कहते हैं कि पुनः वस्तु का धर्म, द्रव्य, रूप तथा जाति आदि से युक्त ज्ञान ही सविकल्प प्रत्यक्ष है।[4] अपने मत के समर्थन में विज्ञानभिक्षु ने योगभाष्यकार व्यास का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया है।[5]

यद्यपि लौकिक व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा विश्वसनीय है तथा मूर्द्धन्य स्थान रखता है तथापि सभी वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता है। बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जहाँ प्रत्यक्ष की गति नहीं है। सत्ताशील होते हुए भी पदार्थ इन्द्रियों के सन्निकर्ष का विषय नहीं हो पाता।[6] विषयों के अत्यन्त दूर होने या इन्द्रियों के विकृत हो जाने से विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष में अन्य बाधकों का उल्लेख सांख्यकारिका[8] में किया गया है। अत्यन्त समीप होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे आँख के अञ्जन का अत्यधिक सामीप्य होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। मन के अस्थिर तथा विचलित होनेपर विषय और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होनेपर भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

सांख्य का मत है कि अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ का भी सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। ईश्वरकृष्ण भी सूक्ष्मता को प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक मानते हैं। सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों तथा अनिरुद्ध ने सूक्ष्मता के कारण पदार्थों के न ग्रहण होने में परमाणु का उदाहरण दिया है। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने सूक्ष्मत्व का अर्थ अल्प-परिमाण या अणु-परिमाण नहीं माना है क्योंकि प्रकृति का प्रत्यक्ष

---

१. ...सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते, अतएवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति। (अनि. १/८९)।

२. कश्चित् तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यं च भवति, सविकल्पकं मनोमात्रजन्यमिति। (सां. प्र भा. २/३२)।

३. निर्विकल्पकसविकल्पकरूपं द्विविधमप्यैन्द्रियकं ज्ञानमालोचनसंज्ञमिति लब्धम्। (सां. प्र. भा. २/३२)।

४. वही। ५ वही। ६. वही १/१०८. ७. वही। ८. सांख्यका. ७.

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण नहीं हो पाता, यह मानने के साथ ही प्रकृति को विभु माना गया है। अतः सूक्ष्मता का अर्थ अणुत्व नहीं हो सकता। अनिरुद्ध ने १/१०८ की वृत्ति में सूक्ष्मत्व का अर्थ अणुत्व किया है,[1] किन्तु उन्होंने १/१०९ की वृत्ति में सूक्ष्मता का अर्थ दुरूहत्व ही किया है और अणुत्व के मत का खण्डन किया है क्योंकि प्रकृति विभु है।[2] सम्भवतः अनिरुद्ध ने सांख्य-कारिका के टीकाकारों की परम्परा में सूक्ष्मत्व का अर्थ अणुत्व कर दिया होगा किन्तु दूसरे ही सूत्र में इस असङ्गति को जानकर अपने पहले मत का खण्डन कर दिया। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सूक्ष्मता का अर्थ अणुत्व तथा दुरूहत्व मानने के दोनों मतों का खण्डन किया है। उन्होंने सूक्ष्मत्व के दो अर्थ किये हैं—'प्रत्यक्षप्रमाप्रतिबन्धिकाजाति' (अर्थात् जहाँ प्रत्यक्ष न हो सके) तथा 'निरवयवत्व'।[3]

इन्द्रियों और वस्तु के मध्य में व्यवधान होने से वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। अन्य पदार्थों द्वारा अभिभूत पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार सजातीय पदार्थों से मिल जानेपर भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

अनुमान प्रमाण—सांख्य-दर्शन में व्याप्ति के ज्ञान से व्याप्त वस्तु को देख कर जो व्यापक का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहा गया है।[4] युक्ति-दीपिका एवं न्यायवार्त्तिक में सांख्यदार्शनिकों की 'सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्' यह परिभाषा मिलती है।[5] इस परिभाषा के अनुसार प्राचीन सांख्य में सात प्रकार के सम्बन्धों को माना जाता था तथा इन्हीं में से किसी एक या एक से अधिक सम्बन्ध के आधार पर, इन सम्बन्धों से सम्बद्ध दो पदार्थों में से एक की उपस्थिति या अनुपस्थिति से दूसरे की उपस्थिति या अनुपस्थिति का अनुमान किया जाता था। न्यायवार्त्तिककार[6] तथा दिङ्नाग[7] ने इस परिभाषा का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका' में इस

---

१. सौक्ष्म्यादणोः (अनि. १/१०८)।

२. दुरूहत्वं सौक्ष्म्यं न त्वणुत्वम्, प्रकृतेर्विभुत्वात्। (अनि. १/१०९)।

३. सूक्ष्मत्वं नाणुत्वम्, विश्वव्यापनात्। नापि दुरूहत्वादिकम्, दुर्वचत्वात्। किन्तु प्रत्यक्ष-प्रतिबन्धिका जातिः। ...अथवा निरवयवद्रव्यत्वमेवात्र सूक्ष्मत्वम्। (सां.प्र.भा. १/१०९)।

४. प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। (सां. सूत्र १/१००)।

५. युक्ति. १, न्यायवा. १/१/५.　　६. न्यायवा. १/१/५.

७. प्रमाणस. वृत्ति. २/३५.

परिभाषा की व्याख्या करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सात प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख इस प्रकार है—

मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः ।
स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः सांख्यानां सप्तधानुमा ।। (न्यायवार्त्तिककृता० १/१/५)।

सांख्यकारिका की जयमङ्गला टीका[1] में सात प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख इस प्रकार है—

स्व-स्वामि	सम्बन्ध	राजा-पुरुष
प्रकृति-विकार	,,	यव-सत्तु
कार्य-कारण	,,	धेनु-वत्स
पात्र-पात्रिक	,,	परिवृट-त्रिविष्टब्ध
साहचर्य	,,	चक्रवाक-चक्रवाकी
प्रतिद्वन्द्वि	,,	शीत-उष्ण
निमित्त-नैमित्तिक	,,	भोज्य-भोजक

सांख्य-सूत्रों में 'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्' (सांख्यसूत्र १/१००) अनुमान की यह परिभाषा दी गयी है। इस परिभाषा के अनुसार व्याप्ति के ग्रहण द्वारा व्याप्य के दर्शन से व्यापक का जो ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण है। सांख्यकारिका में अनुमान को लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक उत्पन्न माना गया है।[2] सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका[3] तथा जयमङ्गला[4] आदि टीकाओं में भी अनुमान का यही लक्षण स्वीकार किया गया है। अनिरुद्ध का मत है कि अविनाभावी व्याप्य के दर्शन से जो व्यापक का ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण है तथा अनुमान प्रमाण से होनेवाली अनुमिति पौरुषेय-बोध[5] है। विज्ञानभिक्षु का भी मत है कि नियत साहचर्यरूप व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्त वस्तु के दर्शन के पश्चात् व्यापक का जो निश्चय है वह अनुमान प्रमाण है और पौरुषेयबोध अनुमिति है।[6]

सांख्य-दर्शन में व्याप्य-व्यापक के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहा गया है।[7] आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार साध्य (व्याप्य) और साधन (व्यापक)

---

१. जयम. ५.   २. तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्। (सांख्यका. ५)।
३. युक्ति. ५.   ४. जयम. ५.   ५. अनि. १/१००.
६. सां. प्र. भा. १/१००.
७. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः। (सां.सूत्र ५/२९)।

का व्यभिचाररहित सहचार-दर्शन ही व्याप्ति है।[1] उनका मत है कि यह अव्यभिचरित सम्बन्धरूप व्याप्ति कोई पृथक् तत्त्व नहीं है प्रत्युत नियत सहचार ही है।[2] वस्तुस्वभाव से ही जिसका साहचर्य (अविनाभाव) सम्बन्ध हो उसे व्याप्य कहते हैं तथा जिसके साथ वह सम्बन्ध हो, उसे व्यापक कहते हैं।

विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने अनुमान के दो लक्षण दिये हैं 'यथार्थलिङ्गज्ञानाज्जायमानं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानम्' (तत्त्वया० २३) अर्थात् यथार्थ लिङ्गज्ञान से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमिति है और इसका करण अनुमान है। उनका दूसरा लक्षण 'लिङ्गज्ञानाज्जायमाना साध्यविशिष्ट-पक्षाकारान्तःकरणवृत्तिः' (तत्त्वया० २३) अर्थात् लिङ्गज्ञान से उत्पन्न साध्य-विशिष्ट पक्ष के आधार वाली अन्तःकरण की वृत्ति अनुमान प्रमाण है।

सांख्यसूत्रों में अनुमान के पाँच अवयव स्वीकार किये गये हैं।[3] माठरवृत्ति में अनुमान के तीन अवयव बताये गये हैं तथा कहा गया है कि अन्य लोग पाँच अवयव भी स्वीकार करते हैं। माठर ने अनुमान के पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त तीन अवयव बताये हैं। वे पक्ष और प्रतिज्ञा को एक ही मानते हैं। उनका मत है कि जहाँ साध्यवस्तु हो वह पक्ष है, अन्य पक्षाभास है। ये पक्षाभास नौ प्रकार के हैं। उनके अनुसार हेतु के तीन रूप हैं--(१) पक्ष में रहना, (२) सपक्ष में रहना तथा (३) विपक्ष में न रहना। इसके अतिरिक्त सब हेत्वा-भास हैं और ये हेत्वाभास चौदह प्रकार के हैं। दृष्टान्त की अपर संज्ञा उन्होंने निदर्शन मानी है और यह निदर्शन साधर्म्य तथा वैधर्म्य के भेद से द्विविध है। इसके अतिरिक्त दस प्रकार के निदर्शनाभास हैं। इस प्रकार तैंतीस आभास से रहित अनुमान के तीन अवयव हैं। अनुमान के पाँच अवयव माननेवालों के मत में प्रतिज्ञा, उपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय--ये पाँच अवयव हैं। इस पञ्चावयव वाक्य से स्वयं को ज्ञात पदार्थ को दूसरे को ज्ञान कराया जाता है, इसलिए यह परार्थ अनुमान है।[4] किन्तु वृत्तिकार अनिरुद्ध[5]

---

१. उभयोः साध्यसाधनयोरेकतरस्य साधनमात्रस्य वा नियतोऽव्यभिचरितो यः सहचारः स व्याप्तिः। (सां. प्र. भा. ५/२९)।

२. नियतधर्मसाहित्यातिरिक्ता व्याप्तिर्न भवति। (सां. प्र. भा. ५/३०)।

३. पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः। (सां. सूत्र ५/२७)।

४. माठ. ५.

५. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनमिति पञ्च। (अनि. ५/२७)।

तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु[1] ने प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन--ये पाँच अनुमान के अवयव स्वीकार किये हैं।

सांख्यसूत्रों में अनुमान के भेदों का उल्लेख नहीं है। सांख्यकारिका में केवल 'त्रिविधमनुमानम्' (सांख्यका० ५) कहकर छोड़ दिया गया है। किन्तु सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों ने अनुमान के तीनों भेद पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्ट का स्पष्ट उल्लेख किया है। युक्तिदीपिका में सांख्य को वीत और अवीत अनुमान को माननेवाला कहा गया है।[2] सम्भवतः इसी कारण वाचस्पति मिश्र ने पहले अनुमान के वीत और अवीत दो भेद किये हैं एवं पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट अनुमान को वीत अनुमान के अन्तर्गत तथा शेषवत् को अवीत अनुमान के अन्तर्गत माना है।[3] वृत्तिकार अनिरुद्ध ने अनुमान के अन्वयि, व्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि, पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ६ भेद माने हैं।[4] किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट--तीन भेद ही स्वीकार किये हैं।[5]

सांख्य-दर्शन में कारण को देखकर कार्य के अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा गया है। माठरवृत्ति,[6] युक्तिदीपिका,[7] गौडपादभाष्य[8] तथा जयमङ्गला[9] में घिरे हुए मेघों को देखकर भावी वृष्टि के अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा गया है। किन्तु माठरवृत्ति में पूर्ववत् अनुमान का दूसरा उदाहरण यह दिया गया है कि अत्यधिक जल से भरी नदी को देखकर यह अनुमान करना कि ऊपर तट पर वर्षा हुई होगी।[10] आचार्य वाचस्पति मिश्र ने पूर्ववत् अनुमान की--'दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत्'--यह परिभाषा दी है। उनके अनुसार पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसी किसी वस्तु का सामान्यरूप

----

१. पञ्चावयवाश्च न्यायस्य प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि। (सां. प्र. भा. ५/२७)।
२. वीतावीतविषाणस्य पक्षतावनसेविनः।
प्रवादाः सांख्यकारिणः सल्लकीषण्डभंगुराः॥ (युक्ति. मङ्गला. १)।
३. तत्त्वकौ. ५.
४. अन्वयि, व्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्च संगृहीतम्। (सां. प्र. भा. १/१०३)।
५. अनुमानं तावत् त्रिविधं भवति—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च। (सां. प्र. भा. १/१०३)।
६. माठ. ५. ७. युक्ति. ५. ८. गौड. ५.
९. जयम. ५. १०. माठ. ५.

होता है जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो जैसे धूप के द्वारा 'वह्नित्व' रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न विशेष रूप पर्वतीय वह्नि का अनुमान होता है जिसका वैयक्तिक रूप रसोईघर में पहले देखा जा चुका है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पूर्ववत् की परिभाषा 'प्रत्यक्षीकृतजातीयविषयकं पूर्ववत्' दी है। उनका मत है कि धूम से वह्नि के अनुमान में वह्नि जाति का प्रत्यक्ष पहले ही रसोईघर में हो चुका होता है।[2]

सांख्यदर्शन में कहीं कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा गया है और कहीं उसे परिशेषानुमान बताया गया है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र,[3] युक्तिदीपिका[4] तथा जयमङ्गला[5] में जलपूर्ण नदी को देखकर नदी के तट पर वर्षा होने के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा गया है। माठरवृत्ति[6] तथा गौडपादभाष्य[7] में शेषवत् अनुमान का यह स्वरूप माना गया है। समुद्र से कुछ बूँदें लेकर, उन्हें चखकर, उनके खारी होने के अनुभव के आधार पर यह अनुमान करना कि शेष जल भी खारा होगा, शेषवत् अनुमान है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार बचा हुआ अर्थात् अवशिष्ट जिस अनुमान ज्ञान का विषय होता है वह शेषवत् अनुमान है। शेषवत् अनुमान का उदाहरण वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिया है—किसी वस्तु की जहाँ कहीं सम्भावना हो, वहाँ सर्वत्र उसका निषेध करके अन्यत्र उसकी सम्भावना न होने के कारण बचे हुए पदार्थ में उसका ज्ञान करना शेषवत् अनुमान है।[8] आचार्य विज्ञान-भिक्षु भी शेषवत् अनुमान को व्यतिरेकी अनुमान मानते हैं। उन्होंने शेषवत् अनुमान का स्वरूप इस प्रकार निर्द्धारित किया है—जो द्रव्य पृथिवीतर अन्य तत्त्वों से अभिन्न है उसमें गन्ध नहीं है किन्तु पृथिवी में गन्ध है, अतः पृथिवी पृथिवीतर द्रव्यों से भिन्न है।[9]

अनुमान का तीसरा भेद सामान्यतोदृष्ट है। सांख्य-दार्शनिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही प्रकृति और पुरुष की सिद्धि होना स्वीकार करते हैं।[10]

---

१. तत्त्वकौ. ५.

२. प्रत्यक्षीकृतजातीयविषयकं पूर्ववत्। यथा धूमेन वह्न्यनुमानम्। वह्निजातीयो हि महानसादौ पूर्वं प्रत्यक्षीकृतः। (सां. प्र. भा. १/१०३)।

३. सुवर्ण. ५. ४. युक्ति. ५. ५. जयम. ५. ६. माठ. ५.

७. गौड. ५. ८. तत्त्वकौ. ५.

९. व्यतिरेकानुमानं शेषवत्... यथा पृथिवीत्वेनेतरभेदानुमानम्। (सां. प्र. भा. १/१०३)।

१०. उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः। (सां. सूत्र १/१०२)।

सुवर्णसप्ततिशास्त्र,[१] माठरवृत्ति,[२] युक्तिदीपिका[३] तथा गौडपादभाष्य[४] में एक स्थान पर पुष्पित आम को देख कर अन्य स्थान पर भी आम पुष्पित हो गये होंगे—इस अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा गया है। जयमङ्गला में सामान्यतोदृष्ट अनुमान का वर्णन इस प्रकार किया गया है—जिस प्रकार देवदत्त को दूसरे प्रदेश में देखकर उसकी गति का अनुमान होता है उसी प्रकार सूर्य आदि को अन्य प्रदेश में देखने से उनकी भी गति का अनुमान होता है।[५] वाचस्पति मिश्र ने सामान्यतोदृष्ट की परिभाषा 'अदृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषयम्' दी है। इस परिभाषा के अनुसार सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय ऐसी सामान्यवस्तु होती है जिसका अपना साधारण या विशिष्ट रूप पहले न देखा गया हो। उन्होंने सामान्यतोदृष्ट का यह उदाहरण दिया है—रूप-रस आदि विषयक ज्ञान क्रिया होने के कारण अवश्य ही करण के द्वारा उत्पन्न होगा, अतः इन कार्यों का करण चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं।[६] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान की व्याख्या 'सामान्यतः प्रत्यक्षादिजातीयमादाय व्याप्तिग्रहात् पक्षधर्मताबलेन तद्विजातीयोऽप्रत्यक्षाद्यर्थः सिद्धयति'—इस प्रकार की है। अर्थात् अप्रत्यक्षजातीय पदार्थ का अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। उनके अनुसार रूप आदि ज्ञान के क्रियारूप होने से करणजन्य होने का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।[७] वे सामान्यतोदृष्ट अनुमान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पृथिवीत्व आदि जातीय करण कुठार को लेकर उसकी व्याप्ति ग्रहण करके उसके विजातीय तथा अतीन्द्रिय ज्ञान के करण की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है।[८] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति और पुरुष की सिद्धि होती है।[९]

शब्द-प्रमाण—चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक दार्शनिकों को छोड़कर अन्य दार्शनिकों की भाँति सांख्य दार्शनिक शब्द-प्रमाण को स्वीकार करते हैं। शब्द-

---

१. सुवर्ण. ५. २. माठ. ५. ३. युक्ति. ५. ४. गौड. ५.

५. सामान्यतोदृष्टम्—सामान्येन लिङ्गालिङ्गिदृष्टत्वात्। यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिर्दृष्टा, तथा सूर्यादीनां सामान्येन देशान्तरप्राप्त्या गतिरनुमीयते। (जयम. ५)।

६. तत्त्वकौ. ५.

७. सामान्यतः प्रत्यक्षादिजातीयमादाय व्याप्तिग्रहात् पक्षधर्मताबलेन तद्विजातीयोऽप्रत्यक्षाद्यर्थः सिध्यति। यथा रूपादिज्ञाने क्रियात्वेन करणवत्त्वानुमानम्। (सां. प्र. भा. १/१०३)।

८. अत्र हि पृथिवीत्वादिजातीयं कुठारादिकरणमादाय व्याप्तिं गृहीत्वा तद्विजातीयमतीन्द्रियं ज्ञानकरणमिन्द्रियं साध्यत इति। (वही, १/१०३)।

९. वही।

प्रमाण या आप्त-वचन से भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस पदार्थ का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष-अनुमान से नहीं होता उसका ज्ञान शब्द-प्रमाण से होता है।[1] माठर का मत[2] है कि स्वर्ग में अप्सरायें हैं, नन्दन-वन तथा विमान में बैठना आदि ज्ञान शब्द का विषय है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि मोक्ष के उत्कर्ष के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है।[3] शब्द-प्रमाण में अनुमान के परम्परया कारण होने से अथवा शब्द-ज्ञान के अनुमानपूर्वक होने से सांख्य-दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण के पश्चात् शब्द-प्रमाण का निरूपण किया है।

सांख्यसूत्र में शब्द-प्रमाण का लक्षण 'आप्तोपदेशः शब्दः' (१/१०१) किया गया है अर्थात् आप्त अथवा विश्वसनीय पुरुष का उपदेश ही शब्द-प्रमाण है। ईश्वरकृष्ण ने शब्द-प्रमाण का लक्षण 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' किया है। वृत्तिकार अनिरुद्ध,[4] आचार्य विज्ञानभिक्षु[5] तथा उनके शिष्य भावागणेश[6] ने शब्द से जन्य बुद्धिवृत्ति को प्रमाण तथा उसके फल पौरुषेय-बोध को शाब्द प्रमा माना है। माठरवृत्ति में शब्दवृत्ति के जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा तीन भेद माने गये हैं।[7]

सांख्य-दर्शन में शब्द और अर्थ में वाच्य और वाचक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।[8] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि अर्थ में वाच्यता कही जानेवाली शक्ति तथा शब्द में वाचकता कही जानेवाली शक्ति है। अर्थ में वाच्यता कही जानेवाली शक्ति तथा शब्द में वाचकता कही जानेवाली शक्ति ही उनका सम्बन्ध है तथा उनके इस सम्बन्ध के ज्ञान से शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।[9] सांख्य-दर्शन में शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध का ज्ञान तीन प्रकार से होना माना गया है।[10] वृत्तिकार अनिरुद्ध[11] तथा आचार्य

---

१. सां. प्र. भा. १/६०. २. माठ. ४. ३. सां. प्र. भा. १/५.

४. अनि. १/१०१.

५. योग्यः शब्दस्तज्जन्यं ज्ञानं शब्दाख्यं प्रमाणमित्यर्थः। फलं च पौरुषेयः शाब्दो बोधः। (सां. प्र. भा. १/१०१)।

६. आप्तवचनजन्यज्ञानं शब्दप्रमा तत्कारणं शाब्दप्रमाणम्। (तत्त्वया. २३)।

७. शब्दवृत्तयः। तत्र लक्षणात्रैविध्यम्। जहल्लक्षणाजहल्लक्षणाजहदजहल्लक्षणा च। (माठ. ५)

८. वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः। (सां. सूत्र ५/३७)।

९. अर्थे वाच्यताख्या शक्तिः शब्दे वाचकताख्या शक्तिरस्ति सैव तयोः सम्बन्धोऽनुयोगितावत्। तज्ज्ञानाच्छब्देनार्थोपस्थितिः। (सां. प्र. भा. ५/३७)।

१०. त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः। (सां. सूत्र ५/३८)। ११. अनि. ५/३८.

विज्ञानभिक्षु[1] के अनुसार आप्तोपदेश अर्थात् आप्त पुरुष के वाक्य से, वृद्धों की व्यवहार परम्परा से तथा प्रसिद्धपद के सामानाधिकरण्य से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। वृत्तिकार अनिरुद्ध ने दृष्टान्त द्वारा इन सम्बन्धों को स्पष्ट किया है—आप्त शब्द से 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। 'सफेद डण्डे से गाय को लाओ' इस वाक्य से प्रयोजक वृद्ध के वाक्य से प्रयोज्य वृत्ति को देखकर बालक को जो शब्द और अर्थ का ज्ञान होता है वह वृद्ध-व्यवहार से होता है। 'पक्षी आम खाते हैं' इस वाक्य से आम खाने के लिए है ऐसा जो ज्ञान होता है वह प्रसिद्ध सामानाधिकरण्य से होता है।[2] वृत्तिकार अनिरुद्ध[3] तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु[4] के मतानुसार शब्द और अर्थ की शक्ति का ग्रहण साध्य और सिद्ध दोनों प्रकार के पदार्थों से होता है और इसी से वेद-वाक्य को प्रामाणिक माना जाता है। सांख्य-दार्शनिकों का मत है कि लौकिक शब्दार्थ में व्युत्पन्न व्यक्ति को वेद के अर्थ की प्रतीति हो जाती है क्योंकि लौकिक अर्थ की शक्ति वैदिक अर्थ की शक्ति से भिन्न नहीं है।[5] वेद अपौरुषेय हैं तथा वेद के पदार्थ अतीन्द्रिय हैं इसलिए उपर्युक्त तीन प्रकारों से भी वेद के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती[6] इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वेद के अर्थ की जो स्वाभाविकी शक्ति है वही वृद्धपरम्पराजनित व्युत्पत्ति से शिष्य-बुद्धि में यथार्थतः लायी जाती है इसलिए वेद के अर्थज्ञान में कोई बाधा नहीं होती।[7]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार वाक्यार्थज्ञान स्वतःप्रमाण है।[8] तत्त्वकौमुदी की टीका विद्वत्तोषिणी में बालराम उदासीन ने वाक्यार्थज्ञान को द्विविध बताया है। प्रथम, अन्य प्रमाण से स्वतन्त्र अपने अर्थ का बोध कराने में समर्थ वेदवाक्य से जन्य—जो स्वतःप्रमाण है तथा द्वितीय वेदरूप मूलप्रमाण की अपेक्षा रखनेवाले स्मृति आदि के वाक्यों से जन्य—जो परतःप्रमाण है।[9] सांख्य दार्शनिकों का

---

१. आप्तोपदेशो वृद्धव्यवहारः प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यम्—इत्येतैस्त्रिभिरुक्तसम्बन्धो गृह्यत इति। (सां. प्र. भा. ५/३८)।

२. अनि. ५/३८. ३. अनि. ५/३९. ४. सां. प्र. भा. ५/३९.

५. लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः। (सां. सूत्र ५/४०)।

६. सां. सूत्र ५/४१. ७. सां.प्र.भा. ५/४३. ८. तच्च स्वतः प्रमाणम्। (तत्त्वकौ. ५)।

९. वाक्यजन्यं ज्ञानं द्विविधम्—एकमन्यप्रमाणनिरपेक्षस्वार्थबोधनसमर्थमाम्नायवाक्यजन्यं स्वतः-प्रमाणम्, अपरं चाम्नायरूपमूलप्रमाणसापेक्षस्मृत्यादिवाक्यजन्यं परतःप्रमाणम्। (विद्वत्तो. ५)।

मत है कि वेद की जो अपनी स्वाभाविक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है उससे वेद का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है।[1] वाचस्पति मिश्र का मत है कि प्रथम प्रकार का वाक्यार्थ ज्ञान अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने के कारण भ्रम प्रमाद आदि समस्त दोषों से रहित होने के कारण युक्त तथा अबाधित-विषय होता है एवं द्वितीय प्रकार का वेद का आधार लेकर लिखे गये स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त होता है।[2] तत्त्व-कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने अपौरुषेय वेद-वाक्यों के अतिरिक्त आदि विद्वान् कपिल आदि ऋषियों के वचनों को भी प्रमाण माना है।[3] उनका मत है कि आदि ज्ञानी कपिल को पूर्व कल्प में अध्ययन किये हुए वेद का इस कल्प के आरम्भ में स्मरण होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सो कर उठे हुए पुरुष को पहले दिन जाने गये विषयों का दूसरे दिन स्मरण होता है।[4] अतः पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों प्रकार के वचन आप्त प्रमाण हैं। 'आप्त' पद के ग्रहण का औचित्य बताते हुए तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं कि 'आप्त' शब्द से बौद्ध, जैन तथा चार्वाक के आगम सदृश प्रतीत होनेवाले असत् वचनों का परित्याग हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध, जैन आदि दार्शनिकों के वचनों को आगमाभास कहा है। उनका मत है कि इन वचनों की असत्यता निन्दित होने, वेदमूलक न होने, प्रमाणविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने तथा कुछ ही म्लेच्छ, नीच, पशु सदृश आदि के द्वारा स्वीकृत होने से सिद्ध होती है।[5]

सांख्य-दर्शन में शब्द को स्वतःप्रमाण माना गया है।[6] सांख्य दार्शनिकों की दृष्टि में भी वेद अपौरुषेय है[7] तथापि वे वेद को अनित्य ही मानते हैं।

----

१. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रमाणम् (सां. सूत्र ५/५१)।

२. अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति। एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति। (तत्त्वकौ. २)।

३. तत्त्वकौ. २.

४. आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः सुप्तबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः। (तत्त्वकौ. २)।

५. आप्तग्रहणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासा परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्वा बोद्धव्यम्। (तत्त्वकौ. ५)।

६. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। (सां. सूत्र ५/५१)। ७. सां. सूत्र ५/४१.

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने श्रुति का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि श्रुति में वेद के निर्माण किये जाने का वर्णन है।[1] किन्तु वेद के कर्त्ता पुरुष का अभाव होने के कारण वेद अपौरुषेय ही है।[2] जिस प्रकार अङ्कुर आदि पुरुष-कृत न होनेपर भी नित्य नहीं है उसी प्रकार वेद भी अपौरुषेय होने पर भी नित्य नहीं है।[3] सांख्यसूत्रों[4] में श्रुति की प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है और इन सूत्रों के व्याख्याकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पद-पद पर श्रुतियों के उद्धरण देकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है।

कुछ बौद्ध तथा वैशेषिक दार्शनिक शब्द-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में कर लेते हैं। किन्तु सांख्य-दार्शनिकों का मत है कि शब्द-प्रमाण में वाक्य का अर्थ प्रमेय होता है और वाक्य इस प्रमेय का धर्म, लिङ्ग या साधन नहीं है। धूम से वह्नि के अनुमान में धूम वह्नि का धर्म है इसलिए वह वह्नि का लिङ्ग या अनुमापक हो सकता है किन्तु वाक्य वाक्यार्थ का धर्म नहीं है, अतः वह वाक्यार्थ का लिङ्ग नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अनुमान सदैव व्याप्ति-ग्रहण पूर्वक होता है किन्तु शाब्दज्ञान के लिए व्याप्तिग्रहण आवश्यक नहीं है। इसीलिए सांख्य-दार्शनिक शब्द को अनुमान से पृथक् और स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के स्वतन्त्र प्रमाण होने का निराकरण

सांख्यसूत्र, सांख्यकारिका तथा उनके व्याख्याकारों का मत है कि सभी प्रमेय पदार्थों की प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—इन तीन प्रमाणों से ही सिद्धि हो जाने से तथा अन्य प्रमाणों का इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाने से इन तीन प्रमाणों से भिन्न अन्य स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का भी मत है कि सभी प्रमेय पदार्थों की प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—इन तीन प्रमाणों से सिद्धि हो जाने से इनसे अधिक प्रमाण मानना अनावश्यक है। उनका मत है कि स्मृतिकार मनु ने भी यही तीन प्रमाण माने हैं, अतः ये तीन प्रमाण ही मानना युक्तियुक्त है।[5]

---

१. सां. प्र. भा. ५/४५. २. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् (सां.प्र.भा. ५/४६)।

३. नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्। (सां. प्र. भा. ५/४८)।

४. सां. सूत्र १/५, ३६, ७७, ८३, १४७, १५४, २/२०, २२, ३/१५, ८०, ४/२२.

५. त्रिविधप्रमाणसिद्धौ च सर्वस्यार्थस्य सिद्धेर्न प्रमाणाधिक्यं सिद्ध्यति... अतएव मनुनापि प्रमाणत्रयमेवोपन्यस्तम्—

आचार्य विज्ञानभिक्षु तथा अन्य सभी सांख्य दार्शनिकों ने उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा ऐतिह्य आदि का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में कर लिया है। उनके अनुसार उपमान-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में हो जाता है।[1] सांख्यकारिका के टीकाकार माठर, जयमङ्गलाकार तथा सांख्य-चन्द्रिकाकार ने भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में किया है। किन्तु युक्तिदीपिकाकार तथा गौडपाद उपमान का अन्तर्भाव शब्द-प्रमाण में तथा वाचस्पति मिश्र प्रत्यक्ष एवं अनुमान में करते हैं। इसी प्रकार आचार्य विज्ञान-भिक्षु अर्थापत्ति का भी अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। सांख्य के सभी टीका-कारों ने अर्थापत्ति को अनुमान के ही अन्तर्गत माना है। विज्ञानभिक्षु अनुपलब्धि प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं[2] किन्तु गौडपाद ने अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द और अनुमान में किया है। ऐतिह्य का अन्तर्भाव विज्ञानभिक्षु ने शब्द-प्रमाण में किया है।[3] यही मत अन्य सांख्य-दार्शनिकों को भी मान्य है।

कारणतावाद तथा सांख्य का सत्कार्यवाद

सांख्य-दर्शन में त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही समस्त सृष्टि का आविर्भाव माना गया है। सृष्टि का अभिप्राय प्रकृति में अव्यक्त रूप में विद्यमान स्थूल एवं सूक्ष्म, स्थावर एवं जङ्गम—अशेष कार्यों का व्यक्त होना है। सांख्य-दर्शन के अनुसार कारण में निहित कार्य का आविर्भाव कार्य की उत्पत्ति तथा कारण में कार्य का तिरोभाव कार्य का नाश है।

भारतीय दर्शन में कार्य-कारण-सिद्धान्त के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। कार्य कारणात्मक होता है, इस सम्बन्ध में सभी का मतैक्य है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी (९) में कार्यकारण के चार मतों का उपस्थापन किया है। पहला मत बौद्धों का है, उनके अनुसार असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है।[4] बौद्धों का मत है कि कारणवस्तु से कार्यवस्तु की उत्पत्ति तभी होती

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ (मनु. १२/१०५)। (सां.प्र.भा. १/८८)।

१. सां. प्र. भा. १/८८.

२. अनुपलब्ध्यादीनां च प्रत्यक्षे प्रवेशः। (वही)।

३. वही।

४. असतः सत् जायते (तत्त्वकौ. ९)।

है जब कारणवस्तु नष्ट हो जाती है। उनके मतानुसार बीज से अङ्कुर तभी उत्पन्न होता है जब बीज नष्ट हो जाता है।

कारणतावाद में दूसरा मत अद्वैत वेदान्तियों का है। उनके अनुसार समस्त कार्य जगत् एक ही (ब्रह्मरूप) सत् का कल्पित या अतात्त्विक परिणाम है।[1] जिस प्रकार रजत के उपस्थित न होनेपर भी शुक्ति में रजत की कल्पना कर ली जाती है तथा सर्प के न रहनेपर भी भ्रम से रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है उसी प्रकार जगत् के वस्तुतः न होनेपर भी ब्रह्म में उसे कल्पित कर लिया जाता है। जिस प्रकार शुक्ति और रज्जु का वास्तविक ज्ञान हो जानेपर उसमें रजत और सर्प की पूर्वप्रतीति मिथ्या तथा भ्रमात्मक लगती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया का बन्धन हट जानेपर तत्त्वरूप ब्रह्म में ज्ञानावस्था से पूर्व प्रतीत होनेवाला समस्त जगत् नहीं रहता।

कारणतावाद का तीसरा मत नैयायिकों का है। इनके अनुसार सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है।[2] इनका मत है कि परमाणु आदि में पूर्णतः अविद्यमान द्व्यणुक इत्यादि अभिनव कार्य उत्पन्न होते हैं।

चौथा मत सांख्य-दार्शनिकों का है। सांख्य-दर्शन में सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।[3] गीता में भी सांख्य के सत्कार्यवाद को ही स्वीकार किया गया है।[4] सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य ही कारणव्यापार के पश्चात् अभिव्यक्त रूप में उत्पन्न होता है।

सांख्य-दर्शन में उपर्युक्त तीनों मतों को अस्वीकार किया गया है। सांख्य-दार्शनिकों का दृढ़ मत है कि अभावरूप अवस्तु से भावरूप वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[5] आचार्य वाचस्पति मिश्र, अनिरुद्ध तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इन मतों का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि यदि बौद्धनय के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति होती है यह मान लिया जायेगा तो जगत् को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयक पाञ्चभौतिक, त्रिगुणात्मक, सुख-दुःख, मोह,

---

१. एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसत् (तत्त्वकौ. ९)।
२. सतः असत् जायते (वही)।
३. सतः सत् जायते (वही)।
४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (गीता २/१६)।
५. नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः (सां. सूत्र १/७८)।

रूप वाला नहीं होना चाहिए क्योंकि कार्य सदैव कारण के गुण वाला होता है। असत् निरुपाख्य कारण से सुख-शब्दादिरूप जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? सत् तथा असत् में तो बौद्धों को मान्य तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।[1] यह जगत् सत् है, शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों वाला एवं सुख, दुख, मोह प्रदान करनेवाला है, इसलिए कभी भी असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यद्यपि कारण बीज एवं मृत्तिका-पिण्ड के प्रध्वंस के पश्चात् ही कार्य अङ्कुर एवं घट की प्राप्ति होती है तथापि कार्य की इस उत्पत्ति में कारण का असद्रूप अभाव हेतु नहीं है अपितु कारण का सद्रूप भाव ही हेतु है। यदि असत् अथवा अभाव को ही कारण के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष आ जायेगा।[2] अनिरुद्ध का मत है कि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होगी तो जगत् भी अवस्तु हो जायेगा क्योंकि कार्य कारणरूप ही दिखायी देता है। उपादान-कारण के भावरूप होनेपर 'कारण के गुण कार्य में होते हैं' इस नियम से भावरूप कारण के योग से कार्य के वस्तुरूप की सिद्धि होती है। जगत् के उपादान-कारण के अभावरूप होने से अभावरूप जगत् अवश्य उत्पन्न हो सकता है क्योंकि अभावरूप कारण से अभावरूप कार्य उत्पन्न होता है।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि अवस्तु से वस्तु पदार्थ की उत्पत्ति मानी जायेगी तो शशशृङ्ग के समान असत् पदार्थ से जगत् की उत्पत्ति माननी होगी और तब मोक्ष आदि की अनुपपत्ति होगी।[4] कारण यदि भाव पदार्थ हो तो उसकी सत्ता के योग से ही भावरूप कार्य उत्पन्न हो सकेगा। कारण यदि

----

१. यदि पुनरसतः सज्जायेत, असत् निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्? सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः। (तत्त्वकौ. ५)।

२. यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपितु भावस्यैव बीजाद्यवयस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसङ्ग इति। (तत्त्वकौ. ९)।

३. यद्यभावाद् भावोत्पत्तिः स्यात्, कारणरूपं कार्यं दृश्यते, इति जगतोऽप्यवस्तुत्वं स्यात्। (अनि. १/७८)। भावे उपादानकारणे 'कारणगुणः कार्ये' इति तद्योगेन भावयोगेन तत्सिद्धिः कार्यस्य वस्तुत्वसिद्धिः। अभावे जगदुपादानस्याभावत्वे तदभावाज्जगदभावस्यावश्यं भावात् कुतस्तत् सिद्धिः, अभावस्य अभावरूपत्वादिति। (वही १/८०)।

४. अवस्तुनोऽभावान्न वस्तुसिद्धिर्भावोत्पत्तिः शशशृङ्गाज्जगदुपत्त्यामोक्षाद्यनुपपत्तेः। (सां. प्र. भा. १/७८)।

अभावरूप होगा तो उसके असद्रूप होने से कार्य का भी अभाव होगा तब कार्य के वस्तुभूत रूप की कैसे सिद्धि होगी? अतः कारण के स्वरूप से ही कार्यरूप वस्तु की सिद्धि होती है।[1]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार शब्दादि प्रपञ्च को एक ही सत्—ब्रह्म का विवर्त (अतात्त्विक परिणाम) अर्थात् उसमें किया गया अध्यारोप मान लेने पर भी सत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि अद्वय सत्ता ब्रह्म की प्रपञ्चात्मक प्रतीति भ्रम है।[2] शब्दादि प्रपञ्चात्मक जगत् की प्रतीति मिथ्या है—यह बात उस प्रतीति में बिना कोई बाधक उपस्थित किये कैसे कही जा सकती है।[3] अनिरुद्ध का मत है कि शुक्ति में रजत के ज्ञान में 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान से रजत के ज्ञान का बाध हो जाता है किन्तु यह भावरूप जगत् नहीं है इस ज्ञान से किसी को भावरूप जगत् के ज्ञान का बाध नहीं होता।[4] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि स्वप्नीय पदार्थों के सदृश जगत् का बाध होता है यह श्रुतियों से सिद्ध नहीं होता। उनका मत है कि श्रुतियों में जहाँ प्रपञ्च का निषेध किया गया है वहाँ अभिप्राय जगत् के स्वप्न तथा आकाशकुसुम की भाँति असत् पदार्थ होने का निराकरण है।

न्याय-वैशेषिक मत का खण्डन करते हुए सांख्य-दार्शनिक कहते हैं कि सत् कारण से असत् कार्य की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[5] सत् कारण से सदैव सत् कार्य की ही उत्पत्ति होगी कभी भी असत् कार्य की नहीं। वाचस्पति मिश्र का मत है कि यदि कारण-व्यापार से पूर्व कार्य असत् होता तो उसे कोई भी सत् नहीं बना सकता। नीला रङ्ग (जिसमें पीला रङ्ग नहीं है) हजारों कुशल कारीगरों के द्वारा पीला नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि जैसे

---

१. भावे कारणस्य सद्रूपत्वे तद्योगेन सत्तायोगेन कार्यसिद्धिर्घटेत कारणस्याभावेऽसद्रूपत्वे तु तदभावात् कार्यस्याप्यसत्वात् कथं वस्तुभूतकार्यसिद्धिः कारणस्वरूपस्यैव कार्यस्यौचित्यात्। (सां. प्र. भा. १/८०)।

२. अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चस्तथापि सतः सज्जायेत इति न स्यात्। न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव। (तत्त्वकौ. ९ अव.)।

३. अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्। (सां. सूत्र १/७९)।
प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति। (तत्त्वकौ. ९)।

४. शुक्तौ रजतज्ञानम्, तत्र 'नेदं रजतम्' इति ज्ञानाद्रजतबाधः। न चात्र 'नेदं भावरूपं जगत्' इति कस्यापि ज्ञानं येनास्य भावरूपबाधः स्यात्। (अनि. १/७९)।

५. नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् (सां. सूत्र १/११४)।

एक ही घड़ा कच्चा रहनेपर नीला और पक जानेपर लाल होने के कारण अवस्था-भेद से दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है उसी प्रकार एक ही घट कारण-व्यापार के पूर्व असत् और कारण-व्यापार के अनन्तर सत् हो सकता है। सांख्य-दार्शनिकों को नैयायिकों का यह मत मान्य नहीं है। उनका मत है कि उस समय धर्मी घट के अविद्यमान रहने पर असत्त्व धर्म उसमें आधेयरूप में कैसे रहेगा क्योंकि आधेय धर्म तो आधारभूत धर्मी में ही रहता है। इसलिए कारण-व्यापार से पूर्व भी घट सत् ही रहता है, असत् नहीं। जिस असत्त्व का न तो धर्मी घट से कोई सम्बन्ध है और न वह तद्रूप ही है उसके आधार पर घट असत् कैसे कहा जा सकता है? इसलिए जिस प्रकार कारण-व्यापार के बाद कार्य सत् होता है, वैसे ही उसके पूर्व भी सत् रहता है।[1]

सांख्य-दार्शनिकों का मत है कि यदि कार्य का अपने कारण में सूक्ष्म रूप से अवस्थान न माना जाये तो त्रिविध विरोध की आपत्ति होगी।[2] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सूत्रकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तब किसी कार्य के सम्बन्ध में यह अतीत है, वर्तमान है तथा भविष्यत् है--इस व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकेगी।[3]

सांख्य-दार्शनिकों ने सत्कार्यवाद की सिद्धि हेतुओं के द्वारा की है।[4] सांख्यसूत्रकार ने सत्कार्यवाद की सिद्धि में निम्नलिखित तर्क दिये हैं--

उपादाननियमात् (सां० सूत्र १/११५)

विज्ञानभिक्षु का मत है कि मिट्टी से घट की उत्पत्ति तथा तन्तु से पट की उत्पत्ति होने से कार्य के उपादान-कारण का ज्ञान होता है। पूर्वपक्षी कहता है कि उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य की सत्ता मान लेनेपर क्या विशेषता है जिससे किसी असत् की उत्पत्ति होती है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्य में कारण में कार्य की अनागत अवस्था मानी गयी है, यही कार्य और कारण में वैशिष्ट्य है। कार्य की इस अनागत अवस्था को वैशेषिकों को अभिमत प्रागभाव नहीं माना जा सकता। उनका मत है कि कारण में कार्य की अभाव-कल्पना की अपेक्षा उसे भावरूप मानने में कल्पनालाघव है।[5]

---

१. तत्त्वकौ. ५. २. त्रिविधविरोधापत्तेश्च। (सां. सूत्र १/११३)।

३. अथ सर्वं कार्यं त्रिविधं सर्ववादिसिद्धमतीतमनागतं वर्त्तमानमिति। तत्र यदि कार्यं सदा सन्नेष्यते तदा त्रिविधत्वानुपपत्तिः। (सां. प्र भा. १/११३)।

४. सां. सूत्र १/११५–११८ तथा सांख्यका. ९. ५. सां. प्र. भा. १/११५.

सर्वत्र सर्वदा सर्वसम्भवात् (सां० सूत्र १/११६)

विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि कार्य-कारण में उपादन-नियम नहीं माना जायेगा तो सभी देश-काल में सभी वस्तु की उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी।[१]

शक्तस्य शक्यकरणात् (सां० सूत्र १/११७)

आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार कार्य-जनन-शक्ति ही उपादान-कारण है।[२] यह शक्ति ही कार्य की अनागतावस्था है, अतः शक्य-कारण अर्थात् कार्य की जनन-शक्ति से युक्त कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण में असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।[3]

कारणभावाच्च (सां० सूत्र १/११८)

उत्पत्ति से पूर्व कार्य के कारण से अभेद सुने जाने से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है। कार्य को कारण में विद्यमान न मानने पर सत्-असत्-भेद की अनुपपत्ति होगी। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृह० उप० १/४/७) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो० उप० ६/२/१), 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (मैत्रा० आर० ५/२) तथा 'आप एवेदमग्र आसुः' (बृह० उप० ५/५/१)—इन श्रुतियों में भी कार्य की पूर्वसत्ता तथा कारण से कार्य का अभेद स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उनका मत है कि सत्कार्य-वाद का सिद्धान्त श्रुति-प्रतिपादित सिद्धान्त है।[४]

सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर प्रतिपक्षियों द्वारा अनेक आक्षेप किये गये हैं। प्रतिपक्षियों का आक्षेप है कि यदि कार्य को उपादान-कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान मान लेंगे तो कार्य की सत्ता नित्य हो जायेगी और तब भावरूप कार्य में उत्पत्ति का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकेगा।[५] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सत्कार्यवाद में कार्य की अभिव्यक्त अवस्था को ही कार्य की उत्पत्ति कहा गया है। उनका मत है कि सत् कार्य की कारण-व्यापार से अभिव्यक्ति लोक में देखी जाती है। जैसे शिला में स्थित मूर्ति शिल्पी के व्यापार से अभिव्यक्त होती है, तिलों में स्थित तैल पेरने से निकलता है तथा धान में स्थित चावल कूटने से निकलता है।[६] इसी प्रकार विज्ञानभिक्षु कार्य की

----

१. उपादानानियमे च सर्वत्र सर्वदा सर्वसम्भवः (सां. प्र. भा. १/११६)।

२. कार्यशक्तिमत्त्वमेवोपादानकारणत्वम्। (सां. प्र. भा. १/११७)।

३. सा शक्तिः कार्यस्यानागतावस्थैवेत्यतः शक्तस्य शक्यकार्यकरणान्नासत उत्पादः। (वही)।

४. सां. प्र. भा. १/११८. ५. वही १/११९. ६. वही १/१२०.

अतीतावस्था को ही कार्य का नाश कहते हैं। कार्य की अतीतावस्था के लिए प्रमाण देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि कार्य की अतीत और अनागत अवस्था का ज्ञान योगज प्रत्यक्ष से होता है। उनका मत है कि श्रुति-स्मृति तथा इतिहास में योगियों के अतीत तथा अनागत प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है।[1]

पूर्वपक्षी के इस कथन के उत्तर में कि सत्कार्यवाद की रक्षा के लिए अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति माननी होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा; आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि अभिव्यक्तिवाद पर आरोपित किये जानेवाले अनवस्था दोष का समाधान बीजाङ्कुर-परम्परा से किया जा सकता है। विज्ञानभिक्षु इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं जिस प्रकार आदिसर्ग में वृक्ष के बिना बीज उत्पन्न हुआ उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के सङ्कल्प से शरीर आदि की उत्पत्ति हुई—यह मत श्रुति-स्मृति में प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में विष्णुपुराण (२/७/३२) को उद्धृत किया है।[2]

कारण-कार्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्य की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक है। सांख्य का यह सत्कार्यवाद कुछ भेद के साथ वेदान्त-दर्शन को भी अभिमत है। अद्वैत वेदान्त में इसका रूप विवर्तवाद है तथा अन्य वेदान्त दार्शनिकों ने ब्रह्मकारणतावाद के मत को स्वीकार किया है। परिणाम एवं विवर्त इस सत्कार्यवाद के दो रूप हैं। सत् कारण में पूर्व से ही अनभिव्यक्त रूप में स्थित कार्य की ही अभिव्यक्ति को सांख्य स्वीकार करता है। अद्वैत वेदान्त के मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत् है और इसी ब्रह्म से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि में कारण-ब्रह्म तो नित्य सत् है किन्तु विकसित नामरूपात्मक जगत सत् नहीं अपितु आभासमात्र, मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। यह जगत् तब तक सत् है जब तक इसके यथार्थ स्वरूप अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो जाता। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का आभास या विवर्त मात्र है। किन्तु सांख्य-दर्शन अभिव्यक्त हुए कार्य को सत् स्वीकार करता है। सांख्य के

---

१. सां. प्र. भा. १/१२१.

२. आदिसर्गे हि वृक्षं विनैव बीजमुत्पद्यते हिरण्यगर्भसङ्कल्पेन तच्छरीरादिभ्य इति श्रुतिस्मृत्योः प्रसिद्धम्—यथा हि पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः।
आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥ (विष्णुपु. २/७/३२)
(सां. प्र. भा. १/१२२)।

अनुसार सृष्टि मूल-कारण—प्रकृति का वास्तविक परिणाम है। इसीलिए सांख्य-सिद्धान्त को परिणामवाद तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को विवर्तवाद कहा गया है।

सत्कार्यवाद सांख्य-दर्शन का सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त है। इसी आधार पर सांख्य-दार्शनिक प्रकृति को सत् तथा उससे होनेवाली सृष्टि को अनभिव्यक्त रूप से उसी में सत् एवं प्रकृति का परिणाम होने के कारण सत् स्वीकार करते हैं। सृष्टि की प्रकृति से उत्पत्ति और उसी में लय का उनका सिद्धान्त भी सत्कार्यवाद की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित है।

सांख्य-दर्शन में ख्याति-सम्बन्धी विचार

प्राचीनकाल में 'ख्याति' शब्द का प्रयोग 'प्रामाणिक ज्ञान' के अर्थ में किया जाता था तथा सांख्य-दर्शन में भी 'ख्याति' शब्द का अर्थ प्रामाणिक ज्ञान माना गया है और सांख्य-योग के ग्रन्थों में प्रकृति-पुरुष-विवेक अर्थात् भेदज्ञान के अर्थ में 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति',[1] 'विवेकख्याति'[2] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। शिशुपाल-वध महाकाव्य[3] तथा उसकी मल्लिनाथी टीका[4] से भी ज्ञात होता है कि सांख्य-दर्शन में 'ख्याति' शब्द से प्रकृति-पुरुष के भेद-ज्ञान का ग्रहण किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य-योग की परम्परा में प्रचलित 'ख्याति' शब्द के इसी अर्थ को ग्रहण किया है तथा अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य'[5] और सांख्यसार[6] में इस शब्द का बहुतायत से प्रयोग किया है। किन्तु परवर्ती काल में 'ख्याति' शब्द का प्रयोग 'प्रामाणिक ज्ञान' के स्थान पर भ्रमस्थल में प्रतीत होनेवाले ज्ञान के लिए किया जाने लगा और 'ख्याति' शब्द परवर्ती दर्शन-साहित्य में भ्रम के लिए रूढ़ हो गया। विभिन्न दर्शनों में भ्रम की व्याख्या के लिए आत्मख्यातिवाद, असत्ख्यातिवाद, अख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद, अनिर्वचनीयख्यातिवाद, सदसत्ख्यातिवाद,

---

१. तत्त्वकौ. २१, योगभा. १/२.

२. यो. सूत्र २/२६, ४/२९, योगभा. २/२६, ४/२९, तत्त्ववै. २/५.

३. ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्। (शिशु. ४/५५)

४. सत्त्वपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषोरन्यतयान्यत्वेन मिथो भिन्नत्वेन ख्यातिं ज्ञानं चाधिगम्य। प्रकृति-पुरुषौ भिन्नाविति ज्ञात्वेत्यर्थः। प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाग्रहणात्संसारः। विवेकग्रहणान्मुक्तिरिति सांख्याः (शिशु. ४/५५ मल्लि.)।

५. सां. प्र. भा. २/२ आदि। ६. सां. सा.पूर्व. द्वितीयपरि.।

तथा यथार्थख्यातिवाद आदि के नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है और प्रस्तुत अध्याय में हमारा प्रतिपाद्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि से सांख्यसम्मत ख्यातिवाद के निरूपण की विवेचना करना है।

सांख्य-दर्शन में ज्ञान की प्रक्रिया में पाँच पदार्थ स्वीकार किये जाते हैं— प्रमाण, प्रमा-प्रमाण, प्रमा, प्रमाता और साक्षी। बुद्धिवृत्तिरूप प्रमा का करण होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों का फल होने के कारण बुद्धिवृत्ति प्रमा कही जाती है और पुरुषनिष्ठ प्रमा का कारण होने के कारण वह प्रमाण भी है। इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धिवृत्ति प्रमा-प्रमाण कही जाती है। पौरुषेय-बोध फलरूप होने के कारण किसी का कारण नहीं है, अतः इसे प्रमा कहते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'पुरुषनिष्ठबोध' को प्रमा मानने के मत की पुष्टि के लिए व्यासभाष्य को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[1] बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व प्रमा का आश्रय होने के कारण प्रमाता कहा जाता है और बुद्धिवृत्ति से उपहित शुद्ध चेतन साक्षी कहा जाता है।[2] न्याय-दर्शन में जिसे व्यवसाय-ज्ञान कहते हैं उसे सांख्य-दर्शन में 'बुद्धिबोध प्रमाण' कहा गया है। इसी प्रकार न्याय-दर्शन के अनुव्यवसायज्ञान को सांख्य में 'यथार्थानुभव', 'प्रमा' या 'पौरुषेय बोध' कहते हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन में जहाँ अन्तःकरण, व्यवसाय, अनुव्यवसाय तथा उसके आश्रय इन चार पदार्थों की कल्पना करनी पड़ती है, वहाँ सांख्य-मत में अन्तःकरण, व्यवसायज्ञान के स्थान पर बुद्धिवृत्ति तथा अनुव्यवसाय ज्ञान के स्थान पर नित्य ज्ञानरूप आत्मा इन तीन पदार्थों की ही कल्पना करनी पड़ती है।[3]

सांख्य-दर्शन के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यहाँ ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धिवृत्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धिवृत्ति के माध्यम से मानने में साधारणतया दृष्टिसृष्टिवाद (Subjective Idealism) में पर्यवसान होने की आशङ्का रहती है। किन्तु सांख्य-दार्शनिक इस दृष्टि से बहुत सतर्क हैं और उन्होंने यह सिद्धान्त सुस्थिर कर रखा है कि ज्ञान अनिवार्य रूप से बाह्यार्थ का सूचक होता है। वाचस्पति

१. सां. प्र. भा. १/८७.

२. देखिए—स्वामी ब्रह्मलीनमुनि—पातञ्जलयोगदर्शनम्, पृष्ठ २८.

३. नैयायिकादिभिरन्तःकरणं व्यवसायानुव्यवसायौ तदाश्रयश्चेति चत्वारः पदार्थाः कल्प्यन्ते। अस्माभिस्त्वन्तःकरणम्, व्यवसायस्थानीया च तद्वृत्तिरनन्तानुव्यवसायस्थानीयश्च नित्यैक-ज्ञानरूप आत्मेति त्रयः पदार्थाः कल्प्यन्त इति। (सां. प्र. भा. १/१४७)।

मिश्र ने ग्यारहवीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी में विज्ञानवाद का खण्डन किया है। पुरुषों के अनेकत्व की सांख्य मान्यता इस सिद्धान्त को समर्थन प्रदान करती है कि विभिन्न पुरुषों को होनेवाले किसी वस्तु-विशेष के अनुभवों के समान अंश से उस वस्तु के मनोबाह्य आधार की पुष्टि होती है।[1] योगसूत्र में कैवल्यपाद के पन्द्रहवें सूत्र तथा उसके भाष्य में भी यही बात कही गयी है कि अनेक चित्तों के द्वारा एक ही वस्तु को समान रूप से गृहीत होते देखकर यह निश्चय होता है कि वह वस्तु न तो एक चित्त-परिकल्पित है और न अनेक चित्त-परिकल्पित, अपितु स्वप्रतिष्ठ है।[2] इस प्रकार सांख्य-दर्शन में बुद्धिवृत्ति ज्ञाता और ज्ञेय को जोड़नेवाली कड़ी मात्र है और वह ज्ञेय की सत्ता को निरर्थक नहीं बनाती।

उपर्युक्त सिद्धान्त की तार्किक परिणति यह मानने में होगी कि ज्ञान अपने ज्ञेय पदार्थ का प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप होता है (Correspondence Theory of Truth)। जब बुद्धिवृत्ति पदार्थ को यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित करती है तो ज्ञान प्रामाणिक होता है, अन्यथा अप्रामाणिक। इस दृष्टि से, जैसा कि प्रोफ़ेसर हिरियन्ना ने लिखा है प्राचीन सांख्य के मतानुसार भ्रम हो ही नहीं सकता।[3] न्याय-दर्शन में भी सांख्य-दर्शन के सदृश ही ज्ञान को वस्तु का प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब ही स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्य और न्याय-दर्शन में महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि न्याय-दर्शन में बुद्धिवृत्ति के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया गया है। दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि न्याय-दर्शन में मन को ज्ञान का साधारण कारण माना गया है। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए मन का सहयोग अनिवार्य है और ज्ञान साधारणतया पदार्थों को उसी रूप में उपस्थापित करता है, जो उनका वास्तविक रूप है। किन्तु सांख्य-मत में यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञान पदार्थ को यथार्थ रूप में ही उपस्थापित करे। इसका कारण यह है न्याय में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच साक्षात् सम्बन्ध होने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है किन्तु सांख्य में प्रमाता और प्रमेय में जो सम्बन्ध स्थापित होता है वह बुद्धिवृत्ति के माध्यम से होता है और बुद्धिवृत्ति यद्यपि अधिकांश रूप में ज्ञेय पदार्थ पर ही निर्भर करती है, किन्तु अल्पांश में ही क्यों न सही उस

---

१. तत्त्वकौ. ११.

२. बहुचित्रालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। (योगभा. ४/१५)।

३. I. P. S., p. 25, Foot Note 2.

बुद्धि पर भी निर्भर करती है जिसकी वह वृत्ति है। अतः किसी वस्तु के स्वरूप का केवल उतना ही अंश ज्ञात होता है जितना द्रष्टा की तत्कालीन मनोदशा से साम्य रखता है।

सांख्य-दर्शन में बुद्धि संस्कारों का आश्रय मानी गयी है, अतः अनादिकाल से अर्जित संस्कारों से युक्त होने के कारण विभिन्न व्यक्तियों की बुद्धि का झुकाव विभिन्न पदार्थों की ओर हो जाता है और उन बुद्धियों की प्रवृत्तियों में भी भेद हो जाता है। फलतः यह विभिन्न बुद्धियाँ जब एक ही पदार्थ को ग्रहण करती हैं तो बुद्धियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण पदार्थ का ग्रहण विभिन्न रूपों में होता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रत्येक स्थल में ज्ञेय पदार्थ और बुद्धि की विशेष प्रवृत्ति दोनों का सहयोग कारण होता है और इसीलिए तज्जन्य ज्ञान का पदार्थ की यथातथ्य और पूर्ण प्रतिकृति होना आवश्यक नहीं रह जाता और भ्रम का कारण भी यही है। यहाँ यह अवधेय है कि यद्यपि बुद्धि अपनी क्रिया के चयनात्मक होने के कारण पदार्थ के केवल उसी अंश या रूप को ग्रहण करती है, जो उसके संस्कारों और रुचि के अनुरूप होता है, किन्तु वह पदार्थ में किसी अपूर्व एवं नवीन गुण को उत्पन्न नहीं कर सकती। यही कारण है कि सांख्य-दर्शन में भ्रम को अभावात्मक माना गया है, भावात्मक नहीं। सांख्य-मत से भ्रम किसी वस्तु के अज्ञान से होता है, न कि विपरीत ज्ञान से। भ्रम कहा जानेवाला ज्ञान भी जितने अंश में होता है, उतने अंश में सत्य और प्रामाणिक होता है। इसका दोष यही है कि यह केवल अपूर्ण और आंशिक ही होता है। इस आंशिक ज्ञान को पूर्ण कर के ही पदार्थ का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होता है और यह पूर्ति पदार्थ के अन्य अंशों के ज्ञान से ही सम्भव है। जैन-दर्शन की भाँति ही सांख्य-दर्शन में भी इस पूर्ण ज्ञान की सम्भावना स्वीकार की गयी है। वाचस्पति मिश्र ने इसे 'आर्षज्ञान' कहा है। उनके अनुसार ऊर्ध्वस्रोत योगियों को इस प्रकार का ज्ञान होता है।[1] योगसूत्र में जिस ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उल्लेख है उसमें विपर्यास या भ्रम की गन्ध भी नहीं रहती।[2]

इस प्रकार सांख्य-दर्शन के अनुसार साधारण मानवीय ज्ञान की प्रथम कमी उसकी अपूर्णता है और हमारे अनेक दोषों का हेतु भी यही है। दो व्यक्ति किसी एक ही पदार्थ को जानने के पश्चात् भी उसके सम्बन्ध में मतभेद रख सकते हैं क्योंकि उन दोनों का ज्ञान असत्य न होते हुए भी अपूर्ण हो सकता है

---

१. तत्त्वकौ. ४. २. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (यो. सूत्र १/४८)।

और उनके मतभेद को दूर करने का उपाय उस आंशिक ज्ञान को (अन्य अंशों का उल्लेख करके) पूरा कर देना ही है। प्रो० हिरियन्ना ने सांख्य-दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुषों के ज्ञान के अतिरिक्त शेष सभी पुरुषों के ज्ञान के एक अन्य दोष की ओर अंगुलि-निर्देश किया है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार बुद्धि और पुरुष दोनों में से कोई भी एकाकी स्वतन्त्र रूप से विषयी या अनुभविता नहीं हो सकता। बुद्धि जड़ है, और पुरुष कूटस्थ एवं असंग। अतः अनुभविता होने के लिए दोनों में से कोई भी स्वतन्त्र रूप से समर्थ नहीं है, अनुभव तब तक सम्भव नहीं है जब तक उन दोनों में विद्यमान भेद को विस्मृत नहीं किया जाता है। यह अविवेक ही भ्रम का कारण है। बुद्धि और पुरुष का विवेक न होने पर एक-दूसरे के गुण एक-दूसरे पर आरोपित किये जाते हैं और बुद्धि में ज्ञातृत्व तथा पुरुष में कर्तृत्व का आरोपण किया जाता है। इन दो तत्त्वों के विवेक द्वारा इस भ्रम का निवारण करना ही, सांख्य-दर्शन के अनुसार जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन में भ्रम के दो रूप निर्धारित किये जा सकते हैं। (१) जहाँ ज्ञान का विषय केवल एक ही पदार्थ होता है, वहाँ अंश को पूर्ण समझ लेना। (२) जहाँ ज्ञान के विषय दो पदार्थ हैं वहाँ उन दोनों में विद्यमान भेद का ज्ञान न होना या विवेक का अभाव। इन दोनों प्रकारों को प्रो० हिरियन्ना ने 'आध्यात्मिक भ्रम' कहा है।[१] उनके मत से उपर्युक्त अर्थ में समस्त ज्ञान ही भ्रमात्मक है और बिना जीवनन्मुक्ति के इस भ्रम से छुटकारा नहीं है[२] क्योंकि हम पुरुष और बुद्धि को पृथक्-पृथक् न समझने के कारण उनमें भेद नहीं करते, भ्रम का नाश व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष का विवेक होने पर ही हो सकता है।[३] प्रो० हिरियन्ना के मतानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकारों को एक में पर्यवसित किया जा सकता है।[४]

इस आधारभूत आध्यात्मिक भ्रम का बोध सामान्यतः मनुष्यों को नहीं होता, किन्तु भ्रम का एक ऐसा रूप भी है जो सार्वजनीन है और जिससे सभी सुपरिचित रहते हैं। श्वेत स्फटिक का जपाकुसुम के सान्निध्य से रक्तिम प्रतीत होना और शुक्तिका में रजत का भ्रम होना, इस लौकिक भ्रम के उदाहरण हैं।

---

१. I. P. S., p. 27. २. Ibid.

३. तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (सांख्यका. २)।

४. I. P. S., p. 27.

सांख्य ग्रन्थों में इन प्रश्नों का साक्षात् स्पष्ट उत्तर नहीं प्राप्त होता है। रक्त स्फटिक, तप्त अयोगोलक आदि के उदाहरण वहाँ आध्यात्मिक भ्रम की विवेचना के सन्दर्भ में दिये गये हैं, किन्तु लौकिक भ्रमों का विवेचन नहीं किया गया है। इसका सीधा और स्पष्ट कारण यही है कि सांख्य-दार्शनिकों की अभिरुचि तारक ज्ञान में रही है, न कि तर्कशास्त्रों के सिद्धान्तों में। विज्ञानभिक्षु ने इस समस्या का सीधा समाधान खोजने का प्रयत्न किया है! उनके मतानुसार रक्त स्फटिक के भ्रम में जपाकुसुम की रक्तता बिम्बरूप में सत् है किन्तु श्वेत-स्फटिक में सान्निध्य के कारण जपाकुसुम की जो रक्तता प्रतिबिम्बित होती है, केवल वही असत् है क्योंकि स्फटिक में जपाकुसुम की रक्तता का वास्तविक संक्रमण नहीं होता प्रत्युत केवल इस प्रकार के संक्रमण की कल्पना होती है। अतः भ्रम के विषयभूत पदार्थ तो सत् हैं किन्तु उनमें कल्पित सम्बन्ध ही असत् है। इसलिए भ्रम का बाध होनेपर ज्ञात हो रहे किसी पदार्थ का बाध नहीं होता प्रत्युत दो पदार्थों के मध्य कल्पित सम्बन्ध का ही बाध होता है।[1] इस प्रकार विज्ञानभिक्षु प्राचीन सांख्य के विपरीत भ्रम का कारण 'विपरीत ज्ञान' को मानते हैं तथा भ्रम में भावात्मक तत्त्व स्वीकार कर लेते हैं।[2]

प्राचीन सांख्य के मतानुसार रक्तस्फटिक के उदाहरण में स्फटिक और जपाकुसुम इन दो पदार्थों की उपस्थिति के अज्ञान से रक्तस्फटिक का भ्रम होता है और स्फटिक के समीप 'जपाकुसुम की उपस्थिति का ज्ञान' जुड़ जानेपर पूर्वोक्त आंशिक ज्ञान पूर्ण हो जाता है और भ्रम समाप्त हो जाता है। शुक्ति-रजत में केवल एक ही पदार्थ उपस्थित होता है किन्तु हम शुक्ति के श्वेतता, चाकचिक्य आदि केवल उन्हीं गुणों को जान पाते हैं जो शुक्ति और रजत में समान हैं। जब हमें शुक्ति के उन गुणों का भी ज्ञान हो जाता है जो रजत में नहीं हैं (जैसे हल्कापन) तो हमारा शुक्ति का ज्ञान पूरा हो जाता है और शुक्ति-रजत भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार सांख्य-दृष्टि से लौकिक भ्रम और आध्यात्मिक भ्रम की व्याख्या का आधार एक ही है और दोनों भ्रम एक-सदृश ही हैं। आध्यात्मिक और लौकिक भ्रम में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि आध्यात्मिक भ्रम की समाप्ति के लिए पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है जब कि लौकिक भ्रम की निवृत्ति के लिए पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा नहीं है अपितु जिस पदार्थ में भ्रम हो रहा है उसके उन गुणों का ज्ञान ही पर्याप्त है जिनके

---

१. सां. प्र. भा. ५/५६. २. I. P. S., p. 29.

ज्ञान के अभाव में भ्रम हो रहा है या जो उस पदार्थ में नहीं है जिसका भ्रम हो रहा है। संक्षेप में सांख्य-दर्शन के अनुसार भ्रम अभावात्मक है और आंशिक ज्ञान से उत्पन्न होता है तथा उससे मुक्ति का उपाय आंशिक ज्ञान को पूर्ण करना है। इस सम्बन्ध में अवधेय है कि सांख्य के इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम की निवृत्ति होने पर पूर्व ज्ञात किसी भी पदार्थ का बाध नहीं होता क्योंकि ज्ञान में जो कुछ उपस्थित होता है वह निश्चित रूप से तथ्य ही होता है, यद्यपि वह अपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार भ्रम का कारण अपूर्ण ज्ञान को मानने के कारण सांख्य-दार्शनिक भ्रम में कोई पुरुषनिष्ठ तत्त्व (Subjective Element) स्वीकार नहीं करते।

सांख्य का यह मत सांख्य-योग के ग्रन्थों सांख्य तत्त्वकौमुदी,[१] योगभाष्य[२] तथा भोजवृत्ति[३] में संकेतित है।[४] विज्ञानभिक्षु सांख्य-प्रवचन-भाष्य के पूर्वार्द्ध में प्रभाकर के मत की भाँति सांख्य-दर्शन में 'विपर्यय' या 'भ्रम' का स्वरूप 'विवेकाग्रह' को स्वीकार करते हैं और 'अन्यथाख्याति' के मत को निरस्त कर देते हैं।[५] किन्तु योग-दर्शन के भ्रम या विपर्यय के सिद्धान्त को वे सांख्य-दर्शन के ख्याति-सिद्धान्त से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार योग-दर्शन में भ्रम का कारण विषय का अपूर्ण ज्ञान नहीं है, अपितु ज्ञानाकाररूप बुद्धिवृत्ति का विषय पर आरोपित होना है जिसके कारण हमें पदार्थ का ग्रहण वास्तविक रूप में न होकर अन्य रूप में होता है। इस प्रकार वे योग-दर्शन में अन्यथाख्याति को स्वीकार करते हैं। न्याय-वैशेषिक मत में प्रतिपादित अन्यथाख्याति से इस सिद्धान्त का अन्तर स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि शुक्तिरजत के भ्रम में नैयायिक शुक्ति के अत्यन्त निकट उपस्थित अनुभवसिद्ध ज्ञानाकाररूप रजत को छोड़कर दूरस्थ रजत की कल्पना का कल्पनागौरव का मार्ग ग्रहण करते हैं, किन्तु योग-दर्शन में ज्ञानाकाररूप पदार्थ को स्वीकार करने से कल्पनालाघव होता है।[६] सांख्यसूत्र के परवर्ती अंश में ख्यातिवाद सम्बन्धी विवेकाग्रह के मत को अस्वीकार कर दिया गया है और पर-मत का खण्डन करते हुए सूत्रकार ने 'सदसत्ख्यातिवाद' को स्वीकार किया है।

---

१. तत्त्वकौ. २, ११, ६६. २. योगभा. २/२६.

३. भोजवृत्ति ४/३३. ४. I. P. S., p. 29.

५. विपर्ययस्त्वस्माकं विवेकाग्रह एवान्यथाख्यातेर्निरास्यत्वात् (सां. प्र. भा. २/३३)। देखिए, सां. प्र. भा. १/५५.

६. सां. प्र. भा. २/५.

सांख्यसूत्रों में बौद्धों के 'असत्ख्यातिवाद' का खण्डन किया गया है। असत्ख्यातिवाद के अनुसार घट, पट आदि किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है केवल शून्य ही समस्त लोक-व्यवहार में नाना-रूप में भासित होता है। इस मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि जगत् में अनुभूत होनेवाले सभी पदार्थों की सत्ता है। यदि वे सत्तावान् न होते तो 'नरशृङ्ग' की भाँति उनकी प्रतीति भी न होती। अपने उक्त मत के समर्थन में विज्ञानभिक्षु ब्रह्मसूत्र के 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र०सू० २/२/२८) इस सूत्र को उद्धृत करते हैं। उनके मतानुसार शुक्तिरजत एवं स्वप्न आदि में प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी मन के परिणामरूप पदार्थ ही होते हैं, अत्यन्त असत् नहीं, फिर अनुभूत होनेवाले जागतिक पदार्थों की तो बात ही क्या है, वे तो सुतरां सत् हैं ही।[1]

असत्ख्याति के खण्डन के पश्चात् सूत्रकार प्रभाकर के अख्यातिवाद का खण्डन करते हैं। अख्यातिवाद के अनुसार भ्रम का कारण भ्रम के विषयभूत पदार्थों के मध्य विद्यमान भेद का अग्रहण है। अख्यातिवादियों के अनुसार समस्त ज्ञान प्रामाणिक होता है। इस मत का खण्डन करते हुए वृत्तिकार अनिरुद्ध कहते हैं कि 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में दो संवित्तियाँ हैं, एक नहीं 'इदम्' पुरोवर्तीविषय के ज्ञान का बोधक है और 'रजतम्' रजत की स्मृति का। इन दोनों संवित्तियों के भेद का ग्रहण न होने के कारण ही व्यक्ति की शुक्ति को ही रजत समझ कर उठा लेने की प्रवृत्ति सम्भव होती है। अनिरुद्ध का कहना है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति भेद के अग्रहण से नहीं प्रत्युत अभेद के ग्रहण से देखी जाती है। उनके अनुसार सम्यक् ज्ञान का बाध नहीं होता किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग में 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान का परवर्ती 'नेदं रजतम्' (अर्थात् यह रजत नहीं है) इत्याकारक ज्ञान से बाध होता देखा जाता है। अतः प्रभाकर का अख्यातिवाद युक्तिसङ्गत नहीं है।[2]

अख्यातिवाद के खण्डन के पश्चात् सूत्रकार अद्वैत-वेदान्त के 'अनिर्वचनीय ख्यातिवाद' का खण्डन करते हैं। अनिर्वचनीय ख्याति के अनुसार शुक्ति-रजत में जिस रजत की प्रतीति होती है उसे सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका बाध हो जाता है और न उस रजत को असत् ही कहा जा सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। जिसे न सत् कहा जा सके और न असत् वह सदसद-

---

१. सां. सूत्र ५/५२, सां. प्र. भा. ५/५२.

२. सां. सूत्र ५/५३, अनि. ५/५३.

निर्वचनीय या अनिर्वचनीय है। संक्षेप में अद्वैत-वेदान्त के उक्त मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'अनिर्वचनीय' नामक किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। ज्ञात पदार्थ या तो सत् होगा या असत्। अन्यथा उसे विपर्यस्त ज्ञान स्वीकार करना होगा। ज्ञात पदार्थ को 'सत् भी नहीं कहा जा सकता, असत् भी नहीं कहा जा सकता' ऐसा कहना अनुचित है।[१]

अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद के खण्डन के पश्चात् सूत्रकार नैयायिकों के अन्यथा-ख्याति मत का खण्डन करते हैं। अन्यथाख्याति के अनुसार शुक्ति-रजत के भ्रम में शुक्ति के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होता है तब उसके श्वेतत्व, चाकचिक्य (चमक) आदि रूप-सादृश्य के कारण बाज़ार में रखी हुई रजत की प्रतीति होती है। विज्ञानभिक्षु न्याय के उक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अन्य वस्तु (अर्थात् शुक्ति) में अन्य वस्तु के रूप (अर्थात् रजतत्व) का ज्ञान नहीं हो सकता, अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के रूप का ज्ञान स्वीकार कर लेने पर तो मनुष्य के सिर में (अन्य वस्तु में) सींग (अन्य वस्तु अर्थात् पशु के धर्म) के होने की बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी।[२] इसलिए अन्यथाख्याति का सिद्धान्त अयुक्त है।

अन्य मतों के खण्डन के पश्चात् सूत्रकार अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हुए सदसत्ख्याति[३] का निरूपण करते हैं। अनिरुद्ध के मतानुसार 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदं' सत् है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष होता है और इसका बाध नहीं होता और 'रजतम्' असत् है क्योंकि इस ज्ञान का बाध हो जाता है। अतः पदार्थ सदसत् है।[४] आचार्य विज्ञानभिक्षु अनुसार भ्रम में ज्ञात होनेवाले पदार्थ सत्य हैं किन्तु उनके मध्य कल्पित सम्बन्ध ही असत् है। रजत-स्फटिक के भ्रम में रक्तता बिम्बरूप से सत् है और स्फटिकगत प्रतिबिम्बरूप में असत् है तथा शुक्ति-रजत के भ्रम में बाज़ार में स्थित रजत सत् है और शुक्ति में अध्यस्तरूप रजत असत् है। इसी प्रकार सत्त्वादिगुण रूप समस्त जगत् स्वरूपतः सत् है किन्तु चैतन्य (पुरुष) में अध्यस्त रूप में असत्

----

१. सां. सूत्र ५/५४, सां. प्र. भा. ५/५४.

२. सां. सूत्र ५/५५, सां. प्र. भा. ५/५५.

३. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् (सां. सूत्र ५/५६)।

४. इदं रजतमिति पुरोवर्त्तिविषयतया सत्, अबाधनात्, रजतविषयतया त्वसत् बाधात्। तस्मात्सदसती तत्त्वम्। (अनि. ५/५६)।

है।[1] इस प्रकार दोनों व्याख्याकार भ्रम में प्रतीत होनेवाले पदार्थ को सदसद्रूप मानते हैं।

सदसत्ख्यातिवाद के अनुसार पुरुष और बुद्धि ये दोनों सत्य हैं, किन्तु उनमें प्रतीयमान सम्बन्ध—जिसके कारण पुरुष कर्त्ता और बुद्धि ज्ञाता प्रतीत होती है—असत् है। विवेक द्वारा भ्रम की समाप्ति होनेपर पुरुष और बुद्धि दोनों में से किसी के अस्तित्व का बाध नहीं होता, किन्तु उनमें विद्यमान सम्बन्ध का, पुरुष के कर्तृत्व और बुद्धि के ज्ञातृत्व का, बाध हो जाता है। इसी प्रकार रक्तिम स्फटिक के उदाहरण में भी समझना चाहिए। स्पष्ट है कि दोनों स्थलों पर ही पुरुषनिष्ठ तत्त्व (Subjective Element) को स्वीकार किया गया है, जिसका बाध होता है। शुक्ति-रजत की व्याख्या में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि केवल शुक्ति ही सम्मुख उपस्थित नहीं होती, एक विशेष अर्थ में रजत भी उपस्थित होता है। विशेष अर्थ से तात्पर्य शुक्ति की चमक देख कर उद्बुद्ध हुए संस्कारों द्वारा उत्पन्न बुद्धिवृत्ति के रूप से है।[2]

इस प्रकार बुद्धिवृत्ति के रूप में उपस्थित रजत और वस्तुतः उपस्थित शुक्ति में अर्थात् वस्तुतः उपस्थित (Presented) और प्रत्यय रूप में उपस्थित (Represented) पदार्थों में संकर (Confusion) हो जाने पर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इस तरह भ्रमात्मक ज्ञान आंशिक रूप में ही क्यों न हो असत्य और अप्रामाणिक होता है और भ्रमात्मक ज्ञान में केवल वही नहीं ज्ञात होता जो सत् है अपितु वह भी प्रतीत होता है जो असत् है।

प्रो० हिरियन्ना सदसत्ख्यातिवाद को सांख्य-योग के आधारभूत अभ्युपगमों के विरुद्ध मानते हैं। सांख्य का यह परवर्ती मत कुमारिल के विपरीत-ख्याति-मत से अद्भुत साम्य रखता है, जब कि विवेकाग्रह का मत प्रभाकर के विवेक-ख्याति-मत से साम्य रखता है।[3] किन्तु श्री उदयवीर शास्त्री का मत है कि 'इस विवेचन को जब हम ज्ञान के आधार पर अथवा दो ज्ञानों को मुख्य मान कर प्रस्तुत करते हैं, तब इसे अख्याति कहा जाता है और जब ज्ञानों के विषय

---

१. यथाहि लौहित्यं बिम्बरूपेण सत् स्फटिकगतप्रतिबिम्बरूपेण चासदिति दृष्टम्। यथा वा रजतं वणिग्वीथीस्थरूपेण सच्छुक्त्यध्यस्तरूपेण चासत्, तथैव सर्वं जगत् स्वरूपतः सत्, चैतन्यादावध्यस्तरूपेण चासदिति। (सां. प्र. भा. ५/५६)।

२. I. P. S., p. 29.

३. भा. द. पृष्ठ २९०–९१.

को आधार मान लें, तो इसी का नाम 'सदसत्ख्याति' है। वस्तुतः यह विवेचन नाम दो होनेपर भी एक स्वरूप रखता है। पहला मीमांसकों के नाम से प्रसिद्ध है दूसरा सांख्यों के।'[1] इस प्रकार वे उपर्युक्त दोनों मतों को एक ही मानते हैं। डॉ॰ यदुनाथ सिन्हा सांख्य के सदसत्ख्यातिवाद को न्याय के 'अन्यथाख्यातिवाद' से भिन्न नहीं मानते।[2]

इस प्रकार विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में उपेक्षित ख्यातिसम्बन्धी सांख्यदृष्टि की विशद विवेचना की है।

---

१. सां. द., पृष्ठ २३१. २. I. E. P., p. 88.

द्वितीय अध्याय

पुरुष-तत्त्व

सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो ही मूल तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन तत्त्व है। पुरुष के संयोग से ही परिणामिनी प्रकृति से समस्त सृष्टि का आविर्भाव होता है। प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही तत्त्वों को सांख्य-दर्शन में नित्य माना गया है। ये प्रलयावस्था में भी विद्यमान रहते हैं।

भारतीय दर्शन में पुरुष-तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त प्रसिद्ध ही है। इस सूक्त में पुरुष-तत्त्व का वर्णन मिलता है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में औपनिषदिक पुरुष के सम्बन्ध में जिज्ञासा की गयी है।[2] यहाँ स्पष्ट है कि उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व पुरुष ही है। सांख्य-दर्शन की पुरुष की अवधारणा का उपनिषदों के आत्म-तत्त्व की अवधारणा से बहुत-सी बातों में सादृश्य है।[3] उपनिषद् के आत्म-तत्त्व के समान ही सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित पुरुष, नित्य, निरवयव, असङ्ग, अपरिणामी और विभु तत्त्व है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पुरुष विवेक का अनुयोगी है।[4] वह निर्गुण[5] तथा असङ्ग[6] है। यह पुरुष इन्द्रिय तथा शरीर से भिन्न पृथक् तत्त्व है।[7] वह निरुपाधि, निरपेक्ष तथा देशकालातीत है। वह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा प्रकाशस्वरूप है। चैतन्य तथा प्रकाश पुरुष का गुण नहीं है, अपितु पुरुष साक्षात् चैतन्यरूप तथा प्रकाशरूप है। पुरुष

---

१. ऋक् १/६०/१–३.   २. तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृह. उप. ३/९/२६)।

३. असंगो ह्ययं पुरुषः (बृह. उप. ४/३/१६)।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ (श्वेता. उप. ६/१९)।

४. विवेकस्यानुयोग्यात्मा पुरुषाख्यो निरूप्यते। (सां. सा. उत्तरभाग १/१)।

५. साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च (सां. प्र. भा. १/१४७ में उद्धृत)।

६. असङ्गो ह्ययं पुरुष इति। (वही १/१५ में उद्धृत)।

७. सां. सूत्र १/१३९, ६/२२ तथा 'शारीरादिप्रकृत्यन्तं यच्चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं वस्तु ततोऽतिरिक्तः पुमान्।' (सां. प्र. भा. १/१३९)।

निर्गुण है अतः उसमें कोई धर्म या गुण नहीं रह सकते।[1] पुरुष चित्सामान्य है। सांख्यसूत्रों पर अपने भाष्य के मङ्गलाचरण में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पुरुष को 'चिदेकरसवस्तु' कहा है।[2] यह पुरुष अनादि, अज, विशुद्ध अर्थात् अपरिणामी तथा विकाररहित है। वह अहेतुमान् है। वह न तो किसी तत्त्व के द्वारा उत्पन्न होता है और न किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न करता है। वह न तो प्रकृति है और न विकृति। सांख्यकारिका में उसे अविकृति तथा अप्रकृति कहा गया है।[3] पुरुष त्रिगुणातीत है। क्रिया उत्पन्न करनेवाले रजोगुण के पुरुष में न होने के कारण पुरुष सर्वथा निष्क्रिय तथा अकर्त्ता है।[4] वह निष्काम, निर्लिप्त, तटस्थ, मध्यस्थ, साक्षी,[5] उदासीन,[6] द्रष्टा और केवली है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में पुरुष शब्द आत्मतत्त्व का शत-प्रतिशत पर्यायवाची है। बुद्धिगत भोगों का साक्षात् द्रष्टा या प्रतिबिम्ब-प्रणाली से प्रतिसंवेदी होने के कारण उसे साक्षी कहा जाता है। पुरुष नित्य, ज्ञानरूप, पूर्ण तथा सदा शिव है।[7] पुरुष जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति दशाओं का अविकल साक्षी है। वह नित्यमुक्त है।[8] प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध अविद्या के द्वारा होता है।[9] पुरुष प्रकृति का यह संयोग उपराग या अभिमान रूप होता है[10] इसलिए पुरुष में कर्तृत्व और बुद्धि या प्रकृति में ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। पुरुष कूटस्थ, नित्य, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध तथा निरञ्जन है।[11]

सांख्य-दर्शन में वेदान्त-दर्शन की भाँति पुरुष को आनन्दरूप नहीं माना गया है। सांख्य-दार्शनिकों की दृष्टि में आनन्द सुख का ही पर्याय है और

---

१. निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा। (सां. सूत्र १/१४६)।
२. चिदेकरसवस्तुनि। (सां. प्र. भा. मङ्गला. ४)।
३. न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। (सांख्यका. ३)।
४. अहङ्कारः कर्त्ता, न पुरुषः। (सां. सूत्र ६/५४)।
५. सांख्यका. १९. ६. औदासीन्यं चेति। (सां. सूत्र १/१६३)।
औदासीन्यमकर्तृत्वं तेन चान्येऽपि निष्कामत्वादय उपलक्षणीयाः। (सां.प्र.भा. १/१६३)।
७. ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदाशिवः॥ (सौरपु. ११/२६) (सां.प्र.भा. १/१४६ में)।
८. नित्यमुक्तत्वम् (सां. सूत्र १/१६२)।
९. सां. सूत्र १/१२०. १०. सां. प्र. भा. १/५८.
११. नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो, नित्यमुक्तो निरञ्जनः।
स्वप्रकाशो निराधारः प्रदीपः सर्ववस्तुषु॥ (सां. सा. उत्तर भाग १/२२)।

बुद्धि का धर्म है। पुरुष चैतन्यरूप है, अतः उसमें अचेतन तत्त्व के गुण नहीं रह सकते। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य तथा सांख्यसार में पुरुष के आनन्दरूप होने का खण्डन किया है। सांख्यसार के उत्तर भाग का पूरा चतुर्थ परिच्छेद ही उन्होंने पुरुष की आनन्दरूपता के खण्डन में लगा दिया है। सुख और दुःख के अतिरिक्त आनन्द की धारणा आचार्य विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भ्रम तथा प्रवञ्चना है।[1] उनका तो यहाँ तक कहना है कि वेदान्त-सूत्रों में भी प्रधान की ही आनन्दरूपता वर्णित की गयी है, आत्मा की सुखरूपता अथवा आनन्दरूपता वेदान्त का सिद्धान्त नहीं है।[2] पुरुष प्रकृति की भाँति त्रिगुणात्मक तथा जड़ नहीं है। उसमें नित्यत्व, ज्ञातृत्व, विभुत्व आदि सामान्य धर्म हैं, किन्तु ये धर्म धर्मी के विशेष गुण नहीं अपितु उसके साक्षात् स्वरूप हैं। समस्त भोगों का अवसान पुरुष में होता है।[3]

आचार्य विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने तत्त्व-समास-सूत्र की अपनी टीका 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' में पुरुष का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है—'अनादिः सूक्ष्मः, चेतनः, सर्वगतः, निर्गुणः, कूटस्थो, नित्यो, द्रष्टा, भोक्ता, क्षेत्रवित्, अमनाः, प्रसवधर्मा चेति स्वरूपम्।'[4] षिमानन्द ने भी 'सांख्यतत्त्व-विवेचनम्' में पुरुष का स्वरूप इसी प्रकार वर्णित किया है।[5] भावागणेश ने पुरुष के 'कूटस्थनित्यत्व', 'मुख्यभोक्तृत्व' तथा 'वृत्तिसाक्षित्व' तीन लक्षण दिये हैं[6] तथा 'पुरुषः, आत्मा, पुमान्, पुद्गलजन्तुः, जीवः, क्षेत्रज्ञः, नरः, कविः, ब्रह्म, अक्षरः, प्राणः, ज्ञः, यः, कः, सः, एकः' ये पुरुष के पर्याय बताये हैं।[7]

स्वल्प से ही सन्तुष्ट रहनेवाले साधक, अव्यक्त, महत्तत्व, अहङ्कार, इन्द्रियों तथा भूतों में ही किसी एक को आत्मा मानते हुए इन्हीं की उपासना करते हैं, उनके मत का खण्डन करने के अभिप्राय से सांख्यकारिका पुरुष के अस्तित्व

---

१. सां. सा. उत्तर भाग ४/५–८.

२. आनन्दाद्याः प्रधानस्य इति वेदान्तसूत्रतः।
वेदान्तेऽपि न सिद्धान्त आत्मनः सुखरूपता॥ (सां. सा. उत्तर भाग ४/९)।

३. चिदवसानो भोगः। (सां. सूत्र १/१०४)।
पुरुषस्वरूपे चैतन्ये पर्यवसानं यस्यैतादृशा भोगसिद्धिः। (सां. प्र. भा. १/१०४)।

४. तत्त्वया. ३.　　५. सांख्यतत्त्ववि. ३.

६. कूटस्थनित्य इत्येकं लक्षणम्। मुख्यभोक्तृत्वमित्यपरं लक्षणम्। वृत्तिसाक्षित्वमिति तृतीयं लक्षणम्। (तत्त्वया. ३)।

७. तत्त्वया. ३।

की सिद्धि में प्रवृत्त हुई है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत तो यह है कि पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अनुमान आदि की इसलिए अपेक्षा नहीं है कि इस विषय में प्रायः सभी दार्शनिकों का मतैक्य है। अन्य आस्तिक दर्शनों की तो बात ही क्या भोक्तृरूप अहं-पदार्थ तो बौद्ध-दार्शनिकों को भी मान्य है![2] सांख्यसूत्रों[3] तथा कारिकाओं[4] में पुरुष की सत्ता की सिद्धि पञ्चविध हेतुओं द्वारा की गयी है।

संहतपरार्थत्वात् (सां० सूत्र १/१४०)

प्रकृति आदि समस्त संहत वस्तुएँ परार्थ हैं, अतः प्रकृति आदि से भिन्न असंहत तथा पर पुरुष की सिद्धि होती है।[5] जिस प्रकार लोक में शय्या आदि सङ्घात पदार्थ परार्थ होते हैं उसी प्रकार प्रकृति, महत् आदि पदार्थ भी परार्थ अर्थात् पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिए हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रकृति के संहत तथा परार्थ होने की पुष्टि के लिए योग-सूत्रकार पतञ्जलि का मत उद्धृत करते हैं तथा तर्क देते हुए कहते हैं कि यदि सुखादिस्वरूप प्रकृति को ही अपने सुख आदि का भोग हो तब तो कर्मकर्तृविरोध उपस्थित हो जायेगा क्योंकि एक ही धर्मी में कर्मत्व और कर्तृत्व दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। विना धर्मी के अनुभव के सुख आदि का अनुभव हो नहीं सकता क्योंकि हमें जो अनुभव होता है वह 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार का होता है। इस तरह समस्त संहत पदार्थों से भिन्न चित्प्रकाशरूप पुरुष की सत्ता मानना युक्तियुक्त है।[6]

त्रिगुणादिविपर्ययात् (सां० सूत्र १/१४१)

सुख-दुःख-मोहात्मक तीनों गुणों से विपरीत होने के कारण पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। शरीर आदि स्वयं सुख आदि धर्मों से युक्त होने के कारण सुख आदि के भोक्ता नहीं हो सकते। यदि सुख-दुःखात्मक शरीर को ही सुख आदि का भोक्ता मानेंगे तो कर्तृकर्मविरोध होगा। ये सुख आदि पुरुष में नहीं

---

१. तत्त्वकौ. १७ अव.।

२. चेतनापलापे जगदान्ध्यप्रसङ्गतो भोक्तर्यहं पदार्थे सामान्यतो बौद्धानामप्यविवादात्। (सां. प्र. भा. १/१३८)।

३. सां. सूत्र १/६६, १/१४०-१४४.

४. यतः सर्वं संहतं प्रकृत्यादिकं परार्थं भवति शय्यादिवत्। अतोऽसंहतः संहतदेहादिभ्यः परः पुरुषः सिद्ध्यति। (सां. प्र. भा. १/१४०)।

५. सांख्यका. १७.

६. सां. प्र. भा. १/६६.

होते प्रत्युत बुद्धि में ही होते हैं; पुरुष में सुख आदि की प्रतीति बुद्धि के प्रतिबिम्ब से होती है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं मूढ हूँ' आदि की प्रतीति पुरुष में बुद्धि की स्वामिता के कारण होती है। इस प्रतीति से पुरुष में सुख आदि धर्मों की सिद्धि नहीं होती।[1]

अधिष्ठानाच्चेति (सां० सूत्र १/१४२)

भोक्ता के अधिष्ठातृत्व से भी अधिष्ठेय प्रकृति आदि से भिन्न अधिष्ठाता पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। भोक्ता पुरुष का संयोग ही अधिष्ठान है और वह भोग के लिए होनेवाले प्रकृति आदि के परिणाम में कारण है। भोक्ता के अधिष्ठान से ही भोग के आयतन शरीर का निर्माण होता है।[2] सांख्यकारिका के टीकाकारों ने 'अधिष्ठानात्' पद की व्याख्या इस प्रकार की है कि त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं के किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित या प्रेरित होने के कारण भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र, माठरवृत्ति तथा गौडपाद-भाष्य में षष्टितन्त्र[3] का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया है।

भोक्तृभावात् (सां० सूत्र १/१४३)

विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि शरीर आदि को भोक्ता मानेंगे तो कर्म-कर्तृविरोध होने से भोक्तृत्व ही सम्भव नहीं हो सकेगा। कोई पदार्थ स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता। अतः पुरुष ही प्रकृति का भोक्ता है।[4] अपरिणामी पुरुष का यह भोग बुद्धि की अर्थाकार वृत्ति का प्रतिबिम्ब ही है।[5]

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च (सां० सूत्र १/१४४)

विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि शरीर आदि भोक्ता हो तो दुःख की अत्यन्त निवृत्तिरूप कैवल्य के लिए किसी की प्रवृत्ति न होगी। शरीर आदि तो प्रकृति ही हैं इसलिए ये विनाशी तथा दुःख-स्वभाव हैं, अतः स्वभाव का

---

१. सां. प्र. भा. १/१४१. २. वही १/१४२.

३. यथोक्तं षष्टिवर्गतन्त्रे। पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं व्यक्तं जनयति। (सुवर्ण. १७)। किन्तु माठरवृत्ति तथा गौडपादभाष्य में यह उद्धरण इस प्रकार मिलता है—तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।'

४. सां. प्र. भा. १/१४३.

५. अतोऽर्थोपरक्तवृत्तिप्रतिबिम्बावच्छिन्नं स्वरूपचैतन्यमेव भानं पुरुषस्य भोगः। (सां. प्र. भा. १/१०४)।

नाश न होने से शरीर आदि का कैवल्य असम्भव है ।[1] अतः कैवल्य के लिए प्रवृत्ति होने से प्रकृति से भिन्न पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है ।

इस प्रकार संहतों से परे, त्रिगुणातीत, अधिष्ठाता, भोक्ता तथा कैवल्य के लिए प्रवृत्तिशील और प्रकृति, महत्तत्व आदि से भिन्न पुरुष-तत्त्व की सिद्धि होती है ।

डॉ० अणिमा सेनगुप्ता ने पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सांख्य-दर्शन में पुरुष की सत्ता के लिए दिये गये तर्क, तार्किक तथा बौद्धिक धरातल पर आधारित हैं तथा सांख्य के द्वैतवाद तथा वस्तुवाद से अद्भुत साम्य रखते हैं ।'[2]

पुरुष का भोक्तृत्व

पुरुष का भोक्तृत्व सांख्य-दर्शन का विवादास्पद प्रश्न है । सांख्य-दर्शन में पुरुष की सत्ता की सिद्धि में उसके भोक्ता होने का भी तर्क दिया गया है, किन्तु कुछ दार्शनिक असङ्ग पुरुष को भोक्ता स्वीकार करने में हिचकिचाहट का अनुभव करते हैं । उनके अनुसार पुरुष को भोक्ता मानने पर वह विकारी हो जायेगा और वह तटस्थ, उदासीन, अप्रसवधर्मी तथा अपरिणामी आदि नहीं रह पायेगा तथापि अधिकांश सांख्यदार्शनिकों ने पुरुष का भोग स्वीकार किया है तथा अपने-अपने ढङ्ग से इस समस्या का समाधान करने की चेष्टा की है ।

सांख्यसूत्रों में पुरुष को भोक्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भोग का अवसान चित्स्वरूप पुरुष में होता है ।[3] किन्तु भोगरूप विकार से पुरुष विकृत नहीं होता क्योंकि भोगरूप विकार तो बुद्धि में ही रहता है और पुरुष भोग के निर्विकार साक्षी के रूप में । भोगरूप क्रिया वस्तुतः बुद्धिगत है परन्तु चिद्रूप-पुरुष के अधिष्ठान से ही भोग-क्रिया निष्पन्न होती है एवं बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष में भोग का उपचार होता है । पुरुष का यह भोक्तृत्व अविवेक के कारण ही सिद्ध होता है । तत्त्वतः भोगरूप से पुरुष असङ्कीर्ण रहता है । पुरुष में भोग का उपचार किस प्रकार होता है इसको स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार स्वच्छ मणि जपाकुसुम के सान्निध्य से रक्तवर्ण की प्रतीत होती है,[4] उसी प्रकार बुद्धि स्वगत इन्द्रियवृत्तियों को पुरुष तक

---

१. सां. प्र. भा. १/१४४. २. C. S. : A. C. S., pp. 111-112.

३. चिदवसानो भोगः (सां. सूत्र १/१०४) ।

४. कुसुमवच्च मणिः (सां. सूत्र २/३५) ।

पहुँचाकर उसके भोग को निष्पन्न करती है। इन्द्रियों की वृत्तियाँ वृत्तिरूप में पुरुष तक नहीं पहुँचती, वे बुद्धि में ही अवस्थित रहती हैं, पुरुष सान्निध्य के कारण ही उनका अनुभव करता है।

पुरुष के भोक्तृत्व के विषय में कपिल के शिष्य आसुरि के नाम से एक श्लोक अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥ (तर्क० ४१)।

विविक्त अर्थात् पुरुष के असङ्ग रहते हुए बुद्धि के दृक् रूप में परिणत होनेपर जो स्थिति होती है, वही पुरुष का भोग कहा जाता है। बुद्धि अपने समस्त धर्मों सहित असङ्ग पुरुष में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो जाती है जिस प्रकार स्वच्छ जल में चन्द्रमा अपने धर्मों सहित प्रतिबिम्बित होता है। इसी को बुद्धि का दृक्-परिणाम कहते हैं और इस प्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि ही पुरुष का भोग है। बुद्धि दृक्-रूप में परिणत होकर अपने धर्मों को पुरुष में समर्पित करती है अर्थात् पुरुष का भोग सिद्ध करती है। बुद्धि में प्रतिफलित वाह्य धर्मों को पुरुष बुद्धि के सहयोग से अनुभव करता है और चेतन के सान्निध्य से बुद्धि अपने इस कार्य को करने में समर्थ होती है, इसी को क्रमशः बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित होना तथा बुद्धि का दृक्-रूप परिणाम कहा जाता है।

पुरुष को भोक्ता मानने में एक शङ्का यह उठायी जाती है कि पुरुष में सुख-दुःख आदि का अनुभव स्वीकार करने पर पुरुष को विकारी मानना पड़ेगा और वह अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत हो जायेगा। इस प्रकार पुरुष के स्वरूप की दृष्टि से साक्षात् पुरुष में सुख-दुख आदि का भोग मानना युक्तियुक्त नहीं है।

सांख्य-दर्शन में इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है कि पुरुष को सुख-दुःख का अनुभव होनेपर भी उसके स्वरूप में विकार नहीं आता क्योंकि चेतन तत्त्व को किसी प्रकार का अनुभव होना, उसको उसके वास्तविक रूप से च्युत नहीं करता। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि जपाकुसुम के सम्पर्क से रक्तिम प्रतीत होती है परन्तु उसके अपने स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता तथा जिस प्रकार स्वच्छ जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्बित होनेपर जल के अपने वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक उसी प्रकार बुद्धि के सम्पर्क से सुख-दुःख आदि का साक्षात् अनुभव करनेपर भी पुरुष के अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आता।

सांख्य-परम्परा में आचार्य विन्ध्यवासी का मत आसुरि के मत से भिन्न है। उनके मत का उल्लेख तर्करहस्यदीपिका (४१) में अधोलिखित रूप में मिलता है।

'असङ्ग तथा अविकारी रहता हुआ पुरुष सान्निध्य के कारण अचेतन मन या बुद्धि को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन जैसा कर देता है।' जिस प्रकार जपाकुसुम स्फटिक-मणि को अपने सान्निध्य से रक्तिम बना देता है उसी प्रकार सान्निध्य के कारण चैतन्य बुद्धि में प्रतिफलित या प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य बुद्धि को चेतन के तुल्य कार्य करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस अवस्था में बुद्धि सभी प्रकार का अनुभव करती है, बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष अविवेक से यह मान लेता है कि मैं यह सुख-दुःख का अनुभव कर रहा हूं। यही पुरुष का भोग है, वस्तुतः वह कुछ करता या भोगता नहीं है।

विन्ध्यवासी के मत में पुरुष सर्वथा असङ्ग है। भोग भी मुख्यतया बुद्धि में होता है, क्योंकि चेतन पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए विना भोग आदि हो नहीं सकते। बुद्धि में भोग आदि की सामर्थ्य पुरुष के सान्निध्य से आती है, इसलिए पुरुष में भोग आदि का उपचार होता है। जपाकुसुम स्फटिक मणि से सर्वथा असंलग्न होते हुए भी सान्निध्यमात्र से अपनी विशेषता को उसमें सङ्क्रान्त कर देता है और जपाकुसुम के संसर्ग से श्वेत स्फटिक रक्त जैसा प्रतीत होने लगता है तथापि स्फटिक के काठिन्य आदि गुण जपाकुसुम में किसी तरह नहीं आ पाते और स्फटिक रक्त तब तक प्रतीत नहीं हो सकता जब तक कि जपाकुसुम का सान्निध्य न हो। इसी प्रकार पुरुष जब तक अचेतन बुद्धि को स्वसान्निध्य से स्वनिर्भास नहीं करता तब तक बुद्धि में भोग आदि की सम्भावना नहीं हो सकती किन्तु बुद्धि के धर्म पुरुष में नहीं आते। विन्ध्यवासी के मत में भोग का यही स्वरूप है।

आसुरि तथा विन्ध्यवासी दोनों आचार्यों के मतानुसार पुरुष असङ्ग एवं अविकृत है। अपने प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट करने के लिए दोनों ने एक ही उदाहरण को लिया है, किन्तु विन्ध्यवासी ने उदाहरण की मूल स्थिति को परिवर्तित कर दिया है। आसुरि के मतानुसार उपाधि जपाकुसुम बुद्धि-स्थानीय है और स्फटिक चेतन-स्थानीय। जिस प्रकार जपाकुसुम अपने धर्म रक्तिमा को स्फटिक में समर्पित कर देता है उसी प्रकार बुद्धि बाह्य-विषयों अथवा सुख-दुःख आदि को चेतन में समर्पित करती है। परन्तु विन्ध्यवासी के मतानुसार यही

उदाहरण विपरीत हो गया है। विन्ध्यवासी के मत में जपाकुसुम उपाधि चेतन-स्थानीय है और स्फटिक बुद्धि-स्थानीय। जिस प्रकार जपाकुसुम अपनी रक्तिमा से, स्फटिक को सान्निध्य के कारण रञ्जित कर देता है पर स्वयं स्फटिक के काठिन्य आदि गुणों से प्रभावित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार उपाधि-स्थानीय चेतन अपने चैतन्य से स्फटिक-स्थानीय बुद्धि को रञ्जित अथवा प्रभावित कर देता है, परन्तु बुद्धि के सुख-दुःख आदि धर्मों का प्रभाव चेतन पुरुष पर नहीं होता, प्रत्युत चेतन से प्रभावित बुद्धि ही सुख-दुःख का अनुभव करती है।

विन्ध्यवासी का यह मत सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत प्रतीत होता है। यदि विन्ध्यवासी के मतानुसार वास्तविक भोग अर्थात् सुख आदि का अनुभव बुद्धि को होना माना जाये तो यह सृष्टि भी बुद्धि के लिए होनी चाहिए क्योंकि भोग-सम्पादन के लिए ही प्रकृति की सृष्टि होती है। ऐसी स्थिति में चेतन पुरुष का प्रयोजन केवल बुद्धि को सहायता पहुँचाना मात्र रह जायेगा। इस प्रकार तो चेतन पुरुष साध्य न बन कर साधन बन जायेगा एवं प्रकृति का स्वरूप जो परार्थ कहा जाता है, वह भी असङ्गत हो जायेगा। जब समस्त भोग मुख्यतया बुद्धि को होंगे तो प्रकृति को 'परार्थ' कैसे कहा जा सकेगा क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का विकार होने से तत्स्वरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्रकृति की सत्ता की सिद्धि के लिए दिया गया 'परार्थ' हेतु भी असङ्गत हो जायेगा। वस्तुतः पुरुष को विकार से बचाने के लिए ही विन्ध्यवासी ने उसे बुद्धि के स्थान पर ला पटका है। विन्ध्यवासी ने दृष्टान्त के विपर्यास से अर्थ का विपर्यास कर दिया है; साध्य को साधन और साधन को साध्य के स्थान पर बैठा दिया है।

पुरुष-भोग-विषयक आसुरि का सिद्धान्त ही वस्तुतः युक्तियुक्त है। उनके मत का अनुमोदन, सांख्यकारिका तथा उसकी टीकाओं एवं आचार्य विज्ञान-भिक्षु के द्वारा हुआ है। उनके मतानुसार जब बुद्धि-स्थानीय जपाकुसुम पुरुष-स्थानीय स्फटिक-मणि को रञ्जित करता है तब भी स्फटिक-मणि की स्वच्छता अपने रूप में अवस्थित रहती है। यदि वह स्वच्छता अपने स्वरूप का परित्याग कर दे तो उसमें रक्तिमा का अनुभव होना भी असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार साधनभूत बुद्धि के द्वारा अर्पित सुख-दुःख आदि का अनुभव करने पर भी पुरुष के अपने विशुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं

आती प्रत्युत वह अनुभव पुरुष के चेतन स्वरूप के अस्तित्व का हो द्योतक है। पुरुष के इसी भोग को आहार्य भोग कहा जाता है। बुद्धि सुख-दुःख सहित पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है और पुरुष अन्य (बुद्धि) के द्वारा आहृत भोग को अविवेक से अपना समझता है। इसी आधार पर इसे आहार्य-भोग की संज्ञा दी गयी है। इस वर्णन में पुरुष में सुख-दुःख आदि के अनुभव से विकार की कल्पना की आशङ्का से उसे बचाने का यत्न किया गया है। विन्ध्यवासी के अनुसार इस प्रकार के आहार्य-भोग की भी पुरुष में सम्भावना नहीं है।

पुरुष के भोग के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण का मत भी सांख्यसूत्रकार के अनुरूप ही है। ३६वीं कारिका में कहा गया है कि ये सम्पूर्ण तेरह करण परस्पर विलक्षण हैं तथा प्रदीप के समान एक-दूसरे के सहयोग से अपना कार्य-सम्पादन करते हैं। ये अपने-अपने अर्थ को प्रकाशित कर अन्ततः बुद्धि को समर्पित कर देते हैं[1] तथा बुद्धि ही पुरुष के सम्पूर्ण भोगों को निष्पन्न करती है और वही प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है।[2] संसार में जरा-मरण आदि से जनित दुखों को चेतन पुरुष प्राप्त करता है। किन्तु यह सुख-दुःख की प्राप्ति-रूप भोग उस समय तक होता है, जब तक बुद्धि आदि करण विद्यमान रहते हैं।[3] इन करणों की विद्यमानता आदि सर्ग से लेकर उस समय तक रहती है जब तक पुरुष को तत्त्व-ज्ञान नहीं हो जाता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कारिकाकार सांसारिक अवस्था में पुरुष में सुख-दुःख का अनुभव मानते हैं, यही उसका भोग है। बुद्धि आदि करण इस भोग के साधनमात्र होते हैं, साध्य नहीं।

सांख्यकारिका की टीकाओं माठरवृत्ति,[4] युक्तिदीपिका,[5] गौडपादभाष्य[6] तथा जयमङ्गला[7] में भी बुद्धि के अचेतन होने के कारण पुरुष का भोग स्वीकार किया गया है। आचार्य वाचस्पति ने ५५वीं कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सुख-दुःख आदि गुण तो बुद्धि के हैं, परन्तु बुद्धि के साथ पुरुष का भेदज्ञान न होने के कारण बुद्धि के गुणों का पुरुष अपने में आरोप कर लेता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र कदाचित् वेदान्त के प्रभाव से या सांख्य की परम्परा यही है इस भावना से प्रभावित होकर ऐसा लिख गये

१. सांख्यका. ३६. २. सांख्यका. ३७. ३. वही ५५.
४. माठ. ५५. ५. युक्ति. ५५. ६. गौड. ५५.
७. जयम. ५५.

हैं। इन पंक्तियों को लिखने के पश्चात् स्वयं उनको यह बात खटकी होगी और पुनः 'अथवा' लिखकर, उन्होंने पूर्ववत् अर्थ ही किया है।[1]

पुरुष के भोग के सम्बन्ध में आसुरि तथा विन्ध्यवासी के मतों में पाया जानेवाला भेद वृत्तिकार अनिरुद्ध तथा भाष्यकार विज्ञानभिक्षु के मत में भी पाया जाता है। अनिरुद्ध विन्ध्यवासी की भाँति बुद्धि में भोग स्वीकार करते हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु ने आसुरि की भाँति पुरुष का भोग स्वीकार किया है। अनिरुद्ध के मतानुसार भोग बुद्धि में ही होता है, पुरुष को तो केवल उसका अभिमान होता है।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र (१/९९) के अपने भाष्य में अनिरुद्ध के इस मत की ओर सङ्केत करके इसका इस प्रकार खण्डन किया है कि 'किसी का यह मत है कि बुद्धि में चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण वही (बुद्धि) सभी अर्थों की ज्ञाता है, क्योंकि ज्ञान और इच्छा के सामानाधिकरण्य का जीवन में अनेकशः अनुभव होता है और ज्ञान को चेतन पुरुष में तथा प्रवृत्ति को बुद्धि में मानना कथमपि समीचीन नहीं प्रतीत होता। अतः सभी पदार्थों का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है, ऐसा माननेवाला व्यक्ति पुरुष के स्वरूप को नहीं समझता। यदि बुद्धि को ही ज्ञाता स्वीकार कर लिया जाय तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा क्योंकि उसमें चेतन पुरुष के ही भोग की बात कही गयी है, बुद्धि के भोग की नहीं। इसके अतिरिक्त इस मत को स्वीकार करने में एक दोष यह भी है कि तब पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलेगा क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार पुरुष के अनुमान में लिङ्ग होनेवाले भोग को तो बुद्धि में ही मान लिया है।[3] अतः स्पष्ट है कि जहाँ अनिरुद्ध भोग को बुद्धि में ही स्वीकार करते हैं, पुरुष को केवल उसका अभिमान होना मानते हैं, वहाँ विज्ञानभिक्षु भोग को पुरुष में ही स्वीकार करते हैं, भले ही वह आहार्य भोग हो अर्थात् स्वतः न होकर बुद्धि द्वारा उसमें आनीत या सम्पादित हो। अतः सुख-दुःख की अनुभूति पुरुष में होती है, और यही सांख्य-सिद्धान्त में पुरुष का भोग है।

पुरुष का भोक्तृत्व स्वीकार कर लेने पर प्रश्न उठता है कि तटस्थ तथा उदासीन पुरुष भोक्ता किस प्रकार बनता है? आचार्य वाचस्पति मिश्र तथा

---

१. तत्त्वकौ. ५५.   २. सां. प्र. भा. १/९९.   ३. वही।

आचार्य विज्ञानभिक्षु दोनों ने ही इस समस्या का समाधान अपने-अपने ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र बुद्धिवृत्ति में पुरुष के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करते हैं। उन्होंने तत्त्वकौमुदी[1] तथा तत्त्ववैशारदी[2] में 'चिच्छाया' के द्वारा पुरुष के भोग को स्वीकार किया है। वाचस्पति के अनुसार पुरुष तथा बुद्धि में सन्निधान के कारण पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है। पुरुष के प्रतिबिम्ब से अचेतन बुद्धि-वृत्तियाँ भी चेतनवत् प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यह पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ बुद्धिवृत्तियों के साथ तादात्म्य ग्रहण करके, उसमें स्थित ज्ञान, सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा स्वयं भी, उनसे युक्त-सा प्रतीत होता है। इस मिथ्या तादात्म्य के अनुभव से पुरुष इसे अपना स्वरूप समझ लेता है। यह मिथ्या तादात्म्य ही पुरुष का भोग है।[3] पुरुष और बुद्धि के सन्निधान की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि पुरुष और बुद्धि का संयोग देश या काल से सम्बन्धित नहीं है, अपितु बुद्धिवृत्तियों को प्रकाशित करने की विशेष प्रकार की योग्यता है, जिससे अज्ञानावस्था में पुरुष में स्वस्वामिभाव का उदय होता है और इसीलिए पुरुष भोक्ता प्रतीत होता है।[4] वाचस्पति मिश्र की ही भाँति अनिरुद्ध भी पुरुष को ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित मानते हैं।[5] इस प्रकार इस विषय में वाचस्पति मिश्र एवं अनिरुद्ध का ऐकमत्य है।

पुरुष को भोग किस प्रकार होता है इस सन्दर्भ में आचार्य विज्ञानभिक्षु का इन दोनों आचार्यों से मतभेद है। उन्होंने इनके मतों का खण्डन सांख्यसूत्र (१/९९) के अपने भाष्य में किया है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि केवल अर्थाकाराकारित बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब माना जाये तो केवल बुद्धि तथा पुरुष के प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध होगा; पुरुष और बुद्धि का नहीं। ऐसी अवस्था में अर्थाकार बुद्धि द्रष्टा और दृश्य दोनों होगी और कर्तृ-कर्म विरोध होगा। यदि दोनों (पुरुष और बुद्धि) के बीच सम्बन्ध के लिए पुरुष में योग्यता स्वीकार की जाय, तब यह योग्यता मोक्षावस्था में भी रहेगी और पुरुष का भोग कभी समाप्त नहीं होगा और (पुरुष का) मोक्ष निरर्थक हो जायेगा। अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उभयविध प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त की स्थापना की है। उनके मतानुसार केवल अर्थाकाराकारित अर्थात् आरूढ विषय (पदार्थ) वाली

---

१. तत्त्वकौ. ५. २. तत्त्ववै. १/४. ३. तत्त्वकौ. ५ तथा तत्त्ववै. १/४.
४. तत्त्ववै. १/४. ५. अनि. १/९८.

बुद्धि में ही पुरुष का प्रतिबिम्बन नहीं होता प्रत्युत अर्थाकार रूप से परिणत बुद्धि का भी पुरुष में प्रतिबिम्बन होता है। यह प्रतिबिम्बन उभयपक्षीय घटना है, एकपक्षीय नहीं। इस पारस्परिक प्रतिबिम्बन के लिए विज्ञानभिक्षु ने दोनों के मध्य एक विशेष प्रकार का संयोग स्वीकार किया है जिससे चिद्रूप पुरुष बुद्धि में विना संसक्त हुए प्रतिबिम्बित हो जाता है। इन दोनों के सम्बन्धों की व्याख्या के लिए उन्होंने लौह और अग्नि का दृष्टान्त दिया है, जिस प्रकार लोहे के साथ अग्नि का संयोग-विशेष ही उसका (लोहे का) उज्ज्वलन है, अग्नि का प्रकाश आदि उसमें संक्रान्त नहीं होता उसी प्रकार पुरुष का भी बुद्धि के साथ संयोग-विशेष ही उसमें प्रतिबिम्बित होना है। एतदर्थ बुद्धि का ही सत्त्वोद्रेक परिणाम होता है, पुरुष का नहीं। सत्त्वोद्रेक परिणाम के विना बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बन उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार मटमैले जल अथवा धूल से आवृत दर्पण में आकृति का। इसीलिए बुद्धि एवं पुरुष के मध्य संयोग-विशेष की कल्पना की जाती है।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष और बुद्धि के इस उभयपक्षीय प्रतिबिम्ब को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चक्षु केवल रूप को ही ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार पुरुष केवल बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब को ही ग्रहण करता है। वास्तविक भोग विभिन्न मानसिक परिवर्त्तनों के रूप में बुद्धि में, उसका सांसारिक पदार्थों से दैशिक-कालिक सम्बन्ध होने के कारण होता है, न कि पुरुष में। बुद्धि ही कभी घटाकार या कभी ज्ञानरूप में परिवर्तित होती है, पुरुष नहीं। पुरुष प्रकाशस्वरूप होने के कारण केवल बुद्धिवृत्तियों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार का उभयपक्षीय प्रतिबिम्बन पुरुष के अपरिणामी स्वरूप को प्रभावित नहीं करता[2] क्योंकि परिणाम का अर्थ है नवीन गुण का जन्म, किन्तु प्रतिबिम्ब के द्वारा बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध होने से किसी नवीन गुण का जन्म नहीं होता।

पुरुष के भोक्तृत्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जब अर्थाकार बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो पुरुष अचेतन बुद्धि को भी चेतन बना देता है और अर्थाकार बुद्धि जब पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, तब पुरुष में अविवेक से स्वस्वामिभाव का उदय होता है और बुद्धिवृत्ति को वह अपनी वस्तु समझ लेता है। किन्तु कैवल्य की अवस्था में अविवेक तथा बुद्धिवृत्ति दोनों का अभाव

---

१. सां. प्र. भा. १/९९. २. वही।

रहता है इसलिए न तो उभयविध प्रतिबिम्बन होता है और न बुद्धिवृत्ति को अपनी वस्तु समझने का ज्ञान। जीवन्मुक्त अवस्था में भी अविवेक का नाश हो जाने से दोनों (बुद्धिवृत्ति और पुरुष) में अभेदग्रहण नहीं होता प्रत्युत दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। इसलिए कैवल्य की अवस्था में पुरुष को सुख-दुःख का भोग नहीं होता।

अपने इस अन्योन्य प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगभाष्यकार व्यास का साक्ष्य[१] भी प्रस्तुत किया है किन्तु यह सन्दर्भ भाष्यकार व्यास का अपना नहीं है, उन्होंने भी अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पुष्टि के लिए 'तथा चोक्तम्'[२] कहकर कहीं अन्यत्र से उद्धृत किया है। वाचस्पति के मतानुसार यह सन्दर्भ आचार्य पञ्चशिख का है।[3] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार उनके मत की पुष्टि पञ्चशिख एवं व्यास के मतों से भी होती है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र अद्वैत वेदान्त के भामती-प्रस्थान के संस्थापक थे, वे विवरण-प्रस्थान का बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद नहीं स्वीकार कर सकते थे। आचार्य विज्ञानभिक्षु अपने अन्योन्य-प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त के कारण ही पुरुष के भोक्तृत्व की व्याख्या करने में अधिक सफल रहे हैं। डॉ० अणिमा सेनगुप्ता ने विज्ञानभिक्षु के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'विज्ञानभिक्षु बुद्धि तथा पुरुष के दोहरे प्रतिबिम्ब तथा अविद्या को स्वीकार करने से पुरुष के बन्धन और मोक्ष की सही अर्थों में वस्तुवादी व्याख्या करने में अधिक सफल रहे हैं।'[४]

सामान्यतः सांख्य-दर्शन में पुरुष को अकर्त्ता स्वीकार किया गया है।[५] किन्तु श्री उदयवीर शास्त्री सांख्य-दर्शन के पुरुष को कर्त्ता मानते हैं। उन्होंने पुरुष के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—'कपिल सांख्य में आत्मा को कर्त्ता, द्रष्टा, भोक्ता, अधिष्ठाता आदि माना गया है।

---

१. स चायमन्योऽन्यप्रतिबिम्बो योगभाष्ये व्यासदेवैः सिद्धान्तितः। (सां. प्र. भा. १/९९)।

२. तथा चोक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। (योगभा. २/२०)।

३. तथाचोक्तं पञ्चशिखेन—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः। (तत्त्ववै. २/२०)।

४. C.S. : A C.S., p. 118.

५. सां. सूत्र १/१०५ तथा सांख्यका. १९.

आत्मा में कर्तृत्व को स्वीकार न करना और केवल भोक्तृत्व को मानना; और वह भी ऐसा, जैसा कि विन्ध्यवासी ने बतलाया है, यह निश्चय ही दर्शनान्तरों की विचारधारा को सांख्य पर आरोपित किया गया है। इस सम्बन्ध में विन्ध्यवासी पर तो वेदान्त-विचारों का पूरा प्रभाव प्रतीत होता है। वस्तुतः यह कथन अर्धजरतीय न्याय के समान है। या यूँ कहिए कि आधा तीतर आधा बटेर है, जो यह कहा जाता है कि आत्मा कर्ता तो नहीं, पर भोक्ता है। जब हम आत्मा को भोक्ता मान लेते हैं, तब उसे कर्त्ता मानने से कैसे इनकार किया जा सकता है। भोक्ता मानना भी तो भोग के प्रति उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना है। यदि भोक्तृत्व का स्वरूप ऐसा माना जाय जैसा विन्ध्यवासी ने स्वीकार किया है, तो वैसा स्वरूप कर्तृत्व का भी मानकर आत्मा को भोक्ता के समान कर्त्ता भी क्यों नहीं कहा जा सकता? अभिप्राय यह है कि यदि आत्मा को भोक्ता माना जाता है तो उसे कर्त्ता मानना पड़ेगा और सांख्य ऐसा मानता है।'[1] श्री उदयवीर शास्त्री के उपर्युक्त मत के सन्दर्भ में विज्ञानभिक्षु का यह वाक्य अवधेय है 'यद्यपि कूटस्थतया पुरुषे कर्म नास्ति तथापि भोगसाधनतया पुरुषस्वामिकत्वेन राज्ञो जयादिवदेव पुरुषस्य कर्मोच्यते।'[2]

अपने मत की पुष्टि के लिए शास्त्री जी पुरुष के कर्तृत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—एक अधिष्ठातृरूप और दूसरा उपादानरूप। प्रकृति से संसार की उत्पत्ति होती है, मृत्तिका से घट आदि का निर्माण होता है। अतः जहाँ प्रकृति को कर्तृत्व प्रदान किया गया है, वहाँ अभिप्राय उपादानरूप कर्तृत्व से है। पुरुष को अकर्त्ता भी इसी अभिप्राय से कहा गया है कि उसमें उपादानरूप कर्तृत्व का अभाव है। प्रकृति का परिणाम चेतन पुरुष के सान्निध्य के विना नहीं होता। इसलिए अपनी सन्निधि के कारण वह चेतन, उस परिणाम का साक्षी है। उसे अधिष्ठाता कहा जाता है और वह उस परिणाम का कर्त्ता भी है। परन्तु परिणति क्रिया का वह आधार नहीं है, उस क्रिया का आधार अचेतन प्रकृति ही है, जो परिणत हो रही है। विषयाकार में परिणत बुद्धि विषय को पुरुष में समर्पित कर देती है। पुरुष उस विषय का अनुभव करता है। यही पुरुष का कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। अतः जहाँ सांख्य-दर्शन में पुरुष को अकर्त्ता कहा गया है, वह पुरुष के

---

१. सां. सिद्धा., पृष्ठ ७८. २. सां. प्र. भा. २/४६.

परिणाम या उपादानरूप कर्तृत्व का निषेध है, अधिष्ठातृरूप अथवा साक्षीरूप कर्तृत्व का नहीं।[1]

१६वीं सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में 'अकर्तृभावः' पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यदि पुरुष अकर्त्ता है तो प्रयोक्ता कैसे हो सकता है? यदि उसे प्रयोक्ता माना जाता है, तो वह अकर्त्ता नहीं रह सकता, क्योंकि वह प्रेरणा का साक्षात् कर्त्ता है। इस समस्या का समाधान करते हुए वहाँ कहा गया है कि कर्तृत्वभाव दो प्रकार का होता है—एक प्रयोक्तृरूप दूसरा कर्तृरूप। कारिका के 'उदासीन' पद से गुण-लक्षण से प्राप्त होनेवाले कर्तृत्व का निषेध किया गया है।[2] प्रयोक्तृरूप अथवा अधिष्ठातृत्वरूप कर्तृत्व तो पुरुष में रहता ही है। सांख्यकारिका की अन्य टीकाओं—जयमङ्गला[3] तथा तत्त्वकौमुदी[4] में भी इसी आधार पर पुरुष के अकर्तृत्व की व्याख्या की गयी है। उनके अनुसार गुण प्रसवधर्मी हैं, इसके विपरीत पुरुष अप्रसवधर्मी हैं। इसलिए गुण कर्त्ता हैं और पुरुष अकर्त्ता हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष में भोक्तृत्व की भाँति प्रतिबिम्बरूप से कर्तृत्व भी स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि पुरुष में जो कर्तृत्व होता है, वह बुद्धि के उपराग से आता है।[5]

पुरुष-बहुत्व

सांख्य-दर्शन में वेदान्त-दर्शन की भाँति आत्मा के एक होने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु पुरुष-बहुत्व की कल्पना की गयी है। आचार्य भावागणेश ने 'पुरुषबहुत्व' को कपिल, आसुरिं, पञ्चशिख तथा पतञ्जलि आदि प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त बताया है।[6] सांख्य-दर्शन में प्रतिपिण्ड भिन्न पुरुष की कल्पना की गयी है तथा सांख्यसूत्रों[7] एवं सांख्यकारिका[8] में पुरुष-बहुत्व की सिद्धि तर्कों के द्वारा की गयी है। सांख्यसूत्रों में पुरुष-बहुत्व की सिद्धि इस प्रकार की गयी है--

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष-बहुत्वम्। (१/१४६)

---

१. सां. सिद्धा, पृष्ठ ८१–८२. २. माठ. १९.

३. पुरुषस्याप्रसवधर्मित्वादकर्तृत्वम्। (जयम. १९)।

४. अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्ता। (तत्त्वकौ. १९)। ५. सां. प्र. भा. १/१६४.

६. एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयः....बहून् पुरुषानात्मत्वेन वदन्ति। (तत्त्वया. ३)।

७. सां. सूत्र १/१४९. ८. सांख्यका. १८.

जन्म, मृत्यु तथा करण की व्यवस्था के कारण पुरुष-बहुत्व की सिद्धि होती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्य-दर्शन में जन्म, मरण का तात्पर्य उत्पत्ति और विनाश नहीं है, क्योंकि पुरुष नित्य तत्त्व है, अतः उसका उत्पत्ति तथा नाश नहीं हो सकता। नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि सङ्घातों का संयोग ही जन्म और उनसे वियोग ही मरण है। उनका मत है कि जन्म आदि व्यवस्था के लिए श्रुति में भी पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया गया है तथा वे अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/५) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/१४) भी उद्धृत करते हैं।[१] ये जन्म, मरण आदि विरुद्ध धर्म पुरुष में संयोग, वियोग तथा भोग एवं अभोग रूप से स्वीकार किये गये हैं। पुरुष में केवल परिणामरूप धर्म का ही अभाव है।[२] पुरुष-बहुत्व की सिद्धि के लिए एक अन्य तर्क देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'पुण्यवान् स्वर्ग में जन्म ग्रहण करता है और पापी नरक में, अज्ञानी का बन्धन होता है तथा ज्ञानी की मुक्ति होती है।' इस अर्थवाली श्रुति-स्मृति की अन्यथा अनुपपत्ति न हो, इसलिए पुरुष-बहुत्व ही मानना श्रेयस्कर है।[3]

पुरुष एक है तथा जन्म, मरण की व्यवस्था उपाधियों द्वारा हो जायेगी इस मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यदि उपाधियों द्वारा अनेक पुरुषों की व्यवस्था मानी जाये तो अनेक उपाधियों से अवच्छिन्न एक ही पुरुष में विविध जन्म, मरण तथा करण स्वीकार करने पड़ेंगे। एक ही पुरुष में विविध काय-व्यूह आदि किस प्रकार सम्भव होंगे? अतः उपाधि-भेद से जन्म आदि की व्यवस्था न हो पायेगी। जैसा हम देखते भी हैं कि एक मनुष्य के जन्म के साथ सभी मनुष्यों का जन्म नहीं और न एक साथ सभी की मृत्यु ही होती है।[४] विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में उपाधिगत भेद मानने में दूसरा दोष यह है कि जिस प्रकार एक घट से मुक्त होनेपर आकाश अन्य घट के संयोग से पुनः घटाकाश बन जाता है उसी प्रकार आत्मा भी एक उपाधि से मुक्त होनेपर भी अन्य उपाधियों के संयोग से बन्धनग्रस्त हो जायेगी। यदि बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था के प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को लौकिक भ्रम का अनुवादक-मात्र मान लिया जाये तो श्रुति को मिथ्या पुरुषार्थ का प्रतिपादन करनेवाली और प्रतारिका मानने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[५] एक ही पुरुष को उपाधि के

---

१. सां. प्र. भा. १/१४९. २. वही १/१५२. ३. वही १/१४९.
४. वही १/१५०. ५. वहीं।

आधार पर अनेक मानने में एक दोष यह भी है कि जैसे घट के टूट जानेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उपाधि के नष्ट हो जाने से उपाधिमान् का भी नाश हो जाना चाहिए, किन्तु उपाधि नष्ट हो जाने से पुरुष का नाश नहीं होता।[1] इस प्रकार उपाधि के द्वारा एक पुरुष की सिद्धि नहीं हो पाती प्रत्युत पुरुष-बहुत्व की ही सिद्धि होती है।

साख्यकारिका[2] में इस तर्क के अतिरिक्त 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' तथा 'त्रैगुण्य-विपर्ययाच्चैव' दो तर्क और दिये गये हैं। विभिन्न पुरुषों में एक साथ या एक-सी प्रवृत्ति न होने से तथा कुछ पुरुषों के सत्त्वप्रधान, कुछ के रजोप्रधान एवं कुछ के तमोप्रधान होने से भी पुरुष-बहुत्व की सिद्धि होती है।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन में पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया गया है। वेदान्त-दर्शन में एक आत्मा को स्वीकार किया गया है। अतः वेदान्त की अद्वैतपरता तथा सांख्य के पुरुष-बहुत्ववाद ने आचार्य विज्ञानभिक्षु के समक्ष जटिल समस्या उपस्थित कर दी। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने इस स्थल पर भी अपनी अद्भुत सूझ-बूझ का परिचय दिया है तथा अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति से दोनों सिद्धान्तों का उचित समाधान प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि ब्रह्म-सूत्रों में भी कहीं पर भी आत्मा की अत्यन्त अद्वैतता नहीं प्रतिपादित है।[3] अपितु 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' (ब्रह्मसूत्र १/१/२१) 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' (ब्रह्मसूत्र २/१/२२) तथा 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र २/३/४३) ये तीन सूत्र पुरुष-बहुत्व की ही स्थापना करते हैं।[4]

पुरुष-बहुत्व को अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल मान लेने पर यह शङ्का उठती है कि क्या 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० उप० १/१/१) तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० उप० ६/२/१) इत्यादि आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ निरर्थक हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि आत्मैक्य का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों और स्मृतियों का विरोध पुरुष-बहुत्व मानने से नहीं होता क्योंकि आत्मैक्य का प्रयोग जाति के अर्थ में किया गया है, अखण्ड, एकरूप के अर्थ

---

१. उपाधिवियोगे घटाकाशनाशवत् तन्नाशेन जीवो न म्रियते। (सां. प्र. भा. १/१५३)।

२. सांख्यका. १८.

३. किञ्च वेदान्तसूत्रे क्वापि सर्वात्मनामत्यन्तैक्यं नोक्तमस्ति। (सां. प्र. भा. १/१५३)।

४. वही।

में नहीं।[1] जातिपरकता का अर्थ है द्वैत का निषेध।[2] पुरुषों के चिन्मय रूप में परस्पर वैधर्म्य नहीं है प्रत्युत समानता है, एकजातीयता है। इस भावना से साधक के समस्त अभिमान की निवृत्ति होती है और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। श्रुतियों के आत्मैक्य के प्रतिपादन का यही लक्ष्य है। पुरुष एक-जातीय होते हुए अनेक तथा अनन्त है। पुरुष परस्पर वैधर्म्य लक्षणों से रहित है, जिस प्रकार अनेक-किरणात्मक तेजोमय आदित्यमण्डल एक ही प्रकार की अनेक किरणपुञ्जों से पिण्डरूप होकर एक रूप में व्यवहृत होता है उसी प्रकार स्वांशभूत अनेक असंख्य पुरुषोंवाला विराट् रूप एक या अद्वैत आत्मा श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।[3] पुरुष को अखण्ड स्वीकार करने पर एक और आपत्ति उठती है कि वामदेव आदि मुक्त हो चुके हैं और यह हमारे अनुभवों से ही सिद्ध है कि हम लोग बद्धावस्था में हैं ऐसी अवस्था में यदि दोनों में एक ही अखण्ड पुरुष हो तो वामदेव को बद्ध माना जाये या मुक्त।[4] अतः पुरुष की अखण्डता का विरोध करने के लिए ही विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचनभाष्य का मङ्गलाचरण ही इसी श्लोक से प्रारम्भ किया है—

एकोऽद्वितीय इति वेदवचांसि पुंसि सर्वाभिमानविनिवर्त्तनतोऽस्य मुक्त्यै ॥
वैधर्म्यलक्षण-भिदा-विरहं वदन्ति नाखण्डतां ख इव धर्मशताविरोधात् ॥

हरिहरानन्द आरण्य ने अपने सांख्यतत्त्वालोक में पुरुष-बहुत्व के सांख्य-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति-वाक्य पुरुष-एकत्व के प्रतिपादक नहीं हैं प्रत्युत उनमें आत्मा के द्वैतप्रतीति-शून्य होने का उल्लेख है अथवा यह समझना चाहिए कि वे आत्मा के एक-जातीय होने का उपपादन करते हैं।[5]

उपाधि

अद्वैत वेदान्त का मत है कि आत्मा या पुरुष एक ही है, उपाधियों के भेद से उसमें अनेक की प्रतीति होती है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु इस वेदान्त-मत का खण्डन करते हुए कहते हैं यदि अद्वैत प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को पुरुष की अखण्डतामात्र का प्रतिपादक माना जायेगा तो उनसे अभिमान

----

१. आत्मैक्यश्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति तासां जातिपरत्वात्। जातिः सामान्यमेकरूपत्वं तत्रैवाद्वैत-श्रुतीनां तात्पर्यात् न त्वखण्डत्वे, प्रयोजनाभावात्। (सां. प्र. भा. १/१५४)।

२. जातिपरत्वात्, विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वात्। (वही)।

३. वही। ४. वही १/१५७. ५. सांख्यतत्त्वा. ७.

की निवृत्ति सम्भव नहीं होगी और अभिमान की निवृत्ति के विना मोक्षप्राप्ति भी सम्भव नहीं है।[1] उपाधिसंयोग से अनेकजीवता माननेपर अखण्ड आत्मा की सिद्धि तो नहीं ही हो पाती और अधोलिखित समस्यायें भी उठ खड़ी होती हैं—(१) आत्मा और उपाधि इन दोनों को स्वीकार कर लेनेपर अद्वैत का विरोध होगा।[2] (२) यदि उपाधियों को आत्मा की भाँति सत् न मान कर अविद्याजन्य स्वीकार किया जाय, तो उपाधि के स्थान पर अविद्या को सत् स्वीकार करना होगा, तथा पुनः द्वैत की प्रसक्ति होगी।[3] (३) अद्वैतवादी को एक आत्मा के अतिरिक्त आत्म-साधक स्वतन्त्र प्रमाण की सत्ता को मानना पड़ता है, आत्म-साधक प्रमाण की सत्ता मानने के कारण भी द्वैत की आपत्ति होती है।[4]

आचार्य विज्ञानभिक्षु अपने मत—पुरुष-बहुत्व का समर्थन करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों के अद्वैतपरक वाक्य आत्मा की अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं, यह मानने में कोई प्रमाण नहीं है। वास्तव में पुरुष अनेक तथा असंख्य हैं। श्रुतियों ने सामान्य या जाति के आधार पर ही आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया है।[5]

जीव

सांख्य-दर्शन में पुरुष को व्यापक मानने से यह शङ्का होती है कि पुरुषों को व्यापक मान लेने पर, 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः' आदि जीव को केश के अग्र भाग के शतांश के सौवें भाग के बराबर सूक्ष्म बतानेवाली श्रुतियाँ अनुपपन्न हो जायेंगी तथा ईश्वर का प्रतिषेध किये जाने एवं पुरुषों को एकरूप या एकजातीय मानने के कारण जीवात्मा तथा परमात्मा का शास्त्रीय भेद भी अनुपपन्न हो जायेगा।[6] आचार्य विज्ञानभिक्षु इस समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि सांख्य-दर्शन में 'पुरुष' शब्द तथा 'जीव' शब्द एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। उनके मतानुसार सांख्य-दर्शन में पुरुष शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में हुआ है, जीव के अर्थ में नहीं। वृत्तिकार

---

१. सां. प्र. भा. १/१५४.

नोट—विज्ञानभिक्षु ने 'पुरुष' तथा 'आत्मा' शब्द का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया है।

२. सां. प्र. भा. ६/४६. ३. सां. प्र. भा. ६/४७.

४. अद्वैतवादिनामुत्तरं सिद्धान्तश्च न घटते, आत्मसाधकप्रमाणस्याभावात्। तदङ्गीकारे, च तेनैवाद्वैतहानिरिति। (वही ६/४८)

५. वही १/१५४. ६. सां. प्र. भा. ६/६३ उपो.।

अनिरुद्ध के अनुसार भी पुरुष बुद्धि, अहङ्कार, मन आदि से संयुक्त होने पर ही जीव बनता है।[1] विज्ञानभिक्षु भी वृत्तिकार अनिरुद्ध के मत से सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि अन्तःकरणरूप उपाधि से युक्त होनेपर पुरुष ही जीव कहा जाता है[2] तथा उपाधिरहित अवस्था में वह परमात्मा है।[3] जीव शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'जीव' धातु बल तथा प्राण धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है और यह प्राणधारण शुद्ध पुरुष या आत्मा में असम्भव है, यह प्राणधारणरूप धर्म अहङ्कार-विशिष्ट पुरुष में ही सम्भव है।[4]

यद्यपि विज्ञानभिक्षु ने उपाधि द्वारा अनेक पुरुष मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है, किन्तु जीवों को सोपाधिक पुरुष या आत्मा स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य केवल इतना प्रतीत होता है कि उपाधियों के द्वारा पुरुष की अखण्डता नहीं सिद्ध की जा सकती। उनके मतानुसार पुरुष या आत्मा भी अनेक हैं और अन्तःकरणरूप उपाधियाँ भी अनेक हैं। पुरुष और अन्तःकरण-रूप उपाधि का संयोग ही जीव है, और यही बन्धन है। सभी जीव उपाधि-संयोगरूप बन्धन से ग्रस्त हैं और इन्हीं औपाधिक बन्धनों की निवृत्ति ही मोक्ष है।

यद्यपि सांख्य-दर्शन में स्पष्टतः पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया गया है तथापि कुछ ऐसे सङ्केत प्राप्त होते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सांख्यदार्शनिक एक पुरुष की सत्ता भी स्वीकार करते थे। आचार्य विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को कपिल, आसुरि, पञ्चशिख तथा पतञ्जलि का सिद्धान्त बताया है और कहा है कि औपनिषदिक आचार्य इन पुरुषों के अतिरिक्त एक नित्येश्वर, सर्वेश्वर तथा सर्वात्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस मान्यता की आधारभूत श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी उद्धृत की हैं और कहा है कि सांख्यदार्शनिक इन श्रुतियों, स्मृतियों का अर्थ आदिपुरुष-विषयक या निर्विशेष, चिन्मात्रपुरुषविषयक मानते हैं।[5] महाभारत के शान्ति-

---

१. अनि. १/९७.

२. तथान्तःकरणैर्योगाज्जीव इत्युच्यते चितिः। (सां. सा. उत्तर भाग ५/२२)।

३. अत आत्मावधित्वेन परमात्मोच्यते चितिः। (वही)।

४. जीव बलप्राणधारणयोरिति व्युत्पत्त्या जीवत्वं प्राणित्वम्, तच्चाहङ्कारविशिष्टपुरुषस्य धर्मो न तु केवलपुरुषस्य। (सां. प्र. भा. ६/६३)।

५. तत्त्वया. ३.

पर्व में भी पुरुष के एकत्व और बहुत्व की चर्चा की गयी है।[१] डॉ० उमेश मिश्र का मत है कि सांख्य को 'ज्ञ, मुक्त, बद्ध' त्रिविध पुरुष स्वीकार है। उनका मत है कि ज्ञ पुरुष एक तथा बद्ध पुरुष अनेक हैं। अपने मत को पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ईश्वरकृष्ण का स्पष्ट अभिप्राय है कि पुरुष (ज्ञ) एक है। इसी एकत्व को लेकर उन्होंने सांख्यकारिका के 'तथा च पुमान्'[२] इस वाक्य में 'ज्ञ' का 'प्रकृति' के साथ साधर्म्य बताया है। इसी अर्थ के प्रतिपादन के लिए गौडपाद ने 'पुमानप्येकः'[३] कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् भी 'अजो ह्येको'[४] कहकर पुरुष के एक होने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है। सांख्यकारिका के 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' (सांख्यका० २) से भी यही सिद्ध होता है कि कारिकाकार को 'ज्ञ' पुरुष मान्य है, जो एक है।'[५] इन वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य-दर्शन में पुरुष का एकत्व तथा बहुत्व दोनों स्वीकार किया गया है किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष-बहुत्व को ही स्वीकार करते हैं और आत्मा को एकत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का अर्थ एक-जातीय या सजातीय के अर्थ में करते हैं।[६]

सांख्य-दर्शन के पुरुष सम्बन्धी सिद्धान्त को अनेक विद्वानों ने दोषपूर्ण बताया है। डॉ० चन्द्रधर शर्मा का मत है कि इस सिद्धान्त का प्रथम दोष तो यही है कि 'पुरुष' शब्द का प्रयोग सांख्यदार्शनिकों ने अस्पष्ट तथा द्व्यर्थक किया है। सांख्यदार्शनिक पुरुष और जीव को स्पष्ट रूप से विविक्त नहीं कर पाये हैं।[७] पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए दिये जानेवाले प्रमाण तो सांसारिक जीव की सिद्धि के प्रमाण हैं। सांख्य में सभी सङ्घात पदार्थों को पुरुष के लिए कहा गया है। प्रकृति और उसके विकार सुख-दुःख-मोहात्मक होने से भोग्य हैं, अतएव वे अपने से भिन्न भोक्ता पुरुष के लिए हैं। अचेतन प्रकृति की प्रसूति होने से यह सृष्टि जड़ है अतएव यह चेतन पुरुष के द्वारा प्रेरित तथा अधिष्ठित होती है। किन्तु सांख्य-दर्शन में ही पुरुष को चेतन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, असङ्ग तथा निर्लिप्त बताया गया है। अतः उसका कुछ भी प्रयोजन तथा स्वार्थ नहीं है जिसके लिए सभी सङ्घातों को बताया गया है। इसी प्रकार पुरुष भोक्ता भी नहीं है। उदासीन और निष्काम पुरुष भोक्ता कैसे

----

१. महाभा. १२/३०८. २. सांख्यका. ११. ३. गौड. ११.
४. श्वेता. उप. ४/५. ५. भार. द., पृष्ठ २९७-२९८.
६. सां. प्र. भा. १/१५४. ७. A C. S. I. P., p. 167.

हो सकता है ? भोक्ता तो जीव ही होगा। पुरुष को भोक्ता मानते हुए अकर्त्ता मानना कर्मवाद का उल्लङ्घन करना है। निष्क्रिय एवं अकर्त्ता होने के कारण पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता या प्रेरक भी नहीं बन सकता। कैवल्यप्राप्ति के लिए पुरुष की प्रवृत्ति होती है, यह तर्क भी उचित नहीं है। त्रिगुणातीत होने से पुरुष अपरिणामी है, तथा उसमें सभी दुःखों का अभाव है। वह नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध तथा नित्य मुक्त है अतः उसका कभी बन्धन नहीं होता और बन्धन न होनेपर उसकी कैवल्य में प्रवृत्ति क्यों होगी ? इस प्रकार पुरुष की सत्ता में दिये गये तर्क सांख्य द्वारा प्रतिपादित पुरुष में घटित नहीं होते।

डॉ० उमेश मिश्र सांख्य द्वारा प्रतिपादित (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव) पुरुष तथा उसकी सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों की सङ्गति दिखाते हुए कहते हैं कि सांख्य को 'ज्ञ, मुक्त, बद्ध' त्रिविध पुरुष स्वीकार हैं। ज्ञ पुरुष ही निर्लिप्त है और उसी में नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, त्रिगुणातीत, निष्क्रिय इत्यादि लक्षण घटित होते हैं और पुरुष की सत्ता सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये गये तर्क बद्ध पुरुष की सिद्धि करते हैं। ज्ञ पुरुष की सिद्धि के तर्क सांख्यकारिका में कहीं नहीं हैं। अतः डॉ० उमेश मिश्र का मत है कि 'ज्ञ' पुरुष को सिद्ध करनेवाली कोई कारिका अवश्य रही होगी, जो अब लुप्त हो गयी है। इस लुप्त कारिका की स्थिति वर्तमान सोलहवीं और सत्रहवीं कारिका के मध्य होनी चाहिए क्योंकि सत्रहवीं कारिका में बद्ध पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के पश्चात् अठारहवीं कारिका में बद्ध पुरुषों की ही अनेकता सिद्ध की गयी है।[1]

इसी प्रकार की समस्या प्रोफ़ेसर डी० डी० वाडेकर ने भी उठायी है, उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कारिका में पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये तर्क उन्नीसवीं कारिका में प्रतिपादित तटस्थ तथा उदासीन पुरुष की सिद्धि नहीं कर पाते।[2] डॉ० अणिमा सेनगुप्ता ने प्रोफ़ेसर डी० डी० वाडेकर के मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सत्रहवीं कारिका में दिये गये तर्क पुरुष की सिद्धि करते हैं। उन्होंने खण्डन करते हुए कहा है कि सत्रहवीं कारिका में केवल पुरुष की सत्ता सिद्ध की गयी है, पुरुष की तटस्थता और उदासीनता नहीं।[3] पुरुष की सत्ता की सिद्धि के तर्कों के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—'यदि हम

१. भार. द., पृष्ठ २९८-३०१.

२. C.S. : A C.S., p. 101. ३. Ibid., pp. 101-102.

(पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये) इन तर्कों के तत्त्वमीमांसीय महत्त्व पर गहराई तथा सावधानी से विचार करें तो हम पायेंगे कि इनको शुद्ध पुरुष की सत्ता सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।'[१]

पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों पर लगाये गये दोषों का परिहार करते हुए डॉ० अणिमा सेनगुप्ता[२] कहती हैं कि पहली युक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि अचेतन प्रकृति की सार्थकता तभी होती है जब कि यह चेतन पुरुष से संयुक्त हो। यदि हम यह भी मानें कि सङ्घात शय्या आदि की भाँति भोग्य हैं और इनसे भोक्ता पुरुष की ही सिद्धि होती है, तब भी पुरुष के शुद्ध स्वरूप उदासीन तथा तटस्थ रूप से कोई विरोध नहीं होगा क्योंकि भोक्तृत्व अन्ततः पुरुष का बुद्धि को अपने प्रकाश से प्रकाशित करना है, जो शुद्ध पुरुष का स्वरूप ही है। आचार्य विज्ञानभिक्षु भी प्रतिबिम्ब द्वारा ही पुरुष का भोग स्वीकार करते हैं। अतः पुरुष के परिणामी तथा कूटस्थ स्वरूप में अन्तर नहीं आता।[3] पुरुष अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रकृति को अधिष्ठित या प्रेरित करता है,[४] इससे उसमें कर्तृत्व नहीं आ जाता। सांख्य-दर्शन में उपादानरूप कर्तृत्व का निषेध किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि पुरुष का कर्तृत्व बुद्धि के उपरागमात्र से होता है उसमें वास्तविक कर्तृत्व नहीं है।'[५] भोक्तृत्व तथा उदासीनता परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं हैं, वे एक साथ ही पुरुष में रह सकते हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य सुख-दुःख से उदासीन होनेपर भी प्रारब्ध कर्मों के कारण सुख-दुःख का अनुभव करता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष का बन्धन भी प्रतिबिम्ब रूप मानते हैं और इस प्रतिबिम्बरूप बन्धन के नाश को ही जीव का पुरुषार्थ बताते हैं।[६]

सांख्य के पुरुष-बहुत्व सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए डॉ० चन्द्रधर शर्मा कहते हैं कि सांख्य-दार्शनिक मानते हैं कि सभी पुरुषों का स्वरूप एक-सा है, सभी चैतन्यस्वरूप और विभु हैं। सभी पुरुष एक-दूसरे के सदृश हैं, किन्हीं भी दो पुरुषों में गुण की दृष्टि से भेद नहीं है, किसी पुरुष का वैलक्षण्य या

१. C.S. : A C.S., p. 102. २. Ibid., pp. 102–106.

३. सां. प्र. भा. १/१०४.

४. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। (सां. सूत्र १/९६)।

५. पुरुषस्य यत् कर्तृत्वं तद् बुध्युपरागात्... न वास्तवम्। (सां. प्र. भा. १/१६४)।

६. सां. प्र. भा. १/५८.

वैशिष्ट्य नहीं है। परन्तु ऐसा मानते हुए भी वे पुरुषों को संख्या की दृष्टि से अनेक मानते हैं। व्यक्तित्व के घटक वैशिष्ट्य और भेद ही होते हैं। अतः गुणात्मक भेद को अस्वीकार करके संख्यात्मक भेद को स्वीकार करना तर्कसम्मत नहीं है। यदि दो पुरुष बिल्कुल एक से ही हैं और उनमें कोई भेद नहीं है तो उन्हें दो कहने का (बिना अन्तर या भेद के अनेकता का) कोई अर्थ नहीं हो सकता।[१]

डॉ० चन्द्रधर शर्मा के इन आक्षेपों का उत्तर डॉ० अणिमा सेनगुप्ता ने इस प्रकार दिया है। उनका मत है कि गुणगत एकता की सार्थकता तभी है जब कि अनेकता हो, नहीं तो कम से कम दो तो होने ही चाहिए, नहीं तो 'गुणगत एकता' का अर्थ ही क्या रह जायेगा? 'गुणगत एकता' का प्रयोग वहाँ नहीं होता, जहाँ एक ही द्रव्य हो।[२]

पुरुषों की अनेकता सिद्ध करनेवाले तर्कों के विषय में डॉ० चन्द्रधर शर्मा का मत है कि पुरुषों की अनेकता सिद्ध करनेवाले तर्क पुरुषों के अनेकत्व की सिद्धि नहीं कर पाते और जीवों का अनेकत्व सभी को मान्य है, उसके लिए तर्क देने की क्या आवश्यकता? ये तर्क अत्यन्त निर्बल हैं। पुरुष को नित्य मानते हुए भी जन्म-मरण के आधार पर पुरुषों की अनेकता का अनुमान करना, उन्हें शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न मानते हुए भी प्रतिपिण्ड इन्द्रियों के भिन्न होने के आधार पर उनके बहुत्व का अनुमान करना, पुरुष को शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न और असंसरणशील मानते हुए भी सभी पुरुषों के एक साथ प्रवृत्त न होने के कारण पुरुषों की अनेकता का अनुमान करना, पुरुष को नित्यमुक्त तथा बन्धन से परे मानते हुए भी सबके अलग-अलग बद्ध या मुक्त होने के आधार पर अनेकता का अनुमान करना, पुरुष को त्रिगुणातीत मानते हुए भी त्रिगुण-भेद या त्रैगुण्य-विपर्यय के आधार पर (किसी को सत्त्वबहुल, किसी को रजोबहुल तथा किसी को तमोबहुल मानकर) पुरुषों की अनेकता सिद्ध करने की चेष्टा करना, तर्क का तिरस्कार करना है।[3] डॉ० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय,[४] प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र[५] तथा पं० बलदेव उपाध्याय[६] का भी यही मत है।

----

१. A C.S.I.P., p. 168.
२. C.S. : A C.S., pp. 109–110.
३. A C.S.I.P., p. 168.
४. भा. द. प., पृष्ठ १८५.
५. सां. तत्त्वकौ. प्रभा, पृष्ठ ३७.
६. भा. द., पृष्ठ २८४.

डॉ० चन्द्रधर शर्मा के इस कथन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पुरुषों को नित्य मानते हुए जन्म, मरण तथा करणों के आधार पर उनको अनेक मानना उचित नहीं है। सांख्य-दर्शन की परम्परा में तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत में भी नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि से पुरुष के संयोग तथा उनसे वियोग को ही पुरुष का जन्म-मरण कहा गया है।[1] अतः इससे पुरुषों के नित्य-स्वरूप की क्षति नहीं होती है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि श्रुति भी जन्म आदि की व्यवस्था के लिए पुरुष-बहुत्व को स्वीकार करती है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/५) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४/४/१४) को भी उद्धृत किया है।[2]

डॉ० उमेश मिश्र[3] तथा ब्रजमोहन चतुर्वेदी[4] पुरुष के बद्ध और मुक्त दो रूप स्वीकार करते हैं और पुरुष-बहुत्व के लिए दी गयी युक्तियों को बद्ध पुरुष के लिए मानते हैं। उनके मतानुसार मुक्त पुरुष एक तथा बद्ध पुरुष अनेक हैं। पुरुष के बहुत्व के लिए दी गयी युक्तियाँ बद्ध पुरुष पर ही घटित होती हैं क्योंकि मुक्त पुरुष का न तो जन्म होता है और न मरण तथा न ही उसका करण होता है। मुक्त पुरुष के प्रकृति से विविक्त होने के कारण उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। पुरुष की अनेकता का कारण तीनों गुणों का विभिन्न रूप में सम्मिश्रित पुरुष में रहना है। प्रकृति का पुरुष से संयोग होने पर प्रकृति के गुणों का पुरुष पर आरोप हो जाता है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का प्रयोजन पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति कराना है जो इस बात का प्रमाण है कि संयोग बद्ध-पुरुष और प्रकृति का ही होता है।[5]

श्री राधानाथ पूखन पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को सांख्य का अन्तिम सिद्धान्त न मानकर बीच की कल्पना तथा तथ्यों की मीमांसा करने से पूर्व की स्थिति मानते हैं। उनका मत है कि पुरुष-बहुत्व के आधारभूत हेतु तभी तक वास्तविक हैं जब तक हम इस अन्तिम सत्य पर नहीं पहुँच जाते कि यह समस्त जगत् बुद्धिकृत है अतः मिथ्या है।[6] किन्तु पूखनजी का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि सांख्य में न तो बुद्धि को अवास्तविक कहा गया है और न बुद्धिकृत जगत् की प्रतीयमानता के आधार पर पुरुष की अनेकता को ही।

---

१. सां. प्र. भा. १/१४९.
२. सां. प्र. भा. १/१४९.
३. भार. द., पृष्ठ ३००.
४. सांख्यकारिका, पृष्ठ ९२.
५. सांख्यकारिका, पृष्ठ ९२–९३.
६. T.S.K.I., pp. 60–63.

सांख्य-दर्शन में पुरुष की अनेकता को स्वीकार किया गया है और अद्वैत-वेदान्त से यही उसका मौलिक भेद है।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन में पुरुष के स्वरूप का अत्यन्त सूक्ष्म, गहन तथा विशद निरूपण किया गया है। वेदान्त-दर्शन के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व का इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं हुआ है। पुरुष-तत्त्व के विशद, गहन और गम्भीर दार्शनिक विवेचन के कारण सांख्य-दर्शन का भारतीय दर्शनों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के इस पुरुष-तत्त्व का सांख्यीय दृष्टि से बड़ा सुन्दर विवेचन किया है, तथा उसे श्रुति-प्रतिपादित सिद्धान्त बताया है। सांख्य के पुरुष-बहुत्व का तो सबसे सुन्दर रीति से प्रतिपादन इन्हीं के द्वारा हुआ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने आत्मा की एकता को प्रतिपादित करनेवाली श्रुतियों का अर्थ जातित्वेन एक स्वीकार करके पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त का आत्मा की एकता प्रतिपादित करनेवाली श्रुतियों के साथ समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया है। पुरुष के भोग की व्याख्या करने में भी विज्ञानभिक्षु अपने दुहरे प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त द्वारा अन्य सभी सांख्य-दार्शनिकों से अधिक सफल हुए हैं। इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के पुरुष-तत्त्व पर लगाये गये दोषों का परिहार करने तथा सांख्य के सिद्धान्तों की युक्तिपूर्ण तथा बुद्धिग्राह्य व्याख्या करने का सफल प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय

प्रकृति-तत्त्व

सांख्य-दर्शन में मुख्यतः दो ही प्रमेय पदार्थ स्वीकार किये गये हैं—प्रकृति और पुरुष। बौद्ध-दर्शन में कारण के असत् हो जाने पर कार्य के उत्पन्न होने का मत स्वीकार किया गया है। न्याय-दर्शन में कार्योत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्य-दार्शनिक कारण में ही कार्य की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए सांख्य-दर्शन में सृष्टिरूप समस्त कार्य को अनभिव्यक्त रूप से प्रकृति में ही विद्यमान माना गया है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन की प्रकृति उत्पत्ति-नाशहीन पुरुष को छोड़कर अन्य सभी का मूल कारण है। जो कुछ भी भौतिक है वह सब इसी से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त परिणामवाद या परिवर्तन का सिद्धान्त कहलाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि दिक् और काल भी प्रकृति के ही रूप हैं[1] और इसीलिए स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में उनका पृथक् अस्तित्व सांख्य-दर्शन में नहीं माना गया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं कि 'प्रकृष्टा कृतिः परिणामरूपा अस्या इति प्रकृतिः' (सां० सा० पूर्व भाग, तृतीय परि०, पृष्ठ ३०३)। प्रकृति की ही अपर संज्ञा प्रधान भी है।[2] महत् इत्यादि तत्त्वों के सुख आदि रूप गुणत्रयों की साक्षात्प्रतीति होती है इसलिए वे व्यक्त हैं किन्तु प्रकृति की साक्षात्प्रतीति नहीं होती इसलिए वह महदादि की अपेक्षा से अव्यक्त कही जाती है। सभी कार्यों अर्थात् विकारों का मूल कारण होने से वह मूल-प्रकृति है।[3] मूल-प्रकृति का कोई अन्य कारण नहीं मानना चाहिए,

---

१. नित्यौ यौ दिक्कालौ तावाकाशप्रकृतिभूतौ प्रकृतेर्गुणविशेषावेव। (सां. प्र. भा. २/१२)।

२. प्रधीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमिति प्रधानमुच्यते। (वही १/१२५)।

३. मूले मूलाभावादमूलं मूलम् (सां. सूत्र १/६७ तथा सांख्यका. ३)।
त्रयोविंशतितत्त्वानां मूलमुपादानं प्रधानं मूलशून्यमनवस्थापत्त्या तत्र मूलान्तरासम्भवात्। (सां. प्र. भा. १/६७)।

क्योंकि इसका भी कारण मानने पर अनवस्था दोष होगा इसलिए जहाँ भी इस कारणता का पर्यवसान होता है उस मूल-कारण को ही प्रकृति कहा जाता है।[१] प्रकृति का ज्ञान हमें सामान्यतोदृष्ट अनुमान[२] से होता है और उसकी विशेषताएँ शास्त्र, श्रुति, स्मृति और योगज प्रत्यक्ष से जाननी चाहिए। इसी की अपर संज्ञा माया भी है।[3] परन्तु शाङ्कर वेदान्त द्वारा प्रतिपादित माया या अविद्या के साथ इसकी एकात्मता आचार्य विज्ञानभिक्षु को मान्य नहीं है। शाङ्कर वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अविद्या ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाती है किन्तु सांख्य प्रतिपादित माया या प्रकृति नित्य है अतः उनके मतानुसार माया और अविद्या पृथक्-पृथक् हैं। प्रकृति की यह नित्यता पुरुष के सदृश नहीं है क्योंकि पुरुष तो कूटस्थ-नित्य तथा एकरूप है और उसमें रूप-परिवर्तन नहीं हो सकता किन्तु प्रकृति एकरूप नहीं रह सकती उसकी साम्यावस्था में उच्चावचभाव होता है अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होता है और इसी कारण गुणत्रय महदादिरूप में परिणत होते रहते हैं। प्रकृति नित्य परिणामिनी है तथापि सदैव विद्यमान होने के कारण उसे नित्य माना गया है। जिस प्रकार जिस व्यक्ति को सर्परज्जु के भ्रम में रज्जु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन हो जाता है केवल वही सर्प से भयभीत नहीं होता अन्य व्यक्तियों के लिए तो वह सर्प भय का कारण होता है; उसी प्रकार जिस पुरुष का भोगापवर्ग सिद्ध हो जाता है केवल उसी पुरुष के लिए प्रकृति की निवृत्ति होती है अन्य पुरुषों के लिए नहीं। आचार्य विज्ञानभिक्षु सर्प और रज्जु के दृष्टान्त में प्रकृति की नित्यता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि प्रकृति सर्प-तुल्य है और पुरुष रज्जुतुल्य। रज्जुरूपी पुरुष भी सत् है और सर्परूपी प्रकृति भी। दोनों की अलग-अलग सत्ता है। रज्जु-सर्प के भ्रम में रज्जुतुल्य पुरुष पर सर्परूपी प्रकृति का आरोपण ही मिथ्या है। अतः इस रज्जुसर्प के दृष्टान्त द्वारा जो वेदान्ती प्रकृति अर्थात् माया को अत्यन्त तुच्छ या मनःकल्पित मानते हैं, यह उनकी भ्रान्त धारणा है।[४] सांख्य-दार्शनिक प्रकृति को भी पुरुष की भाँति सत् और नित्य मानते हैं भले ही यह नित्यता पुरुष की जैसी कूटस्थ नित्यता न होकर परिणामी नित्यता है।

----

१. अतो यत्र पर्यवसानं सैव नित्या प्रकृतिः। प्रकृतिरिह मूलकारणस्य संज्ञामात्रम्। (सां. प्र. भा. १/६८)।

२. सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः (सां. सूत्र १/१०३)।

३. मायाशब्देन च प्रकृतिरेवोच्यते। (सां. प्र. भा. १/६९)।

४. वही ३/६६.

सांख्यसूत्रों में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है।[1] सांख्यकारिका में प्रकृति को मूलप्रकृति, अविकृति और त्रिगुण कहा गया है।[2] किन्तु सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसततिशास्त्र में प्रकृति को त्रिगुणयुक्त कहा गया है।[3] गौडपादभाष्य[4] तथा तत्त्वकौमुदी[5] में सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। जयमङ्गला टीका में प्रकृति का पर्याय गुणसाम्य माना गया है।[6] अनिरुद्ध सांख्यसूत्र (१/६१) में प्रतिपादित प्रकृति की परिभाषा को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए कहते हैं कि तीनों में से एक गुण को भी प्रकृति कहने की परम्परा है।[7] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति की परिभाषा अकार्यावस्था (साम्यावस्था) से उपलक्षित गुण सामान्य दी है।[8] उन्हीं का अनुसरण करते हुए भावागणेश ने भी प्रकृति की 'साम्यावस्थोपलक्षिता गुणाः प्रकृतिः' तथा 'अकार्या गुणाः' ये दो परिभाषाएँ दी हैं।[9] इन परिभाषाओं में भी गुणों की साम्यावस्था या अकार्यावस्था को ही प्रकृति कहा गया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति के पर्याय प्रकृति, शक्ति, अजा, प्रधान, अव्यक्त, तम, माया, अविद्या आदि दिये हैं और तत्सम्बन्धी यह स्मृति भी उद्धृत की है—

ब्राह्मीति विद्याऽविद्येति मायेति च तथा परे।
प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षयः॥[10]

---

१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां. सूत्र १/६१)।
२. मूलप्रकृतिरविकृतिः (सांख्यका. ३)। वही १४.
३. प्रधानं त्रिगुणयुक्त्वाद् (सुवर्ण. १६)। प्रकृतिरेव त्रिगुणयुक्ता (वही ६१)।
४. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्। (गौड. १६)।
५. प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिः। (तत्त्वकौ. ३)।
६. जयम. १६.
७. यद्यपि त्रयाणां साम्यावस्था प्रकृतिः, तथाप्येकैकस्मिन्नपि प्रकृतिशब्दप्रयोगः साङ्केतिकः। (अनि. १/६१)।
८. अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिः। (सां. प्र. भा. १/६१)।
सा च साम्यावस्थयोपलक्षितं सत्त्वादिद्रव्यत्रयम्। (सां.सा. पूर्व भाग, तृतीय परि. पृ. ३०४)।
९. तत्त्वया. १.
१०. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०३–३०४.

भावागणेश[1] ने ब्रह्म, अक्षर, क्षेत्र, विद्या तथा ब्राह्मी को भी प्रकृति का पर्याय बताया है। वाचस्पति मिश्र ने प्रकृति को अहेतुमत्, नित्य, व्यापि, निष्क्रिय (यद्यपि अव्यक्त में परिणामरूप क्रिया विद्यमान है तथापि उसमें प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया का अभाव है), एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, स्वतन्त्र और अव्यक्त कहा है।[2] यह त्रिगुणात्मक, अविवेकी तथा प्रसवधर्मी भी है।[3]

गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है, इस परिभाषा पर यह आपत्ति उठायी जाती है कि यदि गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है तो सृष्टिकाल में जब गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है तब प्रकृति भी नष्ट हो जानी चाहिए। इस शङ्का के समाधान में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों के अनुस्यूत रहने के कारण प्रकृति के नाश का प्रसङ्ग ही नहीं उठता।[4] प्रकृति के त्रिगुणात्मक होनेपर भी 'प्रकृति के गुण' ऐसा व्यवहार 'वन के वृक्ष' की भाँति कथंचित् भेदविवक्षा से होता है।[5] आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रकृति गुणों का आधार नहीं है अपितु तदात्मक या तद्रूप ही है जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सूत्र ६/३९) इस सांख्यसूत्र तथा योगसूत्र (२/१८) तथा योगभाष्य (२/१८) से भी स्पष्ट है।[6] गुणों को प्रकृति का धर्म मानने के मत का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि श्रुतियों और स्मृतियों में गुणों को प्रकृति का स्वरूप तथा धर्म दोनों माना गया है तथापि विचार करने पर सत्त्वादि गुणों के प्रकृति के स्वरूप होने का निश्चय होता है न कि धर्म होने का।[7] अतः सत्त्वादि गुणों को प्रकृति से भिन्न नहीं समझना चाहिए। गुणों को ही प्रकृतिरूप मानने में दूसरा तर्क यह है कि महदादि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति सत्त्वादि गुणों से ही हो जाती है अतः गुणों से भिन्न प्रकृति की कल्पना अनावश्यक है।[8]

---

१. तत्त्वया. १. २. तत्त्वकौ. १०. ३. सांख्यका. ११.

४. महदादिकन्तु कार्यसत्त्वादिकं न कदाप्यकार्यावस्थं भवतीति तद्व्यावृत्तिः। वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धये उपलक्षितम्। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४)।

५. प्रकृतेर्गुणा इत्यादिवाक्यन्तु वनस्य वृक्षा इतिवत् बोध्यम्। (वही)।

६. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४.

७. सां. प्र. भा. ६/३९.

८. गुणेभ्य एव कार्योत्पत्तौ तदन्यप्रकृतिकल्पनावैयर्थ्याच्च। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४)।

तत्त्व-समास-सूत्र में 'अष्टौ प्रकृतयः' (तत्त्व स० १) अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृतियाँ कही गयी हैं। इनमें एक मूल-प्रकृति तथा सात प्रकृति-विकृति हैं। इसी दृष्टिकोण को समक्ष रख कर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति को साक्षात् तथा परम्परया समस्त विकारों (महत् आदि कार्यों) का उपादान-कारण माना है।[1] भावागणेश ने प्रकृति का सामान्य लक्षण तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वम्[2] अर्थात् जो अन्य तत्त्वों को उत्पन्न कर सके वह प्रकृति है—यह बताया है। तत्त्व-समास-सूत्र की सर्वोपकारिणी में भी प्रकृति के इस लक्षण को स्वीकार किया गया है।[3] इस परिभाषा के अनुसार प्रकृति शब्द से मूल-प्रकृति के साथ ही प्रकृति-विकृतिरूप महत्, अहङ्कार तथा पञ्च-तन्मात्र का भी ग्रहण होता है।[4] मूल-प्रकृति अनादि है, वह किसी की विकृति नहीं है। महत्, अहङ्कार तथा तन्मात्र प्रकृति तो हैं ही क्योंकि महत्, अहङ्कार को, अहङ्कार पञ्च-तन्मात्र को और पञ्च-तन्मात्र पञ्च-महाभूत को उत्पन्न करता है, परन्तु ये विकृति भी हैं, क्योंकि क्रमशः महत् मूल-प्रकृति की, अहङ्कार महत् की और पञ्च-तन्मात्र अहङ्कार की विकृति हैं। अतः प्रकृति-विकृतियाँ प्रकृति होते हुए भी मूल-प्रकृति या अव्यक्त से पृथक् हैं।

सांख्य-दर्शन में प्रकृति को विभु माना गया है। विभुत्व का लक्षण बताते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि देश-विशेष में उपस्थित होने के साथ अन्य देश में उपस्थित होना ही विभुत्व है। प्रकृति समस्त जगत् का उपादान-कारण है, अतः वह सभी स्थानों पर उपस्थित रहने की सामर्थ्य से युक्त है। इसीलिए उसे विभु और व्यापक कहा गया है।[5] प्रकृति देश, काल से परे तथा निरवयव और अनाश्रित है।

महत् आदि समस्त व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति अव्यक्त प्रकृति से होती है क्योंकि भाव-पदार्थ की उत्पत्ति किसी भाव-पदार्थ से ही सम्भव है। वे कर्म तथा अविद्या के जगत् का उपादान-कारण न होने के मत का प्रतिपादन करते

---

१. तत्र प्रकृतितत्त्वं साक्षात् परम्परयाऽखिलविकारोपादनत्वम्। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०३)।

२. तत्त्वया. १.

३. सर्वो. १–३.

४. अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्ररूपाः। (तत्त्वया. १), तथा सांख्यका. ३.

५. सां. प्र. भा. १/७६.

हुए कहते हैं कि कर्म सृष्टि के उपादान-कारण नहीं हो सकते प्रत्युत ये सृष्टि के निमित्त-कारण ही हो सकते हैं।[1] कर्म धर्माधर्मरूप होते हैं, अतः वे द्रव्यात्मक वस्तु के उपादान-कारण नहीं बन सकते। इसी प्रकार अविद्या भी धर्माधर्मरूप होने से द्रव्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है।[2] पुरुष चिद्रूप है अतः वह भी अचित् तत्त्वों की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हो सकता। अतः प्रकृति ही जगत् का मूल-कारण हो सकती है। प्रकृति की प्रसूतियों से ही उनके कारण के रूप में प्रकृति की सिद्धि होती है[3] क्योंकि कार्य सदैव कारण के साथ होता है।[4] सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य सदैव कारणात्मक होता है और कारण की व्यक्तावस्था ही कार्य है।[5] विज्ञानभिक्षु का मत है कि सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् का कारण भी सुख-दुःख-मोहात्मक ही होना चाहिए और यह सुख-दुःख-मोहात्मक कारण प्रकृति ही है। उनके मतानुसार प्रकृति की सत्ता की सिद्धि में दिया गया यह तर्क श्रुति तथा स्मृति का अनुग्राहक है।[6] सांख्यसूत्रों में प्रकृति की सत्ता की सिद्धि तर्कों द्वारा नहीं की गयी है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रकृति की सत्ता की सिद्धि के लिए तर्क दिये हैं—

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥ (सांख्यका० १५)।
कारणमस्त्यव्यक्तम्, (वही १६)।

अर्थात् महदादि कार्यों के (१) परिमित होने, (२) कारण के सदृश होने, (३) कारण की शक्ति से उत्पन्न होने, (४) कारण से ही आविर्भूत होने तथा (५) उसी में तिरोभूत होने से उनके कारण के रूप में 'अव्यक्त' अर्थात् प्रकृति का अनुमान होता है। सांख्यसूत्रों में महदादि के कार्यत्व की सिद्धि 'परिमाणात्' (१/१३०), 'समन्वयात्' (१/१३१) एवं 'शक्तितश्चेति' (१/१३२) इन तीन सूत्रों में की गयी है। महदादि के कार्यत्व से ही सूत्रकार ने उनके कारण के रूप में प्रकृति का अनुमान किया है। कार्य सदैव कारणात्मक होता है[7] इसलिए

---

१. कर्मणोऽपि न वस्तुसिद्धिर्निमित्तकारणस्य कर्मणो न मूलकारणत्वम्। (सां.प्र.भा. १/८१)।
२. वही १/८१. ३. कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः (सां. सूत्र १/११०)।
४. कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् (सां. सूत्र १/१३५)।
५. सांख्यका. ९.
६. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६.
७. कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्। (सां. सूत्र १/१३५)।

महत् आदि व्यक्त पदार्थों के त्रैगुणिकत्व को देखकर त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति का उनके उपादान-कारण के रूप में अनुमान होता है।[1] सूत्रकार का मत है कि अपने कार्य से ही प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है अतः अनुभव में न आने पर भी उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।[2]

सांख्य-दर्शन में प्रकृति को एक माना गया है (अनेक नहीं)। आचार्य विज्ञानभिक्षु विभिन्न सृष्टियों के मध्य एक ही प्रकृति को स्वीकार करते हैं किन्तु प्रत्येक सर्ग में उसका व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् मानते हैं। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने विष्णुपुराण का साक्ष्य भी उपस्थित किया है। इस प्रकार प्रकृति के अनेक व्यक्तित्व स्वीकार करने पर भी उसके एकत्व के सिद्धान्त की क्षति नहीं होती।[3] भावागणेश ने भी विज्ञानभिक्षु के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[4] प्रकृति का यह नानात्व पुरुष-बहुत्व से भिन्न प्रकार का है। सांख्य में पुरुष का बहुत्व तो स्पष्टतः स्वीकार किया गया है किन्तु प्रकृति के केवल व्यक्तित्व का ही बहुत्व स्वीकार किया गया है। विभिन्न पुरुषों में सजातीय भेद स्वीकार किया गया किन्तु प्रकृति को अभिन्न तथा एकरूप माना गया है केवल उसे अनेक व्यक्तित्वयुक्त ही बताया गया है।

प्रकृति परम सूक्ष्म तत्त्व है, अतः इसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसका ज्ञान अनुमान से ही होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति की सत्ता की सिद्धि के लिए इस प्रकार का अनुमान प्रस्तुत किया है—सुख-दुःख-मोहात्मक शय्या आदि सुख-दुःख-मोहात्मक वस्त्र आदि के कार्य हैं इसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक महत् आदि कार्य भी किसी सुख-दुःख-मोहात्मक द्रव्य के ही कार्य हो सकते हैं। अपने इस तर्क को वे श्रुतियों एवं स्मृतियों का अनुग्राहक मानते हैं।[5]

---

१. अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्। (सां. सूत्र १/१३६)।

२. तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः। (वही १/१३७)।

३. अत्रैकत्वं सर्गभेदेऽप्यभिन्नत्वम्। अतः प्रकृतेरनेकव्यक्तिकत्वेऽपि नैकत्वक्षतिः।
महान्तं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्।
अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानं चापि विद्यते॥ (विष्णुपु. २/७/२५-२६)।
इति विष्णुपुराणेन संख्येयतावचनात् तु प्रधानस्य व्यक्तिबहुत्वसिद्धिरिति। (सां. प्र. भा. १/१२६)।

४. तत्त्वया. १.

५. प्रकृत्यनुमानं चेदम्—सुखदुःखमोहात्मकं महदादिकार्यं सुखदुःखमोहात्मकद्रव्यकार्यं सुखदुःखमोहात्मकत्वात् वस्त्रादिकार्यशय्यादिवदिति। श्रुतिस्मृती चात्रानुग्राहकस्तर्कः। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६)।

सांख्यसूत्रों में सांख्यकारिका की भाँति स्पष्ट रूप से प्रकृति की सत्ता की सिद्धि का प्रयास नहीं किया गया है।

गुण

गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। जिस प्रकार अग्नि की समस्त लपटों को ज्वाला कहते हैं उसी प्रकार तीनों गुणों की समष्टि को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् वह सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप ही है। आचार्य विज्ञानभिक्षु इन गुणों से पृथक् प्रकृति की सत्ता नहीं स्वीकार करते तथा अपने मत की पुष्टि के लिए सांख्यसूत्र (६/३९) तथा योगभाष्य (२/१८-१९) का साक्ष्य भी उपस्थित करते हैं।[1] सांख्य-दर्शन में गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है क्योंकि प्रकृति का विकास इसकी अपनी इन तीन घटक शक्तियों अर्थात् गुणों से होता है। गुणों की प्रमुखता के विषय में डॉ० अणिमा सेनगुप्ता ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'इस प्रकार गुण तथा पुरुष को ही सांख्य-दर्शन में प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया गया है।'[2] प्रकृति त्रिगुणात्मक होते हुए भी एक है यद्यपि उसका स्वरूप वैविध्यपूर्ण है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु गुणों के स्वरूप का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि सांख्य-सम्मत तीनों गुण वैशेषिकाभिमत शब्द, स्पर्श आदि गुणों से सर्वथा भिन्न हैं तथा वस्तुतः द्रव्य ही हैं। इनकी गुण संज्ञा इनके पुरुषोपकारी अर्थात् परार्थ होने के कारण ही है।[3] गुणों के द्रव्य होने की सिद्धि के लिए उन्होंने प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनका तर्क है कि इनका संयोग एवं विभाग होता है और संयोग आदि धर्म द्रव्य में ही सम्भव हैं, गुण में नहीं। इनके द्रव्यरूप होने में दूसरा प्रमाण यह है कि ये गुण लघुत्व, चलत्व तथा गुरुत्व आदि धर्मों से युक्त हैं, अतः ये द्रव्य ही हैं गुण नहीं।[4] द्रव्य होते हुए भी गुण इन्हें इसलिए कहा जाता है कि इनकी स्थिति पुरुष के लिए होती है, अपने लिए नहीं। पुरुष की अपेक्षा इनका अप्रधान-भाव या गुण-भाव होता है। ये तीनों

---

१. प्रकृतिर्हि सत्त्वादिगुणत्रयादतिरिक्ता न भवति सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वादित्यागामिसूत्रात्, योगसूत्रभाष्याभ्यां स्पष्टमवधृतत्वाच्च। (सां. प्र. भा. १/७६)।

२. C. S. : A C. S., p. 81.

३. तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्। (सां. प्र. भा. १/६१)।

४. सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगविभागवत्त्वात्। लघुत्वचलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वादिधर्मत्वाच्च। (वही)।

गुण पुरुष का भोगापवर्गरूप उपकार करते हैं इसलिए पुरुष के उपकरण या उपकारक होने के कारण गुण कहे जाते हैं। संस्कृत भाषा में गुण शब्द का अर्थ रस्सी भी होता है। इसी अर्थ को दृष्टिगत करके गुण शब्द की एक अन्य व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि गुणों के लिए गुण शब्द का प्रयोग किए जाने का एक कारण यह भी है कि उनसे पुरुष पशु को बाँधने के लिए त्रिगुणात्मक रज्जु (गुण) का निर्माण होता है।[1] किन्तु प्रोफ़ेसर हिरियन्ना का मत है कि विज्ञानभिक्षु का पूर्वोक्त मत सांख्य-योग के सिद्धान्त के कुछ प्रतिकूल है, क्योंकि प्रकृति पुरुष को बन्धन में जकड़ती ही नहीं है बल्कि उसे मुक्त भी करती है। पुरुष को मोक्ष दिलाने के चरम प्रयोजन से ही वास्तव में प्रकृति जगत् के रूप में अपने को परिणत करती है। गुणों के सम्बन्ध में एक अन्य व्याख्या भी है किन्तु वह भी इस दर्शन के प्रधान सिद्धान्त के विपरीत लगती है—कहा गया है कि गुण पुरुष से गौण होने के कारण 'गुण' कहे गये हैं जिससे यह ध्वनित होता है कि इस दर्शन में पुरुष अधिक महत्त्वपूर्ण है और प्रकृति उसकी परिचारिका मात्र है। यद्यपि इस व्याख्या को प्राचीन आचार्यों के कुछ कथनों का समर्थन मिलता है तथापि यह एक चरम सत्ता को दूसरी चरम सत्ता का आश्रित बनाकर सांख्य-योग के स्वीकृत द्वैतवादी स्वरूप को समाप्त कर देगी।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु सत्त्व आदि तीन गुणों को यथायोग्य अणु तथा विभु परिमाण वाला मानते हैं। अपने मत के समर्थन में तर्क देते हुए वे कहते हैं कि यदि गुणों को अणुपरिमाण नहीं मानेंगे तो रजोगुण का स्वभाव चलत्व है—इस वचन के साथ विरोध होगा तथा आकाश का कारण होने से उसे विभु मानना उचित है। यदि इन गुणों को विभुपरिमाण ही माना जायेगा तो कोई भी कार्य परिच्छिन्न न हो सकेगा।[3] अतः उनके मतानुसार गुणों को यथायोग्य अणु तथा विभु परिमाण ही मानना चाहिए। तत्त्व-समास-सूत्र के व्याख्याकार षिमानन्द[4] तथा भावागणेश[5] भी विज्ञानभिक्षु के इस मत को स्वीकार करते हैं।

---

१. सां. प्र. भा. १/६१.

२. भा. द. रू. रे., पृष्ठ २७०.

३. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०५.

४. सांख्यतत्त्ववि. १.

५. तत्त्वया. १.

आचार्य विज्ञानभिक्षु सत्त्व आदि गुणों को तीन ही नहीं अपितु व्यक्तिभेद से अनन्त मानते हैं।[1] उनका मत है कि यदि गुणों को अनन्त नहीं माना जायेगा तो गुणों के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न कार्य-वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। केवल गुणों का विभुत्व स्वीकार करने से ही कार्य-वैचित्र्य को सिद्धि नहीं हो सकती।[2] अनन्त गुणों का यह मिश्रणविशेष किसी अन्य गुण को नहीं उत्पन्न करता। गुण तो तीन ही होते हैं किन्तु तीनों गुणों का भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिश्रण ही कार्य-वैचित्र्य का कारण है। गुणों के अनन्त-व्यक्तित्व-सम्पन्न होनेपर भी उन्हें तीन केवल जाति या सामान्य के ही आधार पर कहा जाता है। गुणों को अनन्त मानने के पक्ष में एक अन्य तर्क देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यदि इन गुणों की संख्या एक-एक मानी जाये तो इनकी वृद्धि या या ह्रास सम्भव नहीं होगा तथा व्यक्तित्रय होने के कारण ये गुण प्रकृति को भी परिच्छिन्न कर देंगे। ऐसी स्थिति में श्रुतियों तथा स्मृतियों से सिद्ध असंख्य ब्रह्माण्डों की एक साथ उत्पत्ति, स्थिति तथा लय सम्भव नहीं हो सकेगी।[3] अतः सत्त्वादि गुण अनन्त व्यक्तित्व सम्पन्न हैं।

प्रोफ़ेसर हिरियन्ना का मत है कि इन गुणों की धारणा जगत् के भौतिक और यान्त्रिक पक्षों में दिखायी देनेवाली विविधता की व्याख्या के लिए एक प्राक्कल्पना के रूप में बनायी गयी है। इन्हें तीन मानना केवल इस बात का सूचक है कि ऐसी व्याख्या के लिए आवश्यक तत्त्वों की संख्या इससे कम नहीं मानी जा सकती। यदि केवल एक गुण माना जाता, तो विविधता की उससे व्याख्या न हो पाती। यदि दो माने जाते, तो या तो वे एक-दूसरे को प्रभाव-हीन कर देते, जिससे किसी भी तरह का परिणाम न हो पाता या एक सदैव दूसरे से प्रधान बना रहता, जिससे एक ही दिशा में एक ही प्रकार की गति होती रहती। बाद के सांख्य में एक महत्त्वपूर्ण नयी बात आ गयी है कि तीन गुणों में से प्रत्येक को बहुविध मान लिया गया और प्रकृति की अनन्तता को उनकी अपरिमित संख्या का फल माना गया। ऐसी दशा में तीन की संख्या

---

१. सत्त्वादित्रयमपि व्यक्तिभेदादनन्तम्। (सां. प्र. भा. १/१२७)।

२. वही।

३. गुणानां सत्त्वादीनामेकैकव्यक्तिमात्रत्वे वृद्धिह्रासादिकं नोपपद्यते तथा परिच्छिन्नत्वे च तत्समूहरूपस्य प्रधानस्य परिच्छिन्नत्वापत्त्या श्रुतिस्मृतिसिद्धमेकदाऽसंख्यब्रह्माण्डादिकं नोपपद्यते। (सां. प्र. भा. १/१२८ अव.)।

समान गुणों के अलग-अलग तीन समूहों की सूचक होगी। निस्सन्देह इस मत से अनुभव के जगत् में दिखायी देनेवाली विषमता और विविधता की अच्छी व्याख्या होती है।[1]

गुण परिवर्तन के आधार हैं और परिवर्तन को बौद्ध-दर्शन की भाँति सदैव होता रहनेवाला माना गया है। परन्तु सांख्य-दर्शन में परिवर्तन को निरन्वय नहीं स्वीकार किया गया है, अपितु गुणों को स्थायी तथा उनके विकारों को प्रकट और लुप्त होनेवाला माना गया है। परिवर्तन की इस समस्या के आधार पर ही तीनों गुणों को नित्य-परिणामी स्वीकार किया गया है। प्रकृति नित्य-परिणामिनी है अतः वह कभी परिणाम से वियुक्त नहीं होती। जब प्रकृति के विकार अव्यक्तावस्था में रहते हैं तब गुणों में सदृश-परिणाम होते रहते हैं तथा सर्गावस्था में विसदृश-परिणाम। गुणों की नित्य गतिशीलता इस दर्शन का मूल अभ्युपगम है। सांख्य-दर्शन का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि जो जिसमें नहीं है वह उसमें उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी आधार पर गुणों के सदृश तथा विसदृश परिणाम की कल्पना की गयी है क्योंकि यदि प्रकृति की अव्यक्तावस्था में परिणाम नहीं मानेंगे तो सर्गावस्था में परिणाम कहाँ से उत्पन्न होगा?

प्रकृति के तीनों गुणों में पारस्परिक वैधर्म्य है। इनका स्वरूप क्रमशः प्रीति, अप्रीति तथा विषादात्मक है।[2] गुण प्रकृति की प्रथम प्रसूति महत् से लेकर महाभूत पर्यन्त सभी तत्त्वों में अनुस्यूत रहते हैं। इसी कारण जागतिक पदार्थों का स्वरूप सुख-दुःख-मोहात्मक होता है। सभी पदार्थों के सुख-दुःख-मोहात्मक होने से एक ही वस्तु के संसर्ग से भिन्न-भिन्न मनुष्यों को पृथक्-पृथक् रूप से सुख, दुःख तथा मोह की उपलब्धि होती है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का स्वरूप निर्धारण करने के लिए आचार्य पञ्चशिख का उद्धरण प्रस्तुत किया है और इस प्रकार पारम्परिक सांख्य के साथ अपने मत की सङ्गति दिखायी है। पञ्चशिख के उद्धरण में सत्त्वगुण के प्रसाद, लाघव, अभिष्वङ्ग, प्रीति, तितिक्षा, सन्तोष आदि रूप अनेक भेद बताते हुए यह कहा गया है कि संक्षेप में सत्त्वगुण

---

१. भा. द. रू. रे., पृष्ठ २७१.

२. प्रीत्यप्रतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्ये वैधर्म्यम्। (सां. सूत्र १/१२७) तथा सांख्यका. १२.

सुखात्मक है ।[१] विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ सांख्यसार में पञ्चशिख की भाँति सत्त्व गुण को प्रधानतया सुखात्मक ही बताया है तथा सुख, प्रसाद, प्रकाश आदि उसके अनेक धर्म बताये हैं ।[२] सत्त्व गुण लघु होने से ही वस्तुओं के ऊर्ध्वगमन का कारण है । रजोगुण का स्वरूप बताते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यह प्रधानतया दुःखात्मक है तथा दुःख, कालुष्य, प्रवृत्ति आदि इसके अनेक धर्म हैं ।[३] वे अपने मत की पुष्टि के लिए आचार्य पञ्चशिख के वाक्य को उद्धृत करते हैं ।[४] रजोगुण चलस्वभाव है[५] तथा रागात्मक है ।[६] विज्ञानभिक्षु तमोगुण को प्रधानतया मोहात्मक मानते हैं ।[७] मोह, आवरण, स्तम्भन आदि इसके धर्म हैं ।[८] आचार्य पञ्चशिख भी तमोगुण को मोहात्मक मानते हैं तथा इसके निद्रा आदि अनेक भेद स्वीकार करते हैं ।[९] ईश्वरकृष्ण ने तमोगुण का स्वरूप गुरु तथा आवरणकारी बताया है ।[१०]

इन गुणों के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि लघुत्व आदि धर्मों से युक्त होने से विभिन्न सत्त्वगुणों में साधर्म्य है तथा रजोगुण और तमोगुण के साथ वैधर्म्य है । चञ्चलत्व आदि धर्मों से युक्त होने से विभिन्न रजोगुणों में साधर्म्य है तथा सत्त्वगुण एवं तमोगुण के साथ वैधर्म्य है । इसी प्रकार गुरुत्व आदि धर्मों से युक्त होने से विभिन्न तमोगुणों में साधर्म्य तथा सत्त्वगुण तथा रजोगुण के साथ वैधर्म्य है ।[११] ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध

---

१. पञ्चशिखाचार्यैरुक्ताः यथा—सत्त्वं नाम प्रसादलाघवाभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम् । (सां. प्र. भा. १/१२७) ।

२. सत्त्वं सुखप्रसादप्रकाशाद्यनेकधर्मकं प्राधान्यतस्तु सुखात्मकमुच्यते । (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४) ।

३. एवं रजोऽपि दुःखकालुष्यप्रवृत्त्याद्यनेककधर्मकं प्राधान्यतस्तु दुःखात्मकमुच्यते । (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४) ।

४. पञ्चशिखाचार्यैरुक्ताः...एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम् । (सां. प्र. भा. १/१२७) ।

५. सां. प्र. भा. १/१२८. ६. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४–३०५.

७. ...तमोऽपि... प्राधान्यतस्तु मोहात्मकमुच्यते । (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०४–३०५) ।

८. तमोऽपि मोहावरणस्तम्भनाद्यनेकधर्मकम् । (वही) ।

९. पञ्चशिखाचार्यैरुक्ताः...एवं तमोऽपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम् । (सां. प्र. भा. १/१२७) ।

१०. गुरु वरणकमेव तमः (सांख्यका. १३) । ११. सां. प्र. भा. १/१२८.

स्वभाव वाले होनेपर भी पुरुषार्थ के लिए[1] परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। सांख्यकारिका में इन गुणों का कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन करना बताया गया है।[2] ये तीनों गुण विरुद्ध स्वभाव एवं धर्म वाले होते हुए भी दीपक की भाँति मिलकर कार्य करते हैं[3] इसीलिए इन गुणों से प्रकृति विविध प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ होती है।

सांख्यकारिका में इन गुणों के कार्य की प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है कि ये एक-दूसरे के अभिभावक, आश्रय बननेवाले, उत्पादक एवं सहचारी होते हैं।[4] माठरवृत्ति,[5] गौडपादभाष्य[6] तथा जयमङ्गला[7] में कारिका के 'वृत्ति' पद का अर्थ परिणाम या क्रिया किया गया है और अन्योन्य पद के साथ अभिभव, आश्रय, जनन तथा मिथुन पदों की भाँति स्वतन्त्र रूप से जोड़ा है। वाचस्पति मिश्र ने भी वृत्ति का अर्थ क्रिया माना है[8] किन्तु वे[9] तथा नारायणतीर्थ[10] 'वृत्ति' पद को अभिभव, आश्रय, जनन तथा मिथुन पद के साथ सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। अन्योन्याभिभव का अर्थ करते हुए आचार्य माठर कहते हैं कि रजस्, तमस् का अभिभव करके सत्त्वगुण की धर्म आदि वृत्ति उत्पन्न होती है; सत्त्व और तमस् का अभिभव करके रजस् की अधर्म आदि वृत्ति उत्पन्न होती है एवं सत्त्व, रजस् का अभिभव करके तमस् की अज्ञानादि वृत्ति उत्पन्न होती है।[11] आचार्य गौडपाद का मत है कि जब सत्त्वगुण उत्कट होता है तब रजोगुण और तमोगुण का अभिभव कर वह प्रीति और प्रकाशरूप से रहता है। जब रजोगुण उत्कट होता है तब वह सत्त्व और तमस् का अभिभव कर अप्रीति और प्रवृत्ति इन धर्मों से प्रकट होता है तथा जब तमोगुण उत्कट होता है तब सत्त्व एवं रजोगुण का अभिभव करके विषाद और स्थिति स्वरूप होता है।[12] जयमङ्गला में उपर्युक्त माठर तथा गौडपाद के

---

१. अर्थतः पुरुषार्थनिमित्तात्। (सां. प्र. भा. १/१२८)।

२. प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। (सांख्यका. १२)।

३. प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। (सांख्यका. १३)। ४. सांख्यका. १२. ५. माठ. १२.

६. गौड. १२. ७. जयम. १२. ८. वृत्तिः—क्रिया (तत्त्वकौ. १२)।

९. ...सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते। (वहीं)। १०. सांख्यचं. १२.

११. अन्योन्याभिभवाश्चेति रजस्तमसोरभिभवात् शान्ता वृत्तिरुत्पद्यते सत्वस्य धर्माद्या सत्त्वतमसोरभिभवाद् रजसो घोरा वृत्तिरुत्पद्यते अधर्माद्या। सत्त्वरजसोरभिभवात् तमसो मूढा वृत्तिरुत्पद्यते अज्ञानाद्या। (माठ. १२)।

१२. गौड. १२.

मत को उदाहरण द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—देवताओं में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तथा सत्त्व, रजस् का अभिभव होता है; मनुष्यों में रजस् का उद्रेक एवं सत्त्व, तमस् का अभिभव होता है और तिर्यक् में तमस् का उद्रेक एवं सत्त्व, रजस् का अभिभव होता है।[1] वाचस्पति मिश्र[2] तथा नारायणतीर्थ[3] का मत भी उपर्युक्त मतों के सदृश ही है।

'अन्योन्याश्रय' पद का अर्थ करते हुए सुवर्णसप्तति टीका में कहा गया है कि जिस प्रकार तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर आश्रित नहीं रह सकता और घट को अपने ऊपर सँभालने के लिए प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।[4] माठर 'अन्योन्याश्रय' पद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सत्त्वगुण प्रवृत्ति और नियमन का आश्रय लेकर प्रकाश करता है, रजस् प्रकाश तथा नियमन का आश्रय लेकर प्रवर्तन करता है एवं तमस् प्रकाश और प्रवृत्ति का आश्रय लेकर नियमन करता है। माठर[5] तथा जयमङ्गलाकार[6] ने आश्रय के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए त्रिदण्ड का ही उदाहरण दिया है। गौडपाद ने आश्रय के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए द्व्यणुक का उदाहरण दिया है[7] जैसे दो परमाणु मिलकर एक द्व्यणुक होता है। उस द्व्यणुक के वे दोनों परमाणु एक-दूसरे के आश्रय वाले हैं क्योंकि उनमें से एक भी पृथक् हो जायेगा तो द्व्यणुक नहीं रह जायेगा और किसी एक से ही वह बना है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी

---

१. अन्योऽन्यस्याभिभवा अन्योऽन्याभिभवाः। तद्यथा—देवेषु सत्त्वमुद्रिक्तं रजस्तमसी अभिभवति, मनुष्येषु रजः सत्त्वतमसी, तिर्यक्षु तमः सत्त्वरजसी। (जयम. १२)।

२. तथा हि—सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति। (तत्त्वकौ. १२)।

३. ...अन्योन्याभिभववृत्तयः, तथा हि सत्त्वमुत्कटं भूत्वा रजस्तमसी अभिभूय शान्तां वृत्तिं लभते, एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढाम्। (सांख्यचं. १२)।

४. सुवर्ण. १२.

५. ...अन्योन्याश्रयाश्च गुणाः। सत्त्वं हि प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति। रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति। तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमयति। त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति। (माठ. १२)।

६. अन्योऽन्यस्याश्रयाः त्रिदण्डवत्। (जयम. १२)।

७. ...अन्योन्याश्रयाश्च—द्व्यणुकवद् गुणाः। (गौड. १२)।

प्रकार ये गुण परस्पर आश्रित रहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने माठरवृत्ति का ही अनुकरण किया है।[1]

'अन्योन्यजनन' का तात्पर्य है कि तीनों गुण परस्पर एक-दूसरे की उत्पत्ति करनेवाले हैं अर्थात् तीनों गुणों में से प्रत्येक अन्य दोनों की अपेक्षा रखते हुए परिणाम उत्पन्न करते रहते हैं। यहाँ जनन का तात्पर्य गुणों का सदृश-परिणाम है।[2] 'जनन' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आचार्य माठर[3] तथा गौडपाद[4] ने मिट्टी से घड़े के उत्पन्न होने का दृष्टान्त दिया है।

'अन्योन्यमिथुन' पद का तात्पर्य है कि तीनों गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं। माठर का मत है कि ये एक-दूसरे के अभाव में रहनेवाले नहीं होते।[5] गौडपाद,[6] जयमङ्गलाकार[7] तथा वाचस्पति मिश्र[8] ने 'अन्योन्यमिथुन' का अर्थ परस्पर सहायक माना है। गौडपाद[9] तथा नारायणतीर्थ[10] ने 'अन्योन्यमिथुन' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए स्त्री-पुरुष का दृष्टान्त दिया है। गुणों के 'अन्योन्यमिथुन भाव' के समर्थन में देवीभागवत पुराण के अधोलिखित श्लोकों को सभी टीकाकारों ने उद्धृत किया है—

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते॥ (देवीभागवत पु० ३/८)।

'अन्योन्यवृत्ति' का अर्थ करते हुए आचार्य माठर कहते हैं कि गुण एक-दूसरे की वृत्ति उत्पन्न करते हैं।[11] गौडपाद ने 'अन्योन्यवृत्ति' का अर्थ एक-दूसरे में परस्पर रहनेवाला किया है।[12] 'अन्योन्यवृत्ति' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए माठर,[13] गौडपाद[14] तथा जयमङ्गलाकार[15] रूपवती स्त्री,

---

१. ...सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्या इतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति। (तत्त्वकौ. १२)।
२. अन्यतमोऽन्यतमं जनयति। जननं च गुणानां सदृशरूपः परिणामः। (वहीं)।
३. यथा सपरिकरकुम्भकाराधिष्ठितो मृत्पिण्डो घटं जनयति तद्वज्जनयन्ति। (माठ. १२)।
४. गौड. १२. ५. माठ. १२. ६. गौड. १२. ७. जयम. १२.
८. तत्त्वकौ. १२. ९. गौड. १२. १०. सांख्यचं. १२. ११. माठ. १२.
१२. अन्योन्यवृत्तयश्च। परस्परं वर्तन्ते, 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' इति वचनात्। (गौड. १२)।
१३. माठ. १२. १४. गौड. १२. १५. जयम. १२.

क्षत्रिय वीर तथा मेघ का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि एक रूप-गुण-शील-सम्पन्न स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उसका सत्त्वरूप प्रकट होता है ; वही स्त्री अपनी सपत्नियों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका रजोरूप प्रकट होता है और परपुरुषों में मोह उत्पन्न करती है क्योंकि उनके प्रति उसका तमोगुण प्रकट होता है। इसी प्रकार शत्रु-सेना के हनन करने में उसके प्रति क्षत्रिय वीर का रजोरूप प्रकट होता है। दस्युओं के उपद्रव से दुःखी लोगों के लिए वही सुखवाहक होता है और दस्युओं के लिए मोह और दुःख उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी प्रकार मेघ भी आकाश को आच्छादित कर कृषकों को सुखी करते हैं, अशरण पथिक के लिए दुःख तथा विरहिणियों में मोह उत्पन्न करते हैं।

प्रकृति की प्रलयावस्था में ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं तथा इनमें सदृश परिणाम होते रहते हैं किन्तु सृष्टिकाल में इनमें उच्चावचभाव आ जाता है और इस वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के मिश्रण से विविध प्रकार की सृष्टि होती है। प्रकृति में सृष्टिकाल में आद्य प्रेरणा कैसे उत्पन्न होती है, इस समस्या का समाधान सांख्य-दर्शन में दो प्रकार से किया गया है। एक मत तो यह है कि प्रकृति स्वभावतः परिणामिनी है अतः उसके सृष्टिकाल में होनेवाले परिणाम में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। दूसरा मत यह है कि प्रकृति अचेतन है, अतः उसमें कोई परिणाम स्वतः नहीं हो सकता। प्रकृति को परिणाम के लिए किसी चेतन तत्त्व की अपेक्षा है, क्योंकि अचेतन तत्त्व की आद्य प्रेरणा के लिए अचेतन तत्त्व की कल्पना व्यर्थ है।

सांख्य-सूत्रों तथा सांख्यकारिका में प्रकृति को स्वतः परिणामिनी माना गया है। प्रकृति में सतत परिणाम होते रहते हैं किन्तु ये सदृश परिणाम हैं। पुरुष का संयोग होने से गुणों में क्षोभ होता है तथा प्रकृति में विसदृश परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और महत् आदि क्रम से सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार सांख्यसूत्रों तथा सांख्यकारिका में प्रकृति की आद्यप्रेरणा के लिए पुरुष का संयोगमात्र ही पर्याप्त माना गया है। यह सृष्टि भी अचेतन प्रकृति का परिणाम होने से अबुद्धिपूर्वक ही होती है। प्रकृति-पुरुष का यह संयोग अबुद्धिपूर्वक होता है, यह स्पष्ट करते हुए सांख्यसूत्रों में अयस्कान्त-मणि का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार अयस्कान्त-मणि के सन्निधान-मात्र से लोहे में गति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पुरुष के सन्निधान-

मात्र से ही प्रकृति गतिशील हो जाती है। पुरुष का यह सन्निधान ही उसका अधिष्ठातृत्व है।[1]

आचार्य पञ्चशिख के प्राप्त उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकृति की सृष्टि को ज्ञानपूर्वक स्वीकार करते थे। 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'[2] इस पञ्चशिख-वाक्य से ज्ञात होता है कि वे चेतन पुरुष के अधिष्ठातृत्व से प्रकृति की प्रवृत्ति स्वीकार करते थे। इसी अर्थ को स्पष्ट करनेवाले कुछ अन्य वाक्य युक्तिदीपिका में हैं जिन्हें पञ्चशिख का माना जाता है।[3] युक्तिदीपिका में ये वाक्य 'एवं हि शास्त्रम्' कहकर उद्धृत किये गये हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कुछ सांख्य-दार्शनिक प्रकृति की प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक स्वीकार करते थे। इन वाक्यों में प्रकृति की प्रवृत्ति का ब्रह्म के अभिध्यान तथा संकल्प से होना स्वीकार किया गया है।[4] शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र २/२/३७–४१ के अपने भाष्य में ईश्वर को प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठाता मानने के मत का खण्डन किया है।

आचार्य वार्षगण्य का मत इन मतों से कुछ भिन्न है। वार्षगण्य प्रधान की प्रवृत्ति को ज्ञानपूर्वक नहीं मानते और न प्रधान की प्रवृत्ति में पुरुष का कोई अनुग्रह ही स्वीकार करते हैं।[5] पुरुष के अनुग्रह तथा संकल्प के विना ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने स्त्री-पुरुष के अचेतन शरीरों का एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने का दृष्टान्त[6] दिया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत इन दोनों मतों का समन्वय है। उन्होंने अपने मत में दोनों अतिवादी मतों का समाहार किया है। वे भी अन्य सांख्य-दार्शनिकों की भाँति प्रकृति-पुरुष-संयोग से सृष्टि का आविर्भाव स्वीकार करते हैं तथा सृष्टि को अबुद्धिपूर्वक मानते हैं। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए

---

१. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। (सां. सूत्र १/९६)।

२. सां. द. इ., पृष्ठ ४७९ तथा सां. सि., पृष्ठ १७७.

३. सां. द. इ., पृष्ठ ४८०.   ४. युक्ति. ४६.

५. 'तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते।' (युक्ति. १९)।

६. वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। (युक्ति. ५७)।

वे कहते हैं कि जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधानमात्र से स्फटिकमणि और जपाकुसुम का संयोग होता है उसके लिए किसी संकल्प की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार आदि पुरुष के संयोगमात्र से प्रकृति का महत् आदि रूप से परिणमन होने लगता है।[1] अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने कूर्मपुराण के इस श्लोक को भी उद्धृत किया है,[2]

इत्येष प्राकृतः सर्गः संक्षेपात् कथितो मया।
अबुद्धिपूर्वकस्त्वेव ब्राह्मीं सृष्टिं निबोधत ।। (कूर्मपु० १/४/६६)।

वे भी प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं[3] तथापि उन्होंने प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर का सन्निधान स्वीकार किया है और उसे श्रुतिस्मृतिसम्मत माना है।[4] अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने कठोपनिषद् (२/४/१२) इत्यादि की श्रुतियाँ भी उद्धृत की हैं। अपने इस मत का विशदीकरण विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ विज्ञानामृतभाष्य में किया है। सृष्टि के विकास को तो वे प्रकृति से ही स्वीकार करते हैं, किन्तु इस विकास को स्वतन्त्र नहीं अपितु ईश्वर की इच्छा से हुआ मानते हैं। इस अंश में वे सांख्य के मत को दुर्बल मान कर वेदान्त के मत को स्वीकार कर लेते हैं।[5] उनके मतानुसार प्रकृति और पुरुष ईश्वर की शक्तियाँ हैं और ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है। इस संयोग से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है जिसकी अपर संज्ञा हिरण्यगर्भ है। इसी से समस्त सृष्टि का विकास होता है। उनकी इस मान्यता के फलस्वरूप प्रकृति की स्वतन्त्रता के मौलिक दोषों का परिहार हो जाता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रकृति की स्वतन्त्र प्रवृत्ति के अंश में ही सांख्य का अप्रामाण्य है अतः ईश्वर के सन्निधान से प्रकृति में प्रवृत्ति स्वीकार करके उन्होंने सांख्य के इस दोष का परिहार कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अपने मत में सांख्य और वेदान्त का संयोग अपूर्व ढंग से किया है तथा निरीश्वरवादी सांख्य में ईश्वर का स्थान बना दिया है।

सृष्टि का प्रयोजन

प्रकृति की आद्य प्रेरणा से उत्पन्न यह सृष्टि प्रयोजनवती है। सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा तदनन्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के

---

१. सां. प्र. भा. १/९६. २. वही। ३. वही ३/५५. ४. वही ३/५७.
५. वही ३/६३.

अपवर्ग की सिद्धि ही है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रकृति की सृष्टि के भोग तथा अपवर्ग दो लक्ष्य हैं। अपवर्ग-लाभ के लिए ही प्रकृति की यह सृष्टि होती है तथा जिस पुरुष को अपवर्ग-लाभ हो जाता है उसके लिए प्रकृति का व्यापार समाप्त हो जाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि प्रकृति का यह व्यापार पुरुषों के कर्म द्वारा आकृष्ट होने पर ही होता है।[1] उनके अनुसार कर्म ही सृष्टि के होने में निमित्त कारण हैं।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि यद्यपि प्रकृति की सृष्टिकार्य में प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए होती है तथापि इससे उसके स्वातन्त्र्य की क्षति नहीं होती क्योंकि उसकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है।[3] प्रकृति की यह सृष्टि स्वतः होनेपर भी दूसरे के लिए अर्थात् पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए होती है। विज्ञानभिक्षु ने उपमा द्वारा प्रकृति की इस परार्थ प्रवृत्ति का वर्णन किया है। जिस प्रकार ऊँट स्वामी के लिए कुङ्कुम आदि का वहन करता है[4] उसी प्रकार परिणामशीला जड़-प्रकृति पुरुष के लिए स्वयं परिणत होकर सृष्टि करती है। सांख्यसूत्रों[5] तथा सांख्यकारिका[6] में सृष्टि में प्रकृति तथा पुरुष दोनों के स्वार्थ को स्वीकार किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु परम्परागत सांख्य के इस मत को स्वीकार करते हैं तथापि पुरुषार्थ को ही सच्चा प्रयोजन मानते हैं और कहते हैं कि पुरुषार्थ के विना तो प्रकृति का स्वार्थ भी सम्भव नहीं है। उनके अनुसार पुरुष को भोग तथा अपवर्ग का लाभ कराना ही प्रकृति का स्वार्थ है।[7]

प्रकृति की यह सृष्टि अबुद्धिपूर्वक होती है तथा सांख्य-दर्शन में इस प्रयोजनवती सृष्टि के लिए किसी अन्य चेतन तत्त्व की कल्पना नहीं की गयी है।[8] अचेतन प्रकृति की इस स्वतः प्रवृत्ति को आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार दुग्ध स्वतः विना पुरुष के प्रयत्न के दधिरूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार अचेतन होने पर भी अन्य तत्त्व के प्रयत्न के विना प्रकृति महत् आदि रूप में परिणत हो जाती है।[9] एक अन्य उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार काल आदि का कर्म स्वतः चलता है उसी प्रकार प्रधान की परिणाम क्रिया भी स्वतः होती है।[10]

----

१. सां. प्र. भा. ३/६२. २. सृष्टौ निमित्तं यत् कर्म। (वही ३/६७)। ३. वही ३/५५.
४. वही ३/५८. ५. विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य। (सां. सूत्र २/१)।
६. सांख्यका. २१. ७. सां. प्र. भा. ३/५८. ८. सां. सूत्र ३/५९.
९. सां. प्र. भा. ३/५९. १०. वही ३/६०.

प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार उत्कृष्ट सेवक संस्कार से ही स्वामी की सेवा के लिए प्रवृत्त होते हैं, अपने भोग के लिए नहीं, उसी प्रकार संस्कारवशात् ही प्रकृति की चेष्टा होती है।[१]

आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए ही स्वीकार करते हैं।[२] जिस प्रकार नृत्य दिखलाने के लिए प्रवृत्त नर्तकी नृत्यसमाप्ति के पश्चात् निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार पुरुषार्थ समाप्त हो जानेपर प्रवृत्तिशील प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।[३] इसी अर्थ को एक अन्य उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार अमात्य इत्यादि राजा के कार्य को सम्पन्न करने के पश्चात् कृतार्थ होकर उस व्यापार से विरत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषार्थ के सम्पन्न हो जानेपर सृष्टि-कार्य से विरत हो जाती है।[४] 'पुरुष को तत्त्व-ज्ञान हो जानेपर प्रकृति की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है' इस मत को अभिव्यक्त करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि जिस प्रकार 'मेरे दोष स्वामी के द्वारा देख लिये गये हैं' ऐसा जानकर सलज्ज कुलवधू पुनः अपने स्वामी के समक्ष नहीं आती उसी प्रकार पुरुष के द्वारा प्रकृति का परिणामित्व तथा दुःखात्मकत्व जान लिये जानेपर सलज्ज कुलवधू की भाँति प्रकृति भी पुरुष के प्रति निवृत्त हो जाती है।[५] इस प्रकार सांख्य-दर्शन में प्रकृति की सृष्टि का सच्चा प्रयोजन पुरुषार्थ ही स्वीकार किया गया है।

प्रकृति सम्बन्धी विवेचनों में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति का होता है अथवा पुरुष का? सांख्यसूत्रों[६] तथा कारिकाओं[७] में दोनों के बन्ध और मोक्ष के सङ्केत प्राप्त होते हैं। सामान्यतः सांख्य-दर्शन में पुरुष को ही दुःखों का भोक्ता माना गया है और कैवल्य के लिए उसकी प्रवृत्ति स्वीकार की गयी है। किन्तु सांख्यसूत्रों तथा कारिकाओं में स्पष्ट रूप से प्रकृति के बन्धन और मोक्ष की बात स्वीकार की गयी है। विज्ञानभिक्षु ने इस समस्या का समाधान अपूर्व ढंग से प्रस्तुत किया है। वे बन्धन और मोक्ष प्रकृति के ही स्वीकार करते हैं और पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा ही दुःखरूप बन्ध और उसका मोक्ष मानते हैं।[८] वे अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्फटिकमणि में (जपाकुसुम के समीप होने से उसका) रक्तत्व प्रतिबिम्ब मात्र है

---

१. सां. प्र. भा. ३/६१. २. वही ३/६९. ३. वही। ४. वही ६/४३.
५. वही ३/७०. ६. सां. सूत्र १/१४४. ७. सांख्यका. १७ तथा ६२.
८. सां. प्र. भा. ३/७२.

उसी प्रकार बन्ध-मोक्ष पुरुष में प्रतिविम्ब मात्र ही है और इस प्रतिविम्बमात्र दुःखरूप भोग अर्थात् बन्ध का नाश ही पुरुषार्थ है।[१] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-ग्रन्थों में प्राप्त होनेवाले इन परस्पर-विरुद्ध वर्णनों का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत किया है। उनके इस समाधान से पुरुष तथा प्रकृति के बन्धन और मोक्ष मानने का क्या रहस्य है, यह स्पष्ट हो जाता है तथा परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले इन वर्णनों में समन्वय दिखायी देने लगता है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति-पुरुष का संयोग कैसे होता है यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। प्रतिपक्षी दार्शनिकों ने इस समस्या को लेकर अनेक आक्षेप किये हैं। शङ्कराचार्य प्रकृति-पुरुष के संयोग की सम्भावना का निषेध करते हुए कहते हैं कि सांख्य अचेतन प्रकृति तथा उदासीन पुरुष दोनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करता है तथा इन दोनों का संयोग करानेवाले किसी तृतीय पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करता। ये दोनों तत्त्व स्वयं मिल नहीं सकते इसलिए सृष्टि ही सम्भव नहीं है। प्रोफ़ेसर चन्द्रधर शर्मा भी शङ्कर के इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अचेतन तथा स्वतन्त्र प्रकृति अधिक-से-अधिक प्रयोजनरहित तथा यान्त्रिक जगत् की सृष्टि कर सकती है, प्रयोजनमूलक जगत् की नहीं।[3] सांख्य-दार्शनिकों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए (वत्स-विवृद्धि-निमित्त) अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुषार्थ-सिद्धि के निमित्त अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति होती है क्योंकि दुग्ध की प्रवृत्ति चेतन वत्स की प्रेरणा और चेतन धेनु की स्नेहेच्छा के कारण होती है,[४] किन्तु सांख्य की प्रकृति तो अचेतन है। सांख्य का यह तर्क भी सङ्गत नहीं है कि जिस प्रकार घास, पुआल आदि पदार्थ विना किसी निमित्त पदार्थ की अपेक्षा किये दुग्धरूप में परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी विना किसी चेतन तत्त्व की अपेक्षा के ही महत् आदि रूप में परिणत हो जाती है[५] क्योंकि घास आदि का दुग्धरूप में परिणमन नैसर्गिक या निरपेक्ष नहीं अपितु चेतनधेनु-सापेक्ष होता है। घास तभी दूध बनती है जब वह दूध देनेवाली गाय के द्वारा खायी जाती है न कि बैल द्वारा खायी जाने पर। इसी प्रकार पङ्गु तथा अन्ध का उदाहरण भी उचित नहीं है।

---

१. सां. प्र. भा. १/५८. २. ब्रह्मसूत्र शा. २/२/२. ३. A.C.S.I.P., p. 166.
४. ब्रह्मसूत्र शा. २/२/३. ५. वही २/२/५.

सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि लँगड़ा व्यक्ति अन्धे के कन्धे पर बैठकर उसे मार्ग दिखाता रहे तो दोनों अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं यद्यपि अकेला पङ्गु एवं अकेला अन्धा दोनों अपने गन्तव्य स्थान तक जा सकने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार पुरुष पङ्गु है तथा प्रकृति अन्ध है किन्तु दोनों मिलकर पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकते हैं। इसका खण्डन करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि पङ्गु और अन्ध दोनों ही चेतन तथा सक्रिय हैं किन्तु सांख्यसम्मत प्रकृति अचेतन और पुरुष निष्क्रिय है। चेतन प्राणी तो परस्पर अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं किन्तु अचेतन प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष का संयोग नहीं हो सकता।[1] यदि पुरुष की सन्निधिमात्र अयस्कान्त द्वारा लौह को आकृष्ट करने की भाँति प्रकृति को प्रवृत्त करती है तो पुरुष के सदैव प्रकृति के समीप रहने के कारण प्रकृति सदैव सृष्ट्यवस्था में रहेगी और प्रकृति की सहज साम्यावस्था असिद्ध हो जायेगी।[2] प्रकृति में कर्तृत्व तथा पुरुष में भोक्तृत्व मानने से कर्म करेगी प्रकृति और उसका फल भोगना होगा पुरुष को और तब तो यह कर्मवाद के विपरीत होगा।

शङ्कराचार्य द्वारा लगाये गये आक्षेपों का समाधान आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत में हो जाता है। विज्ञानभिक्षु प्रकृति की सृष्टि को स्वतन्त्र नहीं मानते अपितु ईश्वरेच्छा से हुआ स्वीकार करते हैं। इस अंश में वे सांख्य के मत को दुर्बल मानते हैं तथा वेदान्त के मत को स्वीकार कर लेते हैं।[3] इस प्रकार विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति-पुरुष के संयोग करानेवाले तृतीय तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर ली है। प्रकृति की सृष्टिकार्य में प्रवृत्ति वे स्वतः मानते हैं। अपने मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध का दधिरूप में परिणमन स्वतः हो जाता है उसी प्रकार प्रकृति भी महदादि क्रम में परिणत हो जाती है।[४] यद्यपि आचार्य विज्ञानभिक्षु भी अयस्कान्तमणि की सन्निधि की भाँति ही पुरुष की सन्निधिमात्र से सृष्टि होना स्वीकार करते हैं[5] तथापि वे पुरुष के कर्मों द्वारा आकृष्ट होनेपर ही सृष्टि-कार्य में प्रकृति की प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं।[६] इस प्रकार पुरुषों के कर्मों के समाप्त हो जाने पर प्रकृति अपनी सहज साम्यावस्था को प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार शङ्कराचार्य द्वारा लगाये गये आक्षेप विज्ञानभिक्षु के मत पर लागू नहीं होते। उन्होंने सांख्य-दर्शन के दोषों का परिहार करते

---

१. ब्रह्मसूत्र शा. २/२/७. २. वही। ३. विज्ञा. २/१/१.
४. सां. प्र. भा. ३/५९. ५. वही १/९६. ६. वही ३/६२.

हुए सांख्य-सिद्धान्तों की अधिक बुद्धिसम्मत व्याख्या कर उसकी पुनर्प्रतिष्ठा का श्लाघनीय कार्य किया है।

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ,[1] डॉ० एस० राधाकृष्णन्[2] एवं डॉ० चन्द्रधर शर्मा सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित प्रकृति की स्वतन्त्र धारणा पर आक्षेप करते हैं। डॉ० चन्द्रधर शर्मा का मत है कि सांख्य में प्रकृति की धारणा नितान्त निरपेक्ष नहीं अपितु सापेक्ष-सी प्रतीत होती है। पदे-पदे प्रकृति की पुरुष पर निर्भरता का उल्लेख किया गया है। पुरुष के अभाव में प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती; पुरुष का प्रभाव सृष्टि का आरम्भ ही नहीं करता अपितु उसकी निरन्तरता बनाये रखने के लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसी स्थिति में प्रकृति को निरपेक्ष कैसे कहा जा सकता है? यदि प्रकृति स्वतन्त्र है तो उसे पुरुष के भोग और मोक्ष की चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? पुरुष के भोग और मोक्ष की चिन्ता उसे सापेक्ष बना देती है। पुरुष के द्वारा देख ली जाने पर अर्थात् विवेक-ज्ञान हो जाने पर प्रकृति उपरत हो जाती है। ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई भी नहीं है जो यह ज्ञात होते ही कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया' पुनः उसकी दृष्टि में नहीं आती।[4] पुरुष भी प्रकृति को देख लेने पर कहता है कि 'इसे तो मैंने देख लिया है' और वह भी उदासीन हो जाता है तथा पुनः उसका प्रकृति से संयोग नहीं होता। यदि प्रकृति उपरत हो जाती है तो उसे निरपेक्ष कैसे कहेंगे? प्रकृति को व्यक्तित्व-सम्पन्न न मानते हुए भी सांख्य में प्रकृति को नर्तकी कहा गया है। उसे स्त्री के रूप में उपस्थित किया गया है। प्रकृति उस नर्तकी की तरह है जो रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के पश्चात् उनके विषय में पुनः प्रवृत्त नहीं होती।[5] सांख्य-दर्शन में प्रकृति को गुणवती कहा गया है और गुणवती होते हुए वह अगुण (पुरुष) के लिए सक्रिय रहती है। वह पुरुष की सहायिका कही गयी है। वह निःस्वार्थ भाव से पुरुष के लिए स्वयं को प्रस्तुत करती है। प्रकृति सतरंगी है और पुरुष को आकृष्ट करना चाहती है।[6]

---

१. सांख्याभिमतं प्रकृतेः स्वातन्त्र्यं निरस्तम्। (महाभा. १२/२१०/२५ पर नीलकण्ठकृत टीका)।

२. भा. द. खण्ड २, पृष्ठ ३२१.   ३. A C. S. I. P., pp. 166–167.

४. सां. का. ६१.   ५. सां. सूत्र ३/५९, सां. प्र. भा. ३/५९ तथा सांख्यका. ५९.

६. A C.S.I.P., pp. 166–67.

प्रकृति पर लगाये गये उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं प्रतीत होते। प्रकृति पुरुष के प्रयोजन का साधन करने तथा उससे अधिष्ठित होने के कारण परतन्त्र नहीं हो जाती। सांख्य-दर्शन में प्रकृति को सर्वपदार्थलयस्थान मान कर उसे अलिङ्ग कहा गया है। अलिङ्ग होने के कारण ही प्रकृति स्वतन्त्र है। प्रकृति परतन्त्र उसी स्थिति में हो सकती है जब वह किसी अन्य कारण से विकसित होकर प्रलय की अवस्था में स्वकारण में लीन हो। लय को प्राप्त होनेवाले तत्त्व को लिङ्ग कहा जाता है। सांख्य-दर्शन में व्यक्त पदार्थों को ही सावयव एवं परतन्त्र कहा गया है क्योंकि वे स्व-स्वकारण में लीन होते हैं। प्रकृति को उत्पत्ति और लय का स्थान माना गया है अतः वह स्वतन्त्र है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति को स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष मानने का इतना ही अभिप्राय है कि उसे सृष्टि की उत्पत्ति करने में किसी अन्य उपादान-तत्त्व की अपेक्षा नहीं करनी होती। वह स्वयं ही सृष्टि का उपादान-कारण बनने में समर्थ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का भी मत है कि प्रकृति की सृष्टि-कार्य में स्वतः प्रवृत्ति होती है अतः पुरुषार्थ के लिए सृष्टि होनेपर भी उसके स्वातन्त्र्य की क्षति नहीं होती।[1] पुरुष का भोग तथा मोक्ष भी उसे सापेक्ष नहीं बनाते क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति में दोनों का ही स्वार्थ है।[2] विज्ञानभिक्षु का तो यहाँ तक कहना है कि पुरुषार्थ के विना तो प्रकृति के स्वार्थ की भी सिद्धि नहीं हो सकती।[3] प्रकृति के उपरत हो जाने का तात्पर्य यह है कि पुरुष के द्वारा प्रकृति का ज्ञान हो जाने पर प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण अविवेक समाप्त हो जाता है और पुरुष मुक्त हो जाता है तथा उसके लिए प्रकृति के व्यापार समाप्त हो जाते हैं। नर्तकी आदि के दृष्टान्तों के आधार पर प्रकृति को व्यक्तित्वसम्पन्न मानना ठीक नहीं है। प्रकृति के स्वरूप का वर्णन करने के लिए तथा उस तत्त्व को समझाने के लिए ही इन लौकिक दृष्टान्तों का सहारा लिया गया है।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन में प्रकृति को सृष्टि का मूल-कारण माना गया है। इसी एक तत्त्व से सांख्य दार्शनिक समस्त सृष्टि का उद्भव और विकास स्वीकार करते हैं। सांख्य में प्रकृति को सृष्टि-रचना में स्वतन्त्र माना गया है। विज्ञानभिक्षु ने सृष्टि का विकास प्रकृति से ही मानते हुए भी उसे ईश्वरेच्छा-परतन्त्र बना कर और अधिक ग्राह्य तथा बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न किया है।

---

१. सां. प्र. भा. ३/५५. २. सां. सूत्र २/१. ३. सां. प्र. भा. ३/५९.

चतुर्थ अध्याय

सृष्टि और उसका विकास

सांख्य-दर्शन वस्तुवादी दर्शन है, अतः वह चतुर्दिक् दृश्यमान इस जगत् को प्रकृति का परिणाम मानता है, विवर्त नहीं। प्रकृति से होनेवाली परिणाम-रूप यह सृष्टि तुच्छ या मिथ्या नहीं, अपितु सत्य तथा वास्तविक है।[1] प्रकृति का यह सृष्टि-प्रवाह निरन्तर गतिशील नदी के सदृश है और अनादि-काल से चला आ रहा है तथा अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रकृति गतिशील तत्त्व है, अतः वह कभी निश्चल अवस्था में नहीं रह सकती। वह परिणमनशील है तथा निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। इस सृष्टिक्रम के पूरा हो जानेपर प्रकृति पुनः अपने मूल रूप में आ जाती है। प्रकृति का यह मूल रूप ही उसकी साम्यावस्था है। इस साम्यावस्था में भी प्रकृति में सदृश परिणाम होते रहते हैं तथा पुरुष का संयोग होनेपर प्रकृति में विसदृश परिणाम होते हैं और सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। प्रकृति के इस परिवर्तन के नैरन्तर्य में उसका नित्यत्व छिपा हुआ है क्योंकि प्रकृति का यह परिवर्तन कभी समाप्त नहीं होता।

सांख्य के अनुसार यह सृष्टिरूप कार्यजगत् भावात्मक तथा सद्रूप है, अतः इसका मूल उपादान-कारण भी भावरूप तथा सद्रूप ही होना चाहिए। सत्कार्य-वाद के अनुसार अभाव से भाव और भाव से अभाव के परिणाम की कल्पना नहीं की जा सकती[2] इसलिए जगद्रूप भाव-कार्य का कारण भावात्मक प्रकृति ही है। सत्कार्यवाद के अनुसार सृष्टिक्रम को कारण की व्यक्तावस्था और लयक्रम को कार्य की अनभिव्यक्तावस्था ही मानना चाहिए। इसलिए सृष्ट्यवस्था में किसी नवीन वस्तु का निर्माण नहीं होता, अपितु अव्यक्त प्रकृति से अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विकास होता है। इस प्रकार सांख्य-दार्शनिक सृष्टिवादी न होकर विकासवादी हैं।

सर्ग के आरम्भ के लिए सांख्य-दार्शनिकों ने पुरुष-प्रकृति के संयोग को आवश्यक माना है। चिन्मय पुरुष तथा अचेतन प्रकृति के संयोग से प्रकृति में

---

१. सां. प्र. भा. २/६.   २. गीता २/१६.

क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों सत्त्व, रजस् तथा तमस् में विक्षोभ होनेपर उनमें सर्गोन्मुख या विकारोन्मुख प्रवृत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग क्यों होता है? सांख्य-दर्शन में पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए ही प्रकृति का संयोग माना गया है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति-पुरुष का संयोग कराने के लिए किसी अन्य तत्त्व की कल्पना नहीं की गयी है, अपितु उन दोनों में सान्निध्यमात्र से ही प्रवृत्ति स्वीकार की गयी है। प्रकृति की इस स्वतः प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए सांख्य-दर्शन में अयस्कान्त और लौह का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार अयस्कान्त से प्रेरित लौह उससे संयुक्त होता है, उसी प्रकार पुरुष से प्रेरित होकर प्रकृति उससे संयुक्त होती है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत इससे भिन्न है, वे सृष्टि का विकास तो प्रकृति से ही स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण ईश्वर को मानते हैं।[2] वे इस अंश में सांख्य को दुर्बल मानते हैं[3] तथा वेदान्त मत को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके दर्शन में सांख्य तथा वेदान्त दर्शन का अपूर्व सङ्गम हुआ है एवं उनका दर्शन सांख्य दार्शनिकों की भाँति विकासवादी तथा औपनिषदिक दार्शनिकों की भाँति सृष्टिवादी हो गया है।

सृष्टि का आदि तत्त्व महत्तत्त्व

आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार ईश्वर की इच्छा से प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और इस संयोग से सृष्टि के आदि तत्त्व महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व तथा बुद्धि पर्यायवाची शब्द हैं।[4] इसी महत्तत्त्व को पुराणों में हिरण्यगर्भ भी कहा गया है।[5] शङ्कराचार्य ने भी प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व को हिरण्यगर्भ कहा है किन्तु वे हिरण्यगर्भ को बुद्धि से परे मानते हैं।[6] आचार्य विज्ञानभिक्षु महत्तत्त्व को हिरण्यगर्भ का पर्यायवाची कहे जाने का औचित्य बताते हुए कहते हैं कि बुद्धि का अभिमानी होने के कारण ही चेतन हिरण्यगर्भ को श्रुतियों एवं स्मृतियों में महान् कहा गया है।[7] विज्ञानभिक्षु का मत है कि यद्यपि श्रुतियों में पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन है तथापि वहाँ भी महत् आदि क्रम से ही पञ्चमहाभूतों की सृष्टि ही अभीष्ट है। उनका मत है कि

---

१. विज्ञा. १/१/२. २. वहीं। ३. वही २/१/१. ४. सां. प्र. भा. २/१३.
५. ब्रह्मपु. २४०/१६–१७. ६. कठोप. शाङ्क. १/३/१०. ७. सां. प्र. भा. २/१३.

वेदान्त सूत्रों में भी महत् आदि क्रम से ही सृष्टि स्वीकार की गयी है।[१] सृष्टि के विकास के क्रम के लिए वे सांख्य की प्राचीन परम्परा को ही प्रामाणिक मानते हैं।[२] इस प्रकार उन्होंने अपने दर्शन में प्रकृति की स्वतन्त्रकारणता पर वेदान्त द्वारा लगाये गये दोषों के परिहार का प्रयास किया है तथा सांख्य के स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए सांख्य और वेदान्त को एक-दूसरे के समीप ला दिया है।

सांख्य-दर्शन में समस्त सर्ग अध्यात्म और अधिभूत दो रूपों में वर्णित किया गया है। प्रथमतः आध्यात्मिक सर्ग की सृष्टि होती है, तत्पश्चात् अधिभूत सर्ग उत्पन्न होता है। प्रकृति से महत्, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से मन, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ, तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र, एवं पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूतों की सृष्टि होती है।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष, प्रकृति तथा प्रकृति के तेईस विकारों—इन पचीस तत्त्वों को पदार्थ तथा द्रव्य मानते हैं।[४] सांख्य के अध्यात्म-सर्ग में तेरह करणों—बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों का एवं अधिभूत सर्ग में पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत का समावेश होता है।

सामान्यतः सांख्य-दर्शन में प्रकृति का आद्य-कार्य महत्तत्त्व को स्वीकार किया गया है,[५] किन्तु कतिपय सांख्याचार्यों का मत है कि प्रकृति के विक्षोभ तथा महत्तत्त्व की उत्पत्ति से पूर्व मूल-प्रकृति में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं जिसे कारणतत्त्व-प्रकृति की साम्यावस्था भी नहीं कहा जा सकता और न उस अवस्था में कोई निश्चित विकार ही उत्पन्न होता है। युक्तिदीपिकाकार ने इस ओर सङ्केत करते हुए लिखा है कि प्रधान से एक अनिर्देश्यस्वरूप तत्त्वान्तर की उत्पत्ति होती है तत्पश्चात् महान् की उत्पत्ति होती है।[६] शङ्कराचार्य ने भी कठोपनिषद् १/३/१० के भाष्य में अव्यक्त से सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व हिरण्यगर्भ को माना है तथा उसे बुद्धि से परे बताया है। किन्तु सांख्य-परम्परा में अनेक विषयों में परस्पर भिन्न मत रखनेवाले पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण तथा वार्षगण्य आदि

---

१. सां. प्र. भा. २/१०. २. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७.

३. सां. सूत्र १/६१, सांख्यका. २२.

४. एवं पञ्चविंशतिर्गणः पदार्थव्यूहः...अयं च पञ्चविंशतिको गणो द्रव्यरूप एव। (सां. प्र. भा. १/६१)।

५. सां. सूत्र १/७१.

६. केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति। (युक्ति. २२)।

सांख्याचार्य भी प्रकृति से महान् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[1] यद्यपि महत्तत्त्व की रचना में तीनों गुणों का सहयोग रहता है तथापि सत्त्वाधिक्य होने से महत्तत्त्व को सत्त्वप्रधान कहते हैं। सत्त्वप्रधान प्रकृति कतिपय परिवर्तनों के पश्चात् महत्तत्त्व के रूप में परिणत हो जाती है। सर्गोन्मुख स्थिति में मूल कारण प्रकृति से महत्तत्त्व की ही उत्पत्ति इसलिए भी होती है कि सृष्टि का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर होता है। अव्यक्त से व्यक्त होनेवाले पदार्थों में महत्तत्त्व सर्वाधिक सूक्ष्म तत्त्व है। सृष्टि का क्रम जितना आगे बढ़ता जाता है उतना ही स्थूल होता जाता है तथापि अध्यात्म-सर्ग की रचना इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका ग्रहण इन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अध्यात्म-सृष्टि अधिभूत-सृष्टि से पूर्व होती है। अध्यात्म-सृष्टि में त्रयोदश करणों का समावेश है, उनमें भी अन्य करणों की अपेक्षा महत्तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए भी यह अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आनेवाला प्रथम तत्त्व है। महत्तत्त्व को आद्य-कार्य मानने का यह कारण भी है कि सर्ग का प्रयोजन पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्रदान करना है। महत्तत्त्व ही अन्य करणों की अपेक्षा पुरुष के सर्वाधिक समीप रह कर उसके भोग आदि को सम्पन्न कराता है अतः उसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम होनी ही चाहिए।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि धर्म आदि उत्कृष्ट गुणों के कारण ही सृष्टि के आद्य-कार्य को महत्संज्ञा प्रदान की गयी है तथा यही महत् का लक्षण भी है।[2] सांख्य-दर्शन में महत्तत्त्व और बुद्धि एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं।[3] इसके अतिरिक्त मन,[4] महान्, प्रज्ञा आदि को भी विज्ञानभिक्षु महत्तत्त्व का पर्याय मानते हैं तथा अपने मत के समर्थन में अनुगीता को उद्धृत करते हैं।[5] आचार्य भावागणेश ने महत्तत्त्व के 'त्रिगुणात्मकमाद्यं कार्यं बुद्धिः'[6] तथा 'निश्चयवृत्तिकमन्तःकरणं बुद्धिः'[7] यह दो लक्षण दिये हैं। उनके द्वारा दिया गया महत्तत्त्व का तीसरा लक्षण विज्ञानभिक्षु के लक्षण के अनुरूप ही है।[8] वे मन, मतिः, महान्, ब्रह्मा, पूः, बुद्धिः, वृत्तिः, ख्यातिः, प्रज्ञा, सन्ततिः आदि को

---

१. पतञ्जलिपञ्चाधिकरणवार्षगणानां तु प्रधानान्महानुत्पद्यत इति। (युक्ति. २२)।

२. तस्य धर्मादिरूपप्रकृष्टगुणयोगात् महत्संज्ञा, तदेव च लक्षणम्। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६)।

३. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६ ; तथा सां. प्र. भा. २/१३.

४. सां. प्र. भा. १/७१. ५. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६.

६. तत्त्वया. १. ७. वही। ८. वही।

महत्तत्त्व का पर्याय मानते हैं तथा विज्ञानभिक्षु की भाँति ही अनुगीता को उद्धृत करते हैं।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु[2] तथा भावागणेश[3] दोनों ही महत् को सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से त्रिविध मानते हैं। यही महत्तत्त्व सत्त्व आदि अंशों से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उपाधि को निर्मित करता है तथा इन उपाधियों सहित ही वे इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। इन तीनों में भी ब्रह्मा और शिव की अपेक्षा विष्णुरूप महत्तत्त्व पहले उद्भूत होता है।[4] अपने इस मत के समर्थन के लिए विज्ञानभिक्षु अनुगीता को उद्धृत करते हैं।[5]

सांख्य-दर्शन में पुरुषों को अनन्त माना गया है, अतः उन्हें भोग तथा अपवर्ग प्रदान करनेवाली बुद्धियाँ भी अनन्त हैं।[6] पुरुष तथा बुद्धि का संयोग प्रलयकाल या तत्त्वसाक्षात्कार होने तक चलता रहता है। पुरुष और बुद्धि का संयोग भोग तथा अपवर्ग के लिए होता है इसलिए तत्त्व-साक्षात्कार होने पर सृष्टि का लक्ष्य पूरा हो जाता है तथा बुद्धि और पुरुष के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती अतः मुक्त पुरुष की बुद्धि अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती है।

प्रकृति की प्रथम प्रसूति महत्तत्त्व जड़ तथा अचेतन होते हुए भी सत्त्वबहुल होने के कारण पारदर्शक तत्त्व है। अचेतन बुद्धि चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतनवत् प्रतीत होती है। महत्तत्त्व चेतन पुरुष के समीप रहकर अपने व्यापार को सम्पादित करता है। अहङ्कार, मन तथा इन्द्रियों के व्यापार, परम्परया महत्तत्त्व के लिए होते हैं। सांख्य-दर्शन में अध्यवसाय को बुद्धि का लक्षण स्वीकार किया गया है।[7] विज्ञानभिक्षु के अनुसार अध्यवसाय अर्थात् निश्चय ही बुद्धि की साधारणी वृत्ति है। यद्यपि अध्यवसाय बुद्धि का कार्य होने से धर्म है तथापि धर्म और धर्मी में अभेद मान कर अध्यवसाय अथवा निश्चय को ही बुद्धि कहा गया है।[8]

---

१. तत्त्वया. १. २. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०६.
३. तत्त्वया. १. ४. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७ तथा तत्त्वया. १.
५. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७. ६. सां. प्र. भा. २/१३.
७. अध्यवसायो बुद्धिः। (सां. सूत्र २/१३ तथा सांख्यका. २३)।
८. सां. प्र. भा. २/१३.

बुद्धि के धर्म

धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य--ये चार बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं[१] तथा रजस तथा तमस् के उपराग से उसी सत्त्वबहुल बुद्धितत्त्व के अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य रूप चार धर्म होते हैं।[२]

बुद्धि के सात्त्विक रूप

धर्म--बुद्धि के धर्म आदि रूपों के स्वरूप के विषय में सांख्यकारिका के टीकाकारों में परस्पर मतभेद है। सुवर्णसप्ततिकार ने बुद्धि के सात्त्विक रूप धर्म का लक्षण यम, नियम बताया है। उनके अनुसार अद्वेष, आचार्यसत्कार, अन्तर्बहिः शौच, अन्नपान-निग्रह एवं अप्रमाद यम तथा अहिंसा, अस्तेय, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य तथा अशाठ्य नियम हैं।[3] माठरवृत्ति[४] में भी यम-नियम को धर्म कहा गया है तथा उनके योगसूत्र में प्रतिपादित स्वरूप को स्वीकार किया गया है। युक्तिदीपिका में श्रुतिस्मृतिविहित कर्मों के अनुष्ठान करनेवाले के बुद्धिस्थित सत्त्वावयव को धर्म कहा गया है तथा यह धर्म द्विविध माना गया है। इसका प्रथम भेद शरीर, इन्द्रिय तथा विषयोपभोग का निवर्तक एवं ज्ञान आदि का अङ्गभूत तथा द्वितीय अग्निहोत्र हवन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान एवं यम-नियम आदि से सिद्ध होनेवाला है। युक्तिदीपिकाकार को भी माठर द्वारा मान्य यम के अङ्ग कुछ भेद के साथ स्वीकार्य हैं किन्तु नियम के स्वरूप में दोनों टीकाकारों का मतभेद है। युक्तिदीपिकाकार ने अक्रोध, गुरु-शुश्रूषा, शौच, आचारलाघव तथा अप्रमाद को नियम का अङ्ग माना है।[५] गौडपाद दया, दान तथा यम-नियम को धर्म मानते हैं तथा यम-नियम का पातञ्जलसूत्र में प्रतिपादित स्वरूप स्वीकार करते हैं।[६] जयमङ्गलाकार भी यम-नियम को धर्म मानते हैं तथा यम-नियम का पातञ्जलसूत्र में प्रतिपादित स्वरूप स्वीकार करते हैं।[७] तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार धर्म लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण का हेतु है। यज्ञ, दान इत्यादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का हेतु बनता है तथा अष्टाङ्ग-योग की साधना से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस अर्थात् कैवल्य का कारण है।[८]

---

१. सां. प्र. भा. २/१४. २. वही २/१५. ३. सुवर्ण. २३.
४. माठ. २३. ५. युक्ति. २३. ६. गौड. २३.
७. जयम. २३. ८. तत्त्वकौ. २३.

ज्ञान—सुवर्णसप्ततिकार ज्ञान को भी बाह्य और आन्तर भेद से द्विविध स्वीकार करते हैं। वेदों के छः अङ्ग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त बाह्य ज्ञान हैं तथा त्रिगुण एवं पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान आभ्यन्तर ज्ञान है। बाह्य ज्ञान से लौकिक सुख की प्राप्ति होती है तथा आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] माठरवृत्ति में भी ज्ञान बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से द्विविध ही स्वीकार किया गया है किन्तु बाह्य ज्ञान के स्वरूप के प्रतिपादन की माठर की शब्दावली सुवर्णसप्ततिकार की शब्दावली से भिन्न है। माठर, वीणा, पणव, गन्धर्व, चित्र, कथा, गणित तथा व्याकरण शास्त्र को बाह्य ज्ञान स्वीकार करते हैं। आभ्यन्तर ज्ञान के स्वरूप में दोनों का पूर्ण मतैक्य है।[2] युक्तिदीपिकाकार भी शब्दादि की उपलब्धि तथा गुण एवं पुरुष में भेद की उपलब्धि के भेद से ज्ञान को द्विविध मानते हैं। शब्दादि की उपलब्धिरूप ज्ञान के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम आते हैं और गुणों तथा पुरुष में भेद या विवेक की उपलब्धिरूप ज्ञान अपूर्व तथा अभ्यासज के भेद से द्विविध है।[3] गौडपाद भी ज्ञान को द्विविध ही मानते हैं वे बाह्य ज्ञान में सुवर्णसप्ततिकार को मान्य वेद के छः अङ्गों के अतिरिक्त पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र को और जोड़ देते हैं तथा आभ्यन्तर ज्ञान का उपर्युक्त स्वरूप ही स्वीकार करते हैं।[4] जयमङ्गलाकार के अनुसार पचीस तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों एवं पुरुष के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है।[5] वाचस्पति मिश्र ने भी जयमङ्गलाकार के मत को ही स्वीकार किया है।[6]

वैराग्य—सुवर्णसप्ततिकार वैराग्य को भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध मानते हैं। उनका कहना है कि धन के अर्जन, रक्षण तथा क्षयकाल में क्लेशों को देखकर, उसके दर्शन से विरक्त होकर मनुष्य गृह त्याग कर प्रव्रज्या लेता है। ऐसा विरक्त मोक्ष नहीं प्राप्त करता क्योंकि यह वैराग्य बाह्य ज्ञान से प्राप्त होता है। पुरुष तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति के भेद के ज्ञान से उत्पन्न, वैराग्य से जो प्रव्रज्या लेता है वह आभ्यन्तर ज्ञानपूर्वक वैराग्य प्राप्त करता है और इस वैराग्य से मोक्ष प्राप्त करता है।[7] माठरवृत्ति तथा गौडपाद भाष्य में भी वैराग्य का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है।[8] जयमङ्गला में विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के दोष-दर्शन से होनेवाली विमुखता को विराग कहा गया

---

१. सुवर्ण. २३. २. माठ. २३. ३. युक्ति. २३. ४. गौड. २३.
५. जयम. २३. ६. तत्त्वकौ. २३. ७. सुवर्ण. २३. ८. माठ. २३ तथा गौड. २३.

है।[१] युक्तिदीपिका[२] तथा तत्त्वकौमुदी[३] में राग अर्थात् आसक्ति के अभाव को वैराग्य कहा गया है तथा इसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार, चार संज्ञायें मानी गयी हैं। राग-द्वेष आदि चित्त के कषाय हैं, इनके द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवर्तित होती हैं। इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए इन कषायों का परिपाक आवश्यक है। अतः इन कषायों के परिपाक के लिए किये गये प्रयत्न की संज्ञा यतमान है। विद्वत्तोषिणीकार राग आदि मलों के परिपाक के लिए किये गये मैत्री आदि भावनारूप यत्न को यतमान संज्ञा देते हैं।[४] युक्तिदीपिकाकार ने कुछ इन्द्रिय विषयों की परिपक्वावस्था को व्यतिरेक वैराग्य की संज्ञा दी है।[५] तत्त्वकौमुदीकार व्यतिरेक वैराग्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कषायों के शमन करने के लिए प्रयत्न करने पर कुछ कषाय शान्त हो जाते हैं और कुछ भविष्य में शान्त होने के लिए रह जाते हैं। इस प्रकार इनके उपशम में पौर्वापर्य उपस्थित होनेपर भविष्य में शमन करने के लिए अवशिष्ट मलों से पूर्व शान्त हुए मलों को पृथक् करना तथा उनके शमन के लिए अनुष्ठान व्यतिरेक नामक वैराग्य है।[६] युक्ति-दीपिकाकार एकेन्द्रिय वैराग्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए कहते हैं कि सभी इन्द्रियों से निवृत्त होने पर भी कषाय जब सङ्कल्पमात्र में अवस्थित रहते हैं तब वैराग्य की एकेन्द्रिय संज्ञा होती है।[७] तत्त्वकौमुदीकार को भी युक्तिदीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित एकेन्द्रिय वैराग्य का उपर्युक्त स्वरूप ही अभिमत है।[८] युक्ति-दीपिकाकार के अनुसार सङ्कल्पमात्र भी अवस्थित कषाय का परिपाक वशीकार संज्ञा वैराग्य है।[९] तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार लौकिक तथा वेदोक्त विषयों के उपस्थित होनेपर भी उत्सुकता न होना वशीकार-संज्ञा वैराग्य है।[१०]

ऐश्वर्य—ऐश्वर्य के स्वरूप के विषय में सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों का मतैक्य है। सुवर्णसप्ततिकार ने अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, प्राकाम्य, वशित्व एवं यथाकामावसायित्व के भेद से अष्टविध ऐश्वर्य स्वीकार किया है।[११] यथाकामावसयित्व के लिए माठरवृत्ति[१२] में यत्रकामावसायित्व शब्द प्रयुक्त किया गया है तथा युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला तथा तत्त्वकौमुदी में भी यही पाठ मिलता है। अणिमा अत्यन्त सूक्ष्मता की स्थिति

---

१. जयम. २३. २. युक्ति. २३. ३. तत्त्वकौ. २३. ४. विद्वत्तो. २३.
५. युक्ति. २३. ६. तत्त्वकौ. २३. ७. युक्ति. २३. ८. तत्त्वकौ. २३.
९. युक्ति. २३. १०. तत्त्वकौ. २३. ११. सुवर्ण. २३. १२. माठ. २३.

है, इस अवस्था में योगी सूक्ष्म होकर विचरण कर सकता है। तत्त्वकौमुदीकार अणिमा का अर्थ ऐसी सूक्ष्मता स्वीकार करते हैं जिससे योगी शिला में भी प्रवेश कर सके।[1] गौडपाद लघिमा का अर्थ रुई के फाहे से भी हल्का होकर फूल के परागवाही अवयवों की नोक पर बैठ सकना करते हैं।[2] जयमङ्गलाकार के अनुसार लघिमा का अर्थ लघुत्व है जिससे योगी वायु के सदृश लघुतर हो जाता है।[3] तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार लघिमा का तात्पर्य लघुता से है जिससे योगी सूर्य की किरणों के सहारे सूर्य-लोक में पहुँच जाता है।[4] जयमङ्गलाकार ने महिमा का अर्थ महत्त्व किया है जिससे भुवनों में धर्म आदि की प्राप्ति होती है तथा इन गुणों से इच्छित वस्तु मिल जाती है।[5] तत्त्वकौमुदीकार भी महिमा का अर्थ महत्त्व ही मानते हैं, उनके अनुसार इस ऐश्वर्य से योगी बड़े परिमाण का हो जाता है।[6] गौडपाद के अनुसार अपनी अभिमत वस्तु जहाँ कहीं भी हो, उसे प्राप्त कर लेना प्राप्ति है।[7] तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार प्राप्ति वह है जिससे योगी (विना महत् परिमाण के भी) अङ्गुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है।[8] ईशित्व का अर्थ सुवर्णसप्ततिकार[9] तथा गौडपाद[10] के अनुसार त्रिभुवन का स्वामित्व है। जयमङ्गलाकार के अनुसार ईशित्व का अर्थ प्रभुता है जिससे स्थावर आदि भूत योगी के आदेश का पालन करनेवाले हो जाते हैं।[11] किन्तु तत्त्वकौमुदीकार ईशित्व उसे स्वीकार करते हैं जिससे योगी सभी भूतों तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश में समर्थ होता है।[12] सुवर्णसप्ततिकार प्राकाम्य का अर्थ यथेच्छ विषयोपभोग की क्षमता मानते हैं।[13] गौडपाद के अनुसार जो इच्छा हो वही कर लेना प्राकाम्य है।[14] जयमङ्गलाकार के अनुसार प्राकाम्य का अर्थ प्रचुरकामिता है जिससे एक को अनेक और अनेक को एक किया जा सकता है।[15] किन्तु तत्त्व-कौमुदीकार प्राकाम्य को इच्छा का अनवरोध या साफल्य मानते हैं जिससे योगी भूमि से ऊपर निकलकर पुनः उसी में उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाता है जिस प्रकार जल में उन्मज्जन-निमज्जन किया जा सकता है।[16] गौडपाद[17] तथा वाचस्पति[18] के अनुसार वशित्व का अर्थ सभी भूत तथा भौतिक पदार्थों

---

१. तत्त्वकौ. २३. २. गौड. २३. ३. जयम. २३. ४. तत्त्वकौ. २३.
५. जयम. २३. ६. तत्त्वकौ. २३. ७. गौड. २३. ८. तत्त्वकौ. २३.
९. सुवर्ण. २३. १०. गौड. २३. ११. जयम. २३. १२. तत्त्वकौ. २३.
१३. सुवर्ण. २३. १४. गौड. २३. १५. जयम. २३. १६. तत्त्वकौ. २३.
१७. गौड. २३. १८. तत्त्वकौ. २३.

को वशीभूत करना है। जयमङ्गलाकार भी वशित्व का यही अर्थ मानते हैं।[१] गौडपाद के अनुसार यत्रकामावसायित्व का अर्थ ब्रह्म से लेकर तृण-पर्यन्त में जहाँ इच्छा हो वहीं खड़ा हो सकना, बैठ सकना विहार कर सकना आदि है।[२] जयमङ्गलाकार के अनुसार यत्रकामावसायित्व से योगी स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में या भूमि पर रह सकता है।[३] तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार 'कामावसायित्व' संकल्प का सत्य होना है जिससे योगी का जैसा संकल्प या निश्चय होता है वैसे ही प्राणी हो जाते हैं।[४] माठर[५] तथा युक्तिदीपिकाकार[६] ने इन आठ प्रकार के ऐश्वर्यों के अतिरिक्त 'गरिमा' का भी उल्लेख किया है। प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित तत्त्वकौमुदी प्रभा में भी गरिमा को स्वीकार किया गया है।[७] किन्तु बालराम उदासीन ने तत्त्वकौमुदी में गरिमा को नहीं स्वीकार किया है।[८] डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य का मत है कि गरिमा कहीं-कहीं अधिक पाठ है, अतः यह अपपाठ है।[९] संस्कृत के शब्दकोषों में भी आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में गरिमा की गणना नहीं है।

बुद्धि का तामसिक रूप

अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य बुद्धि के तामसिक रूप हैं। युक्तिदीपिकाकार अधर्म को अनिष्ट-शरीर-इन्द्रिय-विषयोपभोग-निवर्तक तथा ख्यातिवारक के भेद से द्विविध मानते हैं। शब्द आदि की उपलब्धि रूप तथा गुण-पुरुषान्तरोपलब्धिरूप ज्ञान ही विपर्यय से अज्ञान है। वैराग्य की भाँति ही राग की भी यतमान आदि चार अवस्थाएँ हैं। अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य की भाँति ही अनैश्वर्य भी अष्टविध है।[१०]

अहङ्कार

महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है।[११] विज्ञानभिक्षु का मत है कि महान् के पश्चात् जो उत्पन्न होता है वह अभिमान वृत्तिवाला अहङ्कार है।[१२]

---

१. वशित्वं वशिता, येन स्वतन्त्रश्चरति। (जयम. २३)। २. गौड. २३.
३. जयम. २३. ४. तत्त्वकौ. २३. ५. माठ. २३. ६. युक्ति. २३.
७. गरिमा गुरुभावः यतो गुरुर्भवति। (सां. तत्त्वकौ. प्रभा २३)।
८. विद्वतो. २३. ९. सां. ज्यो. २३. १०. युक्ति. २३.
११. महतोऽहङ्कारः (सां. सूत्र १/६१), चरमोऽहङ्कारः (सां. सूत्र १/७२)।
१२. सां. प्र. भा. १/७२.

चाहे महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति मानी जाये अथवा महत् के पश्चात् अहङ्कार की उत्पत्ति मानी जाये, दोनों कथनों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। जिन उपादान तत्त्वों से महत् की उत्पत्ति होती है उनमें रजस्तत्त्व की अधिकता होने पर अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। विन्ध्यवासी महत् से ही अहङ्कार तथा पञ्च-तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[1] योगभाष्य (२/१९) में अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र—इन छः तत्त्वों को अविशेष कहा गया है। बुद्धि का 'मैं' और 'मेरा' यह अभिमान का भाव ही अहङ्कार है। इसी अहङ्कार के भ्रम में पड़कर पुरुष स्वयं को कामी तथा स्वामी समझने लगता है। यही अहङ्कार या अभिमान का भाव हमारे लोक-व्यवहार का मूल है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि जिस प्रकार कुम्भ (घड़े) का निर्माण करनेवाला कुम्भकार होता है उसी प्रकार अहङ्कार करनेवाला तत्त्व अहङ्कार है।[2] उनके अनुसार अभिमान अहङ्कार की असाधारण वृत्ति है किन्तु धर्म और धर्मी में अभेद होने से अहङ्कार करनेवाले तत्त्व को ही अहङ्कार कहा गया है।[3] यद्यपि अहङ्कार वस्तुतः अभिमन्ता अर्थात् अभिमान करनेवाला तत्त्व है तथापि अभिमान वृत्तिवाला होने के कारण अहङ्कार ही इसकी संज्ञा है और यही इसका लक्षण भी है।[4] आचार्य भावागणेश ने अहङ्कार के 'अहं' वृत्ति से युक्त अन्तःकरण अहङ्कार 'एकादश इन्द्रियों का उपादानकारण' तथा 'तन्मात्रों का उपादानकारण' ये तीन लक्षण दिये हैं।[5] आचार्य विज्ञानभिक्षु[6] तथा भावागणेश[7] अहङ्कार के पर्याय बताने के लिए कूर्मपुराण के इस श्लोक को उद्धृत करते हैं—

अहङ्कारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च संस्मृतः।
आत्मा देही च जीवश्च यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ (कूर्मपु. १/४/१९)।

आचार्य विज्ञानभिक्षु अहङ्कार को सात्त्विक अथवा वैकारिक, राजस या तैजस और तामस अर्थात् भूतादि के भेद से त्रिविध मानते हैं तथा अपने मत के समर्थन में कूर्मपुराण (१/४/१८, २२–२३) को उद्धृत करते हैं।[8] आचार्य भावागणेश ने भी अपने गुरु विज्ञानभिक्षु का मत ज्यों का त्यों स्वीकार किया

---

१. महतः षड्विशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम्। (युक्ति. २२)।
२. सां. प्र. भा. २/१६.
३. स च धर्मधर्म्यभेदादभिमान इत्युक्तोऽसाधारणवृत्तितासूचनाय। (वही)।
४. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७.
५. तत्त्वया. १.
६. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७.
७. तत्त्वया. १.
८. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७, सां. प्र. भा २/१८.

है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अहङ्कार का यह भेद कार्यभेद की ही दृष्टि से किया है। इससे अहङ्कार के अपने वास्तविक स्वरूप अथवा रचना में किसी प्रकार के भेद की सम्भावना नहीं की जा सकती। उनके अनुसार इन तीनों प्रकार के अहङ्कार में सङ्कल्पपूर्वक एकादश इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। किन्तु इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति में कार्यकारणभाव नहीं है इसलिए इनकी उत्पत्ति में क्रम नहीं है।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु से पूर्व सांख्य-दर्शन की परम्परा में सात्त्विक अथवा वैकारिक अहङ्कार से मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों की तथा भूतादि अर्थात् तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति मानी गयी है एवं राजस अहङ्कार को दोनों की उत्पत्ति में सहायक माना गया है। सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों ने इस मत को स्वीकार किया है। अनिरुद्ध का मत है कि सांख्यसूत्र (२/१८) में इसी मत को स्वीकार किया गया है।[3] किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यसूत्रों में केवल मन को ही वैकृत अहङ्कार से उत्पन्न माना गया है तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियों एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति राजस अहङ्कार से मानी गयी है।[4] पुराणों में इन्द्रियों को तैजस माना गया है।[5] अपने मत की पुष्टि के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भागवतपुराण को उद्धृत किया है—

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥ (भाग०पु० ३/५/३०–३१)।

विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यकारिका में भी भागवतपुराण के ही मत को स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के इस सिद्धान्त की पुराणसम्मत व्याख्या की है। उनके पश्चात् अनिरुद्धवृत्ति के टीकाकार महादेव वेदान्ती[6] ने भी आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत का ही अनुकरण किया है। अतः विज्ञानभिक्षु समस्त इन्द्रियों को आहङ्कारिक मानते हुए भी केवल मन को ही सात्त्विक

---

१. तत्त्वया. १. २. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०७–३०८.
३. अनि. २/१८. ४. सां. प्र. भा. २/१८. ५. कूर्मपु. १/४/२२.
६. सां. सू. वृ. सा. २/१८.

अहङ्कार से उत्पन्न मानते हैं। उन्होंने सांख्यसूत्र (२/१८) के अपने भाष्य में पचीसवीं सांख्यकारिका को भी पौराणिक मत के अनुकूल मानकर ही उद्धृत किया है। उन्होंने पचीसवीं कारिका के 'तैजसादुभयम्' पद का अर्थ राजस अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय, दोनों की उत्पत्ति माना है। इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका की पुराणसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है।

एकादश इन्द्रियाँ

पं० उदयवीर शास्त्री ने अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अहङ्कार तत्त्व में जब रजस् का कुछ आधिक्य होता है तब जो विकार की स्थिति होती है, वह मन है। मन की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त उपादान सामग्री में जब रजस् अंश और अधिक हो जाता है तब ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। ज्ञानेन्द्रियों की उपादान-सामग्री में रजस् का आधिक्य होने से ही इन्हें तैजस अर्थात् राजस कहा जाता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय उपादान-सामग्री में तामस अंश अधिक तथा सत्त्वांश न्यून हो जाता है किन्तु रजस् तत्त्व उतना ही रहता है इसलिए इनकी कारण-सामग्री तैजस में कोई अन्तर नहीं आता। तामस अंश की अधिकता तथा सत्त्वांश की न्यूनता के कारण कर्मेन्द्रियों में ज्ञानसाधनता नहीं होती प्रत्युत ये इन्द्रियाँ क्रियाप्रधान ही होती हैं। इन्द्रियों की यह सृष्टि भी सात्त्विक ही है क्योंकि अन्य अंशों की अपेक्षा कारण-सामग्री में सत्त्वांश अब भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति तक, अध्यात्म-सृष्टि पूरी हो जाती है। इस सृष्टि के सत्त्वप्रधान होने तथा पुरुष के समीप रहकर उसके भोगापवर्ग को निष्पन्न कराने के कारण 'अध्यात्म' संज्ञा प्रदान की गयी है।[1]

श्री उदयवीर शास्त्री[2] ने विज्ञानभिक्षु द्वारा निरूपित इन्द्रियों के उत्पत्ति-क्रम को स्वीकार किया है। किन्तु प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र ने सांख्यकारिका के मत को ही स्वीकार किया है तथा बाह्येन्द्रियों के राजस अहङ्कार से उत्पन्न होने के मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार विज्ञानभिक्षु ने पचीसवीं कारिका का जो अर्थ किया है वह सांख्यमत के प्रतिकूल है। उनका मत है कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से होती है। इस

---

१. सां. सिद्धा., पृष्ठ २५७. २. वही।

मत पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं तो कर्मेन्द्रियाँ भी मन तथा ज्ञानेन्द्रियों की भाँति विषय का प्रकाशन क्यों नहीं करती हैं? इस प्रकार की शङ्का तो विज्ञानभिक्षु के मत के भी विरुद्ध उठायी जा सकती है कि यदि केवल मन ही सात्त्विक है तो ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन क्यों करती हैं? प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र पहले मत के विरुद्ध शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं कि उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम सत्त्वप्रधान अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, ज्ञानेन्द्रियाँ मन की अपेक्षा न्यून रूप में विषय का प्रकाशन करती हैं और कर्मेन्द्रियाँ तो विषय का प्रकाशन करती ही नहीं तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं। किन्तु द्वितीय मत अर्थात् विज्ञानभिक्षु के मत के विरुद्ध उठी शङ्का का उनके अनुसार समाधान नहीं दिखायी देता।[1]

प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र ने जिस आधार पर प्रथम मत के पक्ष में समाधान प्रस्तुत किया है, उसी आधार पर द्वितीय मत के विरुद्ध उठी शङ्का का समाधान किया जा सकता है। सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न न होते हुए भी ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन करने में इसलिए समर्थ होती हैं क्योंकि उनमें तामस अंश उतना ही रहता है जितना मन में रहता है, केवल तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार की मात्रा ही अधिक रहती है, इसलिए उन्हें तैजस अहङ्कार से उत्पन्न मानते हैं। ज्ञानेन्द्रियों में सात्त्विक अंश मन के तुल्य ही होता है इसलिए वे विषय का प्रकाशन तो करती हैं किन्तु रजस् अंश की अधिकता के कारण मन की अपेक्षाकृत न्यून रूप में करती हैं। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय तमस अंश की अधिकता हो जाती है, सत्त्वांश न्यून हो जाता है इसलिए वे विषय का प्रकाशन नहीं करतीं तथापि उनमें सत्त्वांश पर्याप्त मात्रा में होने के कारण वे लघु होती हैं और इसलिए वे क्षिप्रकारिणी भी होती हैं।

सांख्य-दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति आहङ्कारिक मानी गयी है। न्याय-दर्शन[2] तथा अद्वैत-वेदान्त-दर्शन[3] में इन्द्रियों को भौतिक स्वीकार किया है किन्तु रामानुजाचार्य के दर्शन में सांख्य की ही भाँति इन्द्रियों को आहङ्कारिक माना गया है।[4] पुराणों में कहीं इन्द्रियों को आहङ्कारिक तथा कहीं भौतिक

---

१. सां. ऐ. प., पृष्ठ ३३५. सां. तत्त्वकौ. प्रभा, पृष्ठ ५८-५९.

२. न्यायसूत्र १/१/१२. ३. वेदान्तसार, पृष्ठ ४–५. ४. यतीन्द्र., पृष्ठ ३७.

माना गया है। इन्द्रियों का भौतिकत्व सांख्य-दर्शन के कुछ सम्प्रदायों को भी मान्य था। पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं।[1] सुवर्णसप्ततिशास्त्र में कहीं (२०, २२, २४–२५, ३६) इन्द्रियों को आहङ्कारिक तथा कहीं (८, १०, १५, ५६) भौतिक स्वीकार करते हुए उनकी उत्पत्ति पञ्च-तन्मात्राओं से बतायी गयी है।[2] किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इन्द्रियों को आहङ्कारिक ही माना है और उनके भौतिक होने का खण्डन किया है। उनके अनुसार इन्द्रियों को आहङ्कारिक ही मानना चाहिए क्योंकि श्रुति में भी इनकी उत्पत्ति अहङ्कार से स्वीकार की गयी है। उनका मत है कि यद्यपि इन्द्रियों को आहङ्कारिक बताने वाली श्रुति लुप्त हो गयी है तथापि महर्षि कपिल तथा मनु आदि की स्मृतियों से उस श्रुति का अनुमान कर लिया जाता है। 'मैं बहुत हो जाऊँ' (छान्दो० उप० ६/२/३, तैत्ति० उप० २/६) आदि श्रुतियाँ तो उपलब्ध ही हैं। जिन श्रुतियों में इन्द्रियों को भौतिक कहा गया है, वे गौण श्रुतियाँ हैं। वस्तुतः इन्द्रियों को आहङ्कारिक बतानेवाली श्रुतियाँ ही मुख्य हैं।[3]

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों का लक्षण 'जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान-कारण हो वह इन्द्रिय है'[4]—किया है। भावागणेश ने 'अन्य तत्त्व को न उत्पन्न करनेवाली, तथा जिसका उपादान-कारण अहङ्कार है, वह इन्द्रिय है'[5] एवं 'अहङ्काररूप उपादान-कारण वाली होने के साथ ही शरीर से संयुक्त, क्रिया का करण इन्द्रिय है'[6]—ये लक्षण दिये हैं। उनके अनुसार 'इन्द्रियाणि, करणानि, निपातनानि, वैकारिकाणि, तैजसानि' आदि इन्द्रियों के पर्याय हैं।[7] इन्द्रिय शब्द का औचित्य बताते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि इन्द्रियाँ 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा की लिङ्ग (ज्ञापक) होने के कारण इन्द्रिय कहलाती हैं।[8] विन्ध्यवासी इन्द्रियों को विभु मानते हैं।[9] युक्तिदीपिका में ही कतिपय सांख्याचार्यों के द्वारा इन्द्रियों के परिच्छिन्न परिमाण माने जाने का उल्लेख मिलता है।[10]

मन

विज्ञानभिक्षु के अनुसार इन्द्रियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इन्द्रिय मन है जो सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है।[11] यह उभयेन्द्रिय[12] अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय-

---

१. भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम्। (युक्ति. २२)। २. सुवर्ण. ८.
३. सां. प्र. भा. २/२०. ४. तत्त्वकौ. २६. ५. तत्त्वया. २. ६. वही।
७. वही। ८. तत्त्वकौ. २६. ९. युक्ति. २२. १०. वही।
११. मनः षोडशात्मगणमध्ये सात्त्विकम्। (सां. प्र. भा. २/१८)। १२. वही २/२६.

कर्मेन्द्रियात्मक है[1] और दोनों प्रकार की इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रेरित करता है। मन का संकल्परूप व्यापार उसे सजातीय एवं विजातीय पदार्थों से पृथक् करने के कारण उसका वास्तविक लक्षण है। न्याय-दर्शन में मन को नित्य, निरवयव तथा अणु परिमाण माना गया है। किन्तु सांख्य-दर्शन में मन अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी सावयव है अतः एक ही साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। यह इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त करने तथा कार्य करने में सक्रिय रूप से सहायता करता है। मन ही ज्ञान का आधार है तथा ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने का माध्यम है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान निर्विकल्प होता है, मन ही उसे सविकल्प बनाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु मन को व्यापक या विभु नहीं मानते हैं क्योंकि यह करण अर्थात् इन्द्रिय है। उनके अनुसार मन परिच्छिन्न परिमाण है क्योंकि उसके उदय-व्यययुक्त धर्म हैं।[2] डॉ॰ रामशंकर भट्टाचार्य का मत है कि विज्ञानभिक्षु मन का दैशिक अवयव नहीं मानते किन्तु कालिक अवयव स्वीकार करते हैं।[3] मन के विभु न होने में एक अन्य तर्क देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि मन क्रियायुक्त है तथा इसकी गति का उल्लेख श्रुतियों में पाया जाता है अतः मन विभु नहीं है।[4] मन निरवयव नहीं है क्योंकि उसका अनेक इन्द्रियों के साथ एक साथ संयोग होता है। वह मध्यम परिमाण का सावयव पदार्थ है।[5]

ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ

चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।[6] चक्षु का विषय रूप, श्रोत्र का शब्द, त्वक् का स्पर्श, जिह्वा का रस तथा घ्राण का विषय गन्ध है। इसी प्रकार वाक् का कार्य ध्वन्युत्पादन; पाणि का शिल्प अर्थात् बाह्य द्रव्य का यथेच्छ ग्रहण, स्थापन आदि; पाद का गमनागमन; पायु का मलोत्सर्ग एवं उपस्थ का प्रजनन है।[7] ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का बाह्य साधन हैं। पहले इन्द्रियों का अपने विषय से सम्बन्ध होता है, इसके पश्चात् आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं और तब हमें ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत विषय का मनन मन से, अभिमान अहङ्कार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। किन्तु वाणी आदि

---

१. सां. प्र. भा. २/२६. २. वही ५/६९. ३. सांख्यसूत्रम्, पृष्ठ २१५.
४. सां. प्र. भा. ५/७०. ५. वही ५/७१. ६. वही २/१९.
७. वही २/२८.

कर्मेन्द्रियों का कार्य करने का ढङ्ग ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न है। जिस क्रिया को करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार अथवा वासना किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृतिरूप में उठ आती है और मन उस भावी क्रिया के सम्बन्ध में सङ्कल्प-विकल्प करता है, अहङ्कार अभिमान तथा बुद्धि निश्चय करती है। निश्चय के पश्चात् चेतन आत्मा की प्रेरणा से वह कर्मेन्द्रिय क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की कार्यप्रणाली में यही अन्तर है। प्रायः सांख्य-दार्शनिकों ने इन्द्रियों को परिच्छिन्न परिमाण माना है किन्तु विन्ध्यवासी इन्द्रियों को विभु परिमाण मानते हैं।[1] अनिरुद्ध इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्ति को क्रमिक तथा अक्रमिक स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध के मत का खण्डन किया है। उनका मत है कि सूत्र (सां० सूत्र २/३२) में इन्द्रियों की क्रमिक तथा अक्रमिक वृत्ति का वर्णन है, अन्तःकरण की वृत्ति का नहीं।[3]

पञ्चतन्मात्र

भूतादि अर्थात् तामस अहङ्कार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति में कोई पौर्वापर्य का क्रम नहीं है क्योंकि इनमें परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है।[4] विन्ध्यवासी महत्तत्त्व से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[5] किन्तु अन्य सभी सांख्य-दार्शनिकों ने अहङ्कार से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार की है। जब अहङ्कार में सत्त्व अंश अत्यन्त न्यून हो जाता है तथा तमस् का आधिक्य होता है तब तन्मात्ररूप अधिभूत सृष्टि होती है। यह सृष्टि भी इन्द्रियग्राह्य नहीं होती अतः व्यवहार की दृष्टि से तन्मात्रों को सूक्ष्मभूत कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के भेद से तन्मात्र पञ्चविध है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पूर्वपक्ष के द्वारा यह स्वाभाविक शङ्का उठायी है कि तन्मात्र के कारण द्रव्य में तो रूप आदि का अभाव होता है तब तन्मात्रों में रूप आदि धर्म कहाँ से आ जाते हैं? इस शङ्का का समाधान करते हुए वे कहते हैं कि कारण-द्रव्यों का न्यूनाधिक भाव से संयोग ही तन्मात्रों में रूप आदि का कारण है। अपने इस मत को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं जिस प्रकार हल्दी और चन्दन दोनों में अलग-अलग लालिमा नहीं होती किन्तु दोनों के संयोगविशेष से उनमें लालिमा उत्पन्न हो

---

१. युक्ति. २२.　　२. अनि. २/३२.　　३. सां. प्र. भा. २/३२.
४. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०८.　　५. युक्ति. २२.

जाती है उसी प्रकार तन्मात्रों के कारण-द्रव्य में रूप आदि न होनेपर भी कारण-द्रव्यों के विशेष संयोग तन्मात्रों में रूप आदि धर्म आ जाते हैं। इस सन्दर्भ में वे वैशेषिकों के परमाणुओं में रूप आदि धर्म मानने के मत को हेय मानते हैं। उनका मत है कि सजातीय कारण-गुणों से ही कार्य-गुणों का आरम्भ होता है यह तो वैशेषिकों का भी सिद्धान्त नहीं है क्योंकि वे भी त्रसरेणुओं में महत् परिमाण का कारण अवयव-बहुत्वरूपी संयोग ही मानते हैं और इस प्रकार वे भी हमारे मत (सांख्यमत) को स्वीकार कर लेते हैं।[1]

सामान्यतया सांख्य-दर्शन में पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति में क्रम नहीं माना गया है किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति में क्रम स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि अहङ्कार से शब्दतन्मात्र की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् अहङ्कार के साथ शब्दतन्मात्र से स्पर्शतन्मात्र की उत्पत्ति होती है जिसके शब्द तथा स्पर्श गुण हैं। इसी प्रकार एक-एक गुण की वृद्धि से अन्य तन्मात्रों की भी उत्पत्ति होती है। विज्ञानभिक्षु अपने इस मत की पुष्टि में व्यासभाष्य (२/१९) का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।[2] योगभाष्य में तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम स्वीकार किया गया है।[3] विष्णुपुराण (१/२/३७–४३) में भी तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम मिलता है। इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने तन्मात्रों की उत्पत्ति में पौर्वापर्य क्रम वर्णित किया है। ये तन्मात्र शान्त, घोर तथा मूढ धर्मों से रहित तथा अविशेष हैं। योगभाष्य में पञ्चतन्मात्रों के अतिरिक्त अहङ्कार को भी अविशेष कहा गया है। इस प्रकार भाष्यकार व्यास ने छः अविशेष माने हैं।[4] तन्मात्रों के शान्त, घोर, मूढ तथा अविशेष होने के मत के समर्थन में विज्ञानभिक्षु ने विष्णुपुराण (१/२/४३) को उद्धृत किया है।[5] उनका मत है कि तन्मात्र देवता आदि के लिए ही भोग्य हैं, इसलिए वे सुखात्मक ही हैं।[6]

अविशेष सूक्ष्म तन्मात्रों से सविशेष एवं स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है।[7] शब्दतन्मात्र से शब्द गुणवाला आकाश, शब्दतन्मात्र से युक्त स्पर्श-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श गुणोंवाला वायु, शब्द और स्पर्श तन्मात्रों से युक्त रूप-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंवाला तैजस् शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणोंवाला अप् तथा शब्द, स्पर्श, रूप

---

१. सां. प्र. भा. १/६२. २. वही। ३. योगभा. २/१९. ४. वही।
५. सां. प्र. भा. १/६२. ६. वही। ७. वही ३/१.

और रस तन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणोंवाली पृथिवी उत्पन्न होती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार उनके द्वारा निरूपित महाभूतों की उत्पत्ति का यह क्रम विष्णुपुराण (१/२/३७–४३) तथा कूर्मपुराण (१/४/२४–३२) में भी मिलता है तथा उन्होंने विष्णुपुराण तथा कूर्मपुराण को उद्धृत भी किया है।[१]

त्रयोदश करण

अध्यात्म-सृष्टि के बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय इन तेरह तत्त्वों को त्रयोदश करण कहते हैं। त्रयोदश करणों में बुद्धि, अहङ्कार तथा मन अन्तःकरण और पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय दस बाह्य करण हैं।[२] बाह्य करण अपने-अपने विषय से सम्बद्ध होकर तद्विषयक ज्ञान मन को समर्पित करते हैं। मन बाह्य करणों से गृहीत समस्त विषयों के सम्बन्ध में अपनी सङ्कल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को प्रस्तुत करता है। मन उस विषय को अहङ्कार को समर्पित करता है, अहङ्कार उनका अभिमान करता है तत्पश्चात् वह बुद्धि को समर्पित करता है और बुद्धि उसका निश्चय करती है। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति में इन तेरह तत्त्वों का योगदान होता है, इसलिए इन्हें 'करण' अर्थात् साधन कहा गया है। सांख्यसूत्रों[3] तथा सांख्यकारिका[४] में तेरह करण स्वीकार किये गये हैं किन्तु अन्य विचारधाराओं के पोषक अनेक सांख्याचार्यों में करणों की संख्या के विषय में विभिन्न मत हैं। वार्षगण्य[५] तथा विन्ध्यवासी[६] ग्यारह करण स्वीकार करते हैं। उदयवीर शास्त्री का मत है कि वार्षगण्य मन में ही महत् तथा अहङ्कार का अन्तर्भाव कर लेते हैं।[७] विन्ध्यवासी भी मन में बुद्धि और अहङ्कार का अन्तर्भाव करते हैं। उनका मत है कि मन में सभी अर्थों की उपलब्धि हो जाती है। उनके अनुसार सङ्कल्प, अभिमान और अध्यवसाय भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ नहीं हैं अपितु वे अभिन्न हैं अतः अन्तःकरण एक ही है।[८] पञ्चाधिकरण आदि तान्त्रिक दस बाह्य करण ही स्वीकार करते हैं।[९] उनका मत है कि ज्ञानवृत्ति में अन्तःकरणों का विशेष उपयोग नहीं है। वे तो शून्य ग्राम या शुष्क नदी के समान हैं। उनमें ज्ञान का उपनिपात प्रधान से प्राप्त होता

---

१. सां. प्र. भा. १/६२.
२. सांख्यका. ३२–३३.
३. करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्। (सां. सूत्र २/३८)।
४. सांख्यका. ३२.
५. एकादशविधमिति वार्षगणाः। (युक्ति. ३२ अव.)।
६. वही २२.
७. सां. सिद्धा., पृष्ठ २६४.
८. युक्ति. २२.
९. वही ३२ अव.

है, कदाचित् प्रधान से आगत शक्तिविशेष का यह कार्य है। करणों में ज्ञान-वृत्ति के उस उपनिपात में प्रेरक ज्ञानांश सहयोग देता है।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रेरक ज्ञानांश से उनका अभिप्राय आत्मा की प्रेरणा से प्रतीत होता है। ज्ञान-वृत्ति में बाह्य करणों का इतना उपयोग माना जा सकता है कि उनके द्वारा बाह्य विषय के साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है। अन्तःकरण का तो इतना भी उपयोग नहीं है। इसलिए सम्भवतः ज्ञानवृत्ति में अन्तःकरण की उपयोगिता को पञ्चाधिकरण ने स्वीकार नहीं किया और केवल दस बाह्य करणों को ही माना। सांख्याचार्य पतञ्जलि करणों की संख्या बारह स्वीकार करते हैं।[2] आचार्य वार्षगण्य करणों की स्वभावातिवृत्ति अधिकांश रूप से प्रधान के लिए तथा स्वल्प रूप से अपने लिए मानते हैं।[3] इस सन्दर्भ में सांख्याचार्य पतञ्जलि तथा पञ्चाधिकरण का मत उनसे भिन्न है। आचार्य पतञ्जलि करणों की स्वभावातिवृत्ति सर्वथा स्वतः मानते हैं।[4] किन्तु पञ्चाधिकरण करणों की स्वभावातिवृत्ति परतः अर्थात् अपने से भिन्न किसी बाह्य वस्तु के कारण होना मानते हैं।[5]

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि अन्तःकरण एक ही है उसे वृत्तिभेद से ही विविध माना गया है। उनका मत है कि यदि अन्तःकरण को एक नहीं माना जायेगा तो अध्यवसाय आदि वृत्तियों की भाँति ही भ्रम, संशय, निद्रा, क्रोध आदि वृत्तियों के लिए असंख्य अन्तःकरण स्वीकार करने पड़ेंगे। तीन अन्तःकरण मानने के मत का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार बाँस में उसकी गाँठें बाँस के अवान्तर भेद हैं उसी प्रकार अवान्तर भेद का आश्रय लेकर ही तीन अन्तःकरण कहे गये हैं।[6] आचार्य विज्ञानभिक्षु केवल बुद्धि को ही मुख्य करण मानते हैं।[7] उनका मत है कि अन्तःकरण के एक होने के कारण ही अहङ्कार को गौण करण नहीं कहा गया है।[8] त्रयोदश करण मानने के मत का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि इन्द्रियों के भी पुरुषार्थ में साधक होने के कारण बुद्धि का पुरुषार्थ साधकतम-स्वरूप करणत्वापादक गुण परम्परया उनमें भी आ जाता है, इसलिए इन्द्रियों को भी करण कहा जाता है।[9] अन्तःकरण तथा बाह्यकरण में विज्ञानभिक्षु बुद्धि को ही प्रधान या साक्षात् करण मानते हैं क्योंकि बुद्धि ही पुरुष में अर्थ को

---

१. युक्ति. २२. २. युक्ति. ३२ अव. ३. वही २२. ४. वही। ५. वही।
६. सां. प्र. भा. १/६४. ७. वही २/३८. ८. वही २/३९. ९. वही।

समर्पित करती है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि बुद्धि के प्रधान कारण होने के मत की सिद्धि के लिए सांख्यसूत्रों में तीन तर्क दिये गये हैं।[2] सांख्य-सूत्र (२/४१) में अव्यभिचारिता के आधार पर बुद्धि के प्रधान करण होने का प्रतिपादन है। बुद्धि की अव्यभिचारिता आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार सभी करणों के व्यापार में बुद्धि की व्यापकता तथा सभी करणों के व्यापार का बुद्धि में पर्यवसान ही है।[3] सांख्यसूत्र (२/४२) के अनुसार सभी संस्कारों का आधार होने से भी बुद्धि के सर्वप्रधान होने की सिद्धि होती है।[4] इसी प्रकार सांख्यसूत्र २/४३ के अनुसार स्मृति अर्थात् चिन्तनरूपवृत्ति से भी बुद्धि की प्रधानता का अनुमान होता है। ध्यान कही जानेवाली चिन्ता वृत्ति सभी वृत्तियों में श्रेष्ठ है। उसका आश्रय होने से ही चिन्ता अपर नामवाली बुद्धि अन्य करणों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[5]

त्रयोदश करणों का कार्य आहरण, धारण तथा प्रकाशन के भेद से त्रिविध स्वीकार किया गया है।[6] आहरण, धारण तथा प्रकाशन कौन किसका कार्य है, इस विषय में सांख्यकारिका के टीकाकारों में परस्पर मतभेद है। सुवर्णसप्ततिकार आहरण को अन्तःकरण का, प्रकाशन को ज्ञानेन्द्रियों का तथा धारण को कर्मेन्द्रियों का कार्य स्वीकार करते हैं।[7] माठर आहरण को इन्द्रियों का कार्य, धारण को अभिमान का कार्य तथा प्रकाशन को बुद्धि का कार्य मानते हैं।[8] युक्तिदीपिकाकार आहरण को कर्मेन्द्रियों का, धारण को बुद्धीन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) का तथा प्रकाशन को अन्तःकरण का कार्य स्वीकार करते हैं। किन्तु युक्ति-दीपिकाकार ने ही 'अपर आह' कहकर एक अन्य मत दिया है—आहरण कर्मेन्द्रियों का, धारण मन और अहङ्कार का तथा प्रकाशन बुद्धि तथा बुद्धीन्द्रियों का कार्य है।[9] गौडपाद आहरण और धारण कर्मेन्द्रियों का तथा प्रकाशन बुद्धीन्द्रियों का कार्य स्वीकार करते हैं।[10] जयमङ्गलाकार के अनुसार आहरण कर्मेन्द्रियों का, धारण, बुद्धि, अहङ्कार तथा मन का और प्रकाशन बुद्धीन्द्रियों का कार्य है।[11] तत्त्वकौमुदीकार[12] तथा सांख्यचन्द्रिकाकार[13] ने जयमङ्गला के मत को ही स्वीकार किया है।

----

१. सां. प्र. भा. २/४०. २. वही २/४१ अव. ३. वही। ४. वही २/४२.
५. वही २/४३. ६. सांख्यका. ३२. ७. सुवर्ण. ३२. ८. माठ. ३२.
९. युक्ति. ३२. १०. गौड. ३२. ११. जयम. ३२. 12. तत्त्वकौ. ३२.
१३. सांख्यच. ३२.

इन तेरह करणों के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य कार्य दस-दस प्रकार के हैं।[1] सुवर्णसप्ततिशास्त्र,[2] माठरवृत्ति,[3] गौडपादभाष्य[4] तथा जयमङ्गला[5] में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध एवं वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द को कार्य कहा गया है। किन्तु जयमङ्गला में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को सूक्ष्म सुखात्मक तन्मात्रों तथा स्थूल सुखदुःखमोहात्मक आकाश आदि के भेद से द्विविध बताया गया है और इन दोनों भेदों को क्रमशः दिव्य और अदिव्य कहा गया है।[6] युक्तिदीपिकाकार पाँच विशेष और पाँच अविशेष के भेद से दस प्रकार के कार्य मानते हैं।[7] आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आहार्य का अर्थ व्याप्य माना है। वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग एवं आनन्द—इन कार्यों में व्याप्त रहती है। ये कार्य दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दस प्रकार के हैं। इसी प्रकार त्रिविध अन्तःकरण का प्राण इत्यादि अपने पाँचों व्यापारों के द्वारा धारण करने योग्य कार्य शरीर है। यह शरीर पृथ्वी इत्यादि पाँच भूतों से निर्मित है। भूतों में पृथ्वी, शब्द, स्पर्श आदि पञ्चतन्मात्रों का समूह है। ये भी दिव्य और अदिव्य के भेद से दशविध हैं। इसी प्रकार धार्य भी दस प्रकार के हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पाँच प्रकाश्य विषय ज्ञानेन्द्रियों से व्याप्त होते हैं और ये भी दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दशविध हैं।[8] नारायणतीर्थ ने भी वाचस्पति मिश्र के ही मत को स्वीकार किया है।[9]

अन्तःकरण में होनेवाला ज्ञान बाह्यकरणों के माध्यम से ही होता है। बाह्यकरण ही अन्तःकरण के विषयों को प्रस्तुत करते हैं और विषयों के सम्बन्ध में होनेवाले सङ्कल्प, अभिमान और निश्चय में द्वार या साधन बनते हैं। अन्तःकरण के कार्य में ज्ञानेन्द्रियाँ आलोचन द्वारा तथा कर्मेन्द्रियाँ यथायोग्य व्यापारों के द्वारा सहायक होती हैं। बाह्येन्द्रियों से केवल वर्तमानकाल का ही ज्ञान होता है किन्तु अन्तःकरण से भूत, वर्तमान और भविष्य का भी ज्ञान होता है।[10] तीनों अन्तःकरणों में बुद्धि की असाधारणवृत्ति अध्यवसाय, अहङ्कार की अभिमान तथा मन की सङ्कल्प है।[11] प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के भेद से पाँच प्रकार की मानी जानेवाली वायु को धारण करना अन्तःकरण की सामान्य अर्थात् साधारण वृत्ति है।[12] इनमें 'प्राण' नामक वायु नासिका के

---

१. सांख्यका. ३२. २. सुवर्ण. ३२. ३. माठ. ३२. ४. गौड. ३२.
५. जयम. ३२. ६. वही। ७. युक्ति. ३२. ८. तत्त्वकौ. ३२.
९. सांख्यच. ३२. १०. सांख्यका. ३३. ११. सां.प्र.भा. २/३०. १२. वही २/३१.

अग्रभाग, हृदय, नाभि, पाद तथा अङ्गुष्ठ में, 'अपानवायु' गलघण्ट, पीठ, पाद, मलत्यागेन्द्रिय, मूत्रत्यागेन्द्रिय एवं पार्श्वों (बगलों) में, 'उदान वायु' हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा तथा भौंहों के मध्य भाग में, 'व्यान वायु' त्वचा में रहती है।[1] ये प्राण आदि पाँच वायु भी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की भाँति अध्यात्मभूत हैं।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का प्राण आदि वायु के सम्बन्ध में प्रचलित मत के साथ मतभेद है। सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों तथा वृत्तिकार अनिरुद्ध ने मूल के 'प्राणाद्या वायवः पञ्च'[2] कथन को गौण या लाक्षणिक न मानकर मुख्य ही माना है। उनकी व्याख्याओं से स्पष्ट है कि वे प्राण को वास्तविक रूप से वायु मानते हैं। किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार पञ्चप्राण वस्तुतः वायु नहीं हैं अपितु वायु की ही भाँति सञ्चार करने एवं वायु देवता से अधिष्ठित होने के कारण वायु संज्ञा से व्यवहृत होते हैं।[3] विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य (सां०प्र० भा० २/३१) में पञ्चप्राण के वास्तविक रूप में वायु माने जाने का खण्डन किया है तथा अपने मत के समर्थन में ब्रह्मसूत्र (२/४/६) तथा मुण्डकोपनिषद् (२/१/३) को उद्धृत किया है। विज्ञानभिक्षु के परवर्ती व्याख्याकार महादेव वेदान्ती,[4] भावागणेश[5] तथा बालराम उदासीन[6] ने भी उनके मत का समर्थन किया है।

इन बाह्यकरणों में ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के विषयों में प्रवृत्त होती हैं किन्तु कर्मेन्द्रियाँ केवल स्थूल विषयों में ही प्रवृत्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों के विषय में स्थूल का तात्पर्य पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में अभिव्यक्त सुख-दुःख मोह से है और सूक्ष्म से अभिप्राय शब्द आदि तन्मात्र से है। ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों विषयों में होने के कारण उन्हें विशेषाविशेषविषयक कहा जाता है। कर्मेन्द्रियों में वाक् इन्द्रिय केवल स्थूल शब्द के विषय में ही प्रवृत्त होती है, शेष चारों कर्मेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, आदि पाँचों विषयों में प्रवृत्त होती हैं।[7]

करणों की प्रवृत्ति क्रमशः होती है अथवा युगपत् इस विषय में सांख्य-दार्शनिकों का परस्पर मतभेद है। सांख्यसूत्रों में अन्तःकरण की प्रवृत्ति का

---

१. तत्त्वकौ. २९. २. सांख्यका. २९, सां. सूत्र २/३१. ३. सां. प्र. भा. २/३१.
४. सां. सू. वृ. सा. २/३१. ५. तत्त्वया. १२. ६. विद्वत्तो. २९.
७. तत्त्वकौ. ३४.

वर्णन नहीं है किन्तु इन्द्रियों की वृत्ति क्रमशः तथा युगपत् दोनों स्वीकार की गयी है।[1] अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्र (२/३२) में करणों की वृत्ति स्वीकार की है। सांख्यकारिका के टीकाकार सुवर्णसप्ततिकार[2] जयमङ्गलाकार,[3] वाचस्पति मिश्र[4] तथा बालराम उदासीन[5] ने दृष्ट तथा अदृष्ट सभी विषयों में करणों की वृत्ति क्रमशः तथा युगपत् स्वीकार की है। किन्तु माठर,[6] युक्तिदीपिकाकार[7] एवं अनिरुद्ध[8] दृष्ट तथा अदृष्ट सभी स्थलों पर करणों की प्रवृत्ति क्रमशः ही स्वीकार करते हैं, भले ही कहीं-कहीं करणों की क्रमशः प्रवृत्ति का अनुभव न हो। गौडपाद दृष्ट में क्रमिक तथा अक्रमिक एवं अदृष्ट (अतीत और अनागत विषयों) में केवल क्रमिक वृत्ति ही स्वीकार करते हैं।[9] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यसूत्र (२/३२) में अन्तःकरण की प्रवृत्ति का वर्णन नहीं है। इस सूत्र में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को क्रमिक तथा युगपत् दोनों ही स्वीकार किया गया है।[10]

प्रधान की प्रवृत्ति की ही भाँति करणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही होती है। इन करणों की प्रवृत्ति पुरुष के अदृष्ट के अनुसार होती है।[11] यद्यपि पुरुषार्थ सिद्धि में वास्तविक करण बुद्धि है तथापि 'पुरुषार्थसिद्धि का साधकतम होना' परम्परया इन्द्रियों पर भी लागू होता है, अतः वे भी करण हैं। जिस प्रकार संसार में राजा के अनेक भृत्यों में एक भृत्य प्रधान होता है उसी प्रकार बाह्यकरणों तथा अन्तःकरणों में बुद्धि प्रधान है।[12] पुरुषार्थसिद्धि में सभी करणों का करणत्व रूप में समान योग होनेपर भी बुद्धि का ही प्राधान्य रहता है क्योंकि प्रकृति-पुरुष का विवेकरूप पुरुषार्थ बुद्धि में ही सम्पादित होता है।[13]

सूक्ष्म शरीर

सांख्य-दर्शन में पुरुष के प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए सामान्यतः त्रयोदशकरण तथा पञ्चतन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर के रूप में वर्णित किया गया है। सूक्ष्म शरीर हेतुमान् होता है और अन्ततः अपने हेतु या लिङ्ग में लीन हो जाता है। इसलिए उसकी लिङ्ग संज्ञा अन्वर्थ

---

१. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः (सां. सूत्र २/३२)। २. सुवर्ण. ३०.
३. जयम. ३०. ४. तत्त्वकौ. ३०. ५. विद्वत्तो. ३०. ६. माठ. ३०.
७. श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य...वृत्तिः... क्रमशः एव। (युक्ति. ३०)। ८. अनि. २/३२.
९. गौड. ३०. १०. सां. प्र. भा. २/३२. ११. वही २/३६.
१२. वही २/४०. १३. वही २/४७,

है।[1] सांख्य-दर्शन में सूक्ष्म शरीर से संयोग ही पुरुष का जन्म तथा उससे वियोग ही उसका मरण माना गया है।[2] किन्तु लिङ्गशरीर को कितने तत्त्वों से घटित माना जाय इसमें सांख्यदार्शनिकों में मतभेद है। सुवर्णसप्ततिकार बुद्धि, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र इन सात तत्त्वों को ही सूक्ष्म-शरीर का घटक स्वीकार करते हैं।[3] गौडपाद इन सात तत्त्वों में मन को जोड़कर आठ तत्त्व मानते हैं।[4] विज्ञानभिक्षु[5] तथा उनके शिष्य भावागणेश[6] सूक्ष्म-शरीर को बुद्धि, मन पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं पञ्चतन्मात्र--इन सत्रह तत्त्वों से घटित स्वीकार करते हैं तथा अहङ्कार का अतर्भाव बुद्धि में ही कर लेते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए विज्ञानभिक्षु महाभारत (१४/३५१/१५--१६) को उद्धृत करते हैं। रुद्रिल विन्ध्यवासी सूक्ष्म-शरीर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। उनका ऐसा मानने का कारण यह है कि वे इन्द्रियों को विभु स्वीकार करते हैं। विभु इन्द्रियों का बीज देश (विभिन्न योनियों के अनुसार विरोधी लिङ्गों का प्रजननात्मक सहयोग जहाँ से स्थूल-शरीर की रचना प्रारम्भ हो जाती है) अर्थात् नवीन शरीर में व्यापार (कार्य) प्रारम्भ करना जन्म और शरीर में व्यापार समाप्त करना मरण है। इसलिए वे एक शरीर से दूसरे शरीर तक संसरण के लिए सूक्ष्म-शरीर की आवश्यकता नहीं मानते।[7] श्लोकवार्तिक में उद्धृत विन्ध्यवासी के मत में भी उनके द्वारा अन्तराभव देह के निषेध का स्पष्ट उल्लेख है।[8]

सांख्य-दर्शन में प्रत्येक पुरुष का आदि सर्गकाल से ही एक-एक सूक्ष्म-शरीर से सम्पर्क स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अनन्त पुरुषों के लिए आदि सर्गकाल में अनन्त सूक्ष्म-शरीरों की रचना हो जाती है। प्रत्येक पुरुष का एक-एक सूक्ष्म-शरीर के साथ सम्बन्ध नियत है। यह सूक्ष्म-शरीर सर्ग के आदि में उत्पन्न होकर प्रलयपर्यन्त बना रहता है और इसी के द्वारा जीवों का इहलोक और परलोक में संसरण होता है।[9]

सांख्य-दर्शन में सूक्ष्म-शरीर सम्बन्धी मान्यता के सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों के मत भिन्न हैं। प्राचीन सांख्य-दार्शनिक पञ्चाधिकरण का मत है कि सूक्ष्म-शरीर माता-पिता के संसर्गकाल में करणसहित शुक्र-शोणित कण, कलल आदि

---

१. तत्त्वकौ. ४०. २. सां.प्र.भा. १/५७. ३. सुवर्ण. ४० ४. गौड. ४०.
५. सां.प्र.भा. ३/९. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९. ६. तत्त्वया. ५—६.
७. युक्ति. ३९. ८. श्लोकवा. ५/६२. ९. सां. सूत्र ३/८.

रूप में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। जब गर्भाशय में समस्त अवयवों की रचना पूरी हो जाती है और ज्ञानसाधन अपने पूरे विकास में प्रस्फुटित हो जाते हैं उस समय माता के उदर से यह बाहर आ जाता है और पूर्वानुष्ठित जिन धर्माधर्मों के अनुसार यह शरीर आरम्भ हुआ है उनके परिपाक अथवा भोगकाल तक अवस्थित रहता है। भोग से धर्म-अधर्म का क्षय हो जानेपर शरीरपात हो जाता है। इस अवस्था में यदि करण धर्मसंस्कृत हैं तब आत्मा को सूक्ष्म-शरीर के द्वारा ऊर्ध्वदेशों (उन्नत योनियों अर्थात् देवादि योनियों) में ले जाया जाता है। अधर्मसंस्कृत होनेपर आत्मा को यातनास्थानों अथवा तिर्यक् योनियों में ले जाया जाता है। यदि धर्म-अधर्म समान रूप से होते हैं तब आत्मा को मनुष्य योनि में पुनः लाया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियोंसहित उनके धारण करने और अभिलषित स्थान प्राप्त करने की सामर्थ्य से युक्त यह अतिवाहिक सूक्ष्म-शरीर समस्त सर्गकाल में नश्वर बाह्य-शरीर (स्थूल-शरीर) के द्वारा परिवेष्ठित और परित्यक्त होता रहता है।[३] पञ्चाधिकरण की इस मान्यता से स्पष्ट होता है कि आत्मा सूक्ष्म-शरीर में आवेष्ठित रहती है और वह स्थूल-शरीर में अनुप्रविष्ट होकर आत्मा के भोग आदि को सम्पन्न करने का साधन बनता है।

सांख्याचार्य पतञ्जलि का मत है कि सूक्ष्म-शरीर सिद्धिकाल में पूर्वेन्द्रियों को बीजदेश (विभिन्न योनियों के अनुसार विरोधी लिङ्गों का प्रजनात्मक सहयोग जहाँ से स्थूल देह की रचना प्रारम्भ हो जाती है) में ले जाता है वहाँ कर्मों के अनुसार उसे ऊर्ध्वलोक (उन्नतलोक या देवलोक) या यातनास्थान में पहुँचा कर नष्ट हो जाता है। कर्मों के अनुसार पुनः सूक्ष्म-शरीर उत्पन्न होता है और इन्द्रियों को बीजदेश में पहुँचाकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक सूक्ष्म-शरीर के नष्ट होनेपर अन्य सूक्ष्म-शरीर उत्पन्न होता है। अतः उनकी मान्यता है कि सूक्ष्म-शरीर अनेक हैं।[४]

सूक्ष्म-शरीर के सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु की मान्यता सर्वथा भिन्न है। उन्होंने सांख्यसूत्र 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' (सां० सूत्र ३९) के 'एकम्' पद का तात्पर्य सर्ग के आदि में भगवान् हिरण्यगर्भ के समष्टिभूत एक लिङ्गशरीर से लिया है। हिरण्यगर्भ का एक लिङ्गशरीर बाद में नानात्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न पुरुषों के लिङ्गशरीर हिरण्यगर्भ के ही अंश हैं। जिस प्रकार

---

१. सांख्यका. ४०. २. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९.
३. युक्ति. ३९. ४. वहीं।

पुत्र और पुत्रियों का शरीर एक पिता से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न लिङ्गशरीर भी हिरण्यगर्भ के विभिन्न रूप हैं।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु से पूर्व सांख्य-दर्शन में सूक्ष्म-शरीर या आतिवाहिक-शरीर एक ही माना गया है किन्तु विज्ञानभिक्षु इसे द्विविध मानते हैं एक लिङ्ग-शरीर और दूसरा अधिष्ठान-शरीर। उनका मत है कि यह अधिष्ठान-शरीर लिङ्ग-शरीर का आधार है तथा पञ्चमहाभूतों से निर्मित है।[2] 'अतिवाहिक एकोऽस्ति' आदि शास्त्रीय वचनों का समाधान विज्ञानभिक्षु यह कहकर करते हैं कि अधिष्ठान-शरीर और लिङ्ग-शरीर के परस्पर नियत और सूक्ष्म होने से दोनों को एक मान लिया जाता है।[3]

सूक्ष्म-शरीर का आधार स्थूल-शरीर है।[4] सूक्ष्म-शरीर अनेकशः स्थूल-शरीर को त्याग कर नवीन स्थूल-शरीर को धारण करता है। इस प्रकार सामान्यतः दो ही शरीर स्वीकार किये गये हैं। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु[5] तथा उनके शिष्य भावागणेश[6] तीन प्रकार के शरीर की सत्ता स्वीकार करते हैं—लिङ्ग-शरीर, अधिष्ठान-शरीर तथा स्थूल-शरीर। दो शरीर माननेवाले सांख्य-दार्शनिक सूक्ष्म-शरीर से ही स्थूल-शरीर में गमनागमन की व्यवस्था स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु विज्ञानभिक्षु का मत है कि स्थूल-शरीर से विहीन होनेपर अत्यन्त सूक्ष्म लिङ्ग-शरीर स्वयं गमनागमन नहीं कर सकता। सूक्ष्म-शरीर को एक लोक से दूसरे लोक में ले जाने के लिए सूक्ष्म-शरीर के आधारभूत एक अन्य शरीर की अपेक्षा होती है और वह 'अधिष्ठान-शरीर' है। यही सूक्ष्म-शरीर के लोकान्तर-गमन को सम्भव बनाता है, इसलिए इसे आतिवाहिक-शरीर कहा जाता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर विज्ञानभिक्षु 'न स्वातन्त्र्यात् तद्दते छायावच्चित्रवच्च' (सां० सूत्र ३/१२) को भी एतदर्थपरक प्रतिपादित करते हैं। सांख्यकारिका (३९–४१) को भी वे इसी अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं। जब तक सूक्ष्म-शरीर रहता है तब तक अधिष्ठान-शरीर भी रहता है। यह अधिष्ठान-शरीर पञ्चमहाभूतों का ही नामान्तर है और इन पञ्चमहाभूतों के कार्य लोम,

---

१. सां. प्र. मा ३/१०; सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९.

२. तस्य लिङ्गस्य यदधिष्ठानमाश्रयो वक्ष्यमाणभूतपञ्चकम्। (सां. प्र. भा. ३/११)।

३. इत्यादिशास्त्रेषु शरीरद्वयमेव श्रूयते तल्लिङ्गशरीराधिष्ठानशरीरयोरन्योऽन्यनियतत्वेन सूक्ष्मत्वेन चैकताभिप्रायात्। (सां. प्र. भा. ३/११)।

४. सांख्यका. ४१.   ५. सां. प्र. भा. ३/११.   ६. तत्त्वया. ५–६.

लोहित, मांस, स्नायु, अस्थि तथा मज्जा नामक षट्कोणों से निर्मित स्थूल-शरीर माता-पिता से प्राप्त होता है। इसलिए विज्ञानभिक्षु ने 'अधिष्ठान-शरीर' को 'स्थूल-शरीर' की अपेक्षा सूक्ष्म तथा 'सूक्ष्म-शरीर' को 'अधिष्ठान-शरीर' की अपेक्षा सूक्ष्म कहा है।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यसूत्र ३/१४ में लिङ्ग-शरीर को अणुपरिमाण माना गया है।[2] अनिरुद्ध[3] तथा महादेव वेदान्ती[4] उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए मन को अणुपरिमाण बताते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्यसूत्र (३/१४) के अणु-परिमाण का अर्थ परिच्छिन्न-परिमाण करते हैं। अपनी इस मान्यता का कारण वह यह बताते हैं कि सूक्ष्म-शरीर सावयव है, इसलिए वह अत्यन्त सूक्ष्म अणु-परिमाण नहीं हो सकता। वे अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि यदि सूक्ष्म-शरीर को परिच्छिन्न या मध्यम परिमाण नहीं मानेंगे तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च ॥' (तैत्ति० उप० २/५) तथा '...तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति। स विज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' (बृह० उप० ४/४/२) आदि श्रुतियों--जिनमें लिङ्ग-शरीर की क्रिया और गमन का वर्णन है--का बाध होगा। सूक्ष्म-शरीर का गमन तथा उसमें क्रिया सम्भव नहीं होगी। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में वे दूसरा तर्क यह देते हैं कि श्रुतियों में मन को अन्नमय कहा गया है। लिङ्ग-शरीर में मन का प्राधान्य है अतः ऐसा लिङ्ग-शरीर विभु न होकर परिच्छिन्न-परिमाण ही होगा। यदि लिङ्ग-शरीर को विभु-परिमाण स्वीकार करेंगे तो उसके नित्य होने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[5] विज्ञानभिक्षु के अनुसार श्रुतियों, स्मृतियों के 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कठ० उप० २/३/१७) तथा 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निष्कर्ष यमो बलात्' (महाभा० ३/२९७/१७) आदि वाक्यों में जिसे अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है वह आतिवाहिक-शरीर या अधिष्ठान-शरीर ही है।[6] अधिष्ठान-शरीर ही

---

१. सां. प्र. भा. ३/१२.
२. लिङ्गस्य परिमाणमवधारयति। (सां. प्र. भा. ३/१४ अव.)।
३. मनोऽणुपरिमाणं, तत्क्रियायां श्रुतिदर्शनात। (अनि. ३/१४)।
४. तन्मनः, अणुपरिमाणमल्पं कृतिश्रुतेः क्रियाश्रवणात्, आत्मनश्च व्यापकत्वात्। (सां.सू.वृ.सा. ३/१४)। मनसोऽन्नमयत्वश्रुतेरपि नात्मत्वम्। (वही ३/१५)।
५. सां. प्र. भा. ३/१४--१५. ६. सां. प्र. भा. ५/१०३.

सूक्ष्म-शरीर को लोकान्तर में ले जाता है, इसीलिए उसे आतिवाहिक कहा जाता है।[1]

सांख्य-दर्शन में कर्मजनित भोग लिङ्ग-शरीर में ही स्वीकार किये गये हैं।[2] सूक्ष्म-शरीर का संसरण धर्म और अधर्म से होता है। ये धर्म और अधर्म सूक्ष्म-शरीर के धर्म नहीं हैं, अपितु ये बुद्धि के धर्म हैं, तथापि सूक्ष्म-शरीर के अवयवों में बुद्धि भी एक घटक है इसलिए बुद्धि से युक्त होने के कारण सूक्ष्म-शरीर धर्म तथा अधर्म से भी संयुक्त होता है और इनसे युक्त होने के कारण ही सूक्ष्म-शरीर संसरण करता है।[3] इस अचेतन लिङ्ग-शरीर का संसरण पुरुषार्थ के लिए होता है। जिस प्रकार रसोइया राजा के लिए पाकशाला में जाता है उसी प्रकार संहत लिङ्ग-शरीर अपने से भिन्न असंहत पुरुष के लिए प्रवृत्त होता है।[4] अद्वैत वेदान्त में सूक्ष्म-शरीर के घटक--पञ्चज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पञ्चवायु (पञ्चप्राण)--ये सत्रह अवयव माने गये हैं।[5] किन्तु विज्ञानभिक्षु पञ्चप्राणों को सूक्ष्म-शरीर का अवयव नहीं मानते। उनका मत है कि प्राण बुद्धि की ही वृत्ति है।[6] अतः उसे अलग से निर्दिष्ट नहीं किया गया है।[7] वे मायावादियों की लिङ्ग-शरीर में तन्मात्रों के स्थान पर प्राणों की कल्पना को अप्रामाणिक मानते हैं।[8]

लिङ्ग-शरीर की रचना पुरुष को भोग प्रदान करने के लिए होती है। लिङ्ग-शरीर स्वतः भोग सम्पन्न नहीं करता, अपितु वह स्थूल-शरीर के माध्यम से

---

१. लोकाल्लोकान्तरं लिङ्गदेहमतिवाह्यतीत्यातिवाहिकम्। (वही)।

२. लिङ्गस्य च शरीरत्वं भोगाश्रयतया पुरुषप्रतिबिम्बाश्रयतया बोध्यम्। (सां.प्र.भा. ५/१०३)।

३. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ (सांख्यका. ४०)।

४. यथा राज्ञः सूपकाराणां पाकशालासु सञ्चारो राजार्थं तथा लिङ्गशरीराणां संसृतिः पुरुषार्थम्। (सां. प्र. भा. ३/१६)।

५. सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवस्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं च। (वेदान्तसार, पृष्ठ ४)।

६. सांख्यदर्शन में पञ्चप्राण को अन्तःकरण का सामान्य व्यापार माना गया है, बुद्धि अन्तःकरण का एक अङ्ग है, अतः बुद्धि कहने से अन्तःकरण के अन्य अङ्गों का ग्रहण हो जाता है।

७. प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेदः इत्यतो न लिङ्गशरीरात् पृथक् निर्दिश्यते। (सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९)।

८. यत् तु मायावादिनो लिङ्गशरीरस्य तन्मात्रप्रस्थाने प्राणादिपञ्चकं प्रक्षिपन्ति पुर्यष्टकं चान्यथा कल्पयन्ति तदप्रामाणिकमिति। (सां. प्र. भा. ३/१२)।

ही करता है।[1] अतः सूक्ष्म-शरीर के भोग-सम्पादन के लिए स्थूल-शरीर की रचना होती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु सुख-दुःख का भोग लिङ्ग-शरीर में मानते हैं, स्थूल-शरीर में नहीं।[2]

स्थूल-शरीर

सांख्यकारिका में स्थूल-शरीर को षाट्कौशिक माना गया है तथा इसकी उत्पत्ति माता-पिता से स्वीकार की गयी है।[3] इनमें लोम, रक्त और मांस माता से तथा नसें, हड्डियाँ एवं मज्जा पिता से प्राप्त होते हैं। गौडपाद के अनुसार रुधिर, अस्थि, मांस, स्नायु, शुक्र और मज्जा से बढ़ा हुआ पाञ्चभौतिक-शरीर अवकाश प्रदान करने से आकाश, बढ़ने से वायु, पाक से तेज, सङ्ग्रह से जल, धारण से पृथ्वी—इस प्रकार समस्त अवयवों से युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर आता है।[4] सांख्यसूत्र ३/१७ में स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक कहा गया है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र को स्वपक्ष कहा है।[5] इसके पश्चात् सांख्यसूत्र ३/१८–१९ में स्थूल-शरीर के सम्बन्ध में अन्य मतों का उल्लेख है। सांख्यसूत्र ३/१९ की व्याख्या करते हुए अनिरुद्ध ने स्थूल-शरीर को केवल पार्थिव माना है।[6] आचार्य विज्ञानभिक्षु भी स्थूल-शरीर को पार्थिव मानते हैं किन्तु अन्य भूतों को उपष्टम्भक रूप में स्वीकार करते हैं।[7] किन्तु सांख्यसूत्र ५/१०२[8] में स्थूल-शरीर के पाञ्चभौतिक होने का खण्डन है और यही मत सांख्यसूत्र ५/११२[9] में भी मिलता है। इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए अनिरुद्ध[10] तथा विज्ञान-

---

१. तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवति। (गौड. ५०)।

२. ...लिङ्गदेहस्यैव सुखदुःखाख्यभोगात्, न, स्थूलशरीरस्य। (सां. प्र. भा. ३/८)।

३. तत्त्वकौ. ३९.

४. पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासंभृतम्, आकाशोऽवकाशदानाद, वायुर्वर्धनात्, तेजः पाकाद्, आपः संग्रहात्, पृथिवी धारणात्, समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद्बहिर्भवति। (गौड. ३९)।

५. विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वपक्षमाह। (अनि. ३/१७ अव.)।

६. पार्थिवं शरीरमिति। (अनि. ३/१९)।

७. पार्थिवमेव शरीरमन्यानि च भूतान्युपष्टम्भकमात्राणि। (सां. प्र. भा. ३/१९)।

८. न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्। (सां. सूत्र ५/१०२)।

९. सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत्। (सां. सूत्र ५/११२)।

१०. बहूनां भिन्नजातीयानाम्। उपष्टम्भकत्वे तु चतुर्णां निमित्तत्वमस्त्येव। तेन च पाञ्च-

भिक्षु[1] ने लिखा है कि स्थूल-शरीर मुख्यतया पाञ्चभौतिक नहीं है क्योंकि विभिन्न जातीय तत्त्वों का एकत्र समावेश दुर्घट है। इन व्याख्याकारों का मत है कि स्थूल-शरीर का उपादानकारण पार्थिव तत्त्व है, अन्य चारों भूत उपष्टम्भक रूप में रहते हैं। इसीलिए स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक कहा जाता है। डॉ० कीथ भी स्थूल-शरीर को पार्थिव ही मानते हैं। वे वेदान्त मत की भाँति स्थूल-शरीर को अग्नि, जल तथा अन्न (पृथिवी) निर्मित नहीं मानते। उनका मत है कि महाभारत में प्रतिपादित पञ्चशिख का स्थूल-शरीर को पाञ्च-भौतिक मानने का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। उनके अनुसार स्थूल-शरीर तो मुख्यतः पार्थिव है अन्य चार भूत शरीर-धारण में सहायक होते हैं। जल रक्त को, अग्नि शरीर को, ऊष्मा को, वायु श्वास को तथा आकाश वायु प्रमाडो को धारण करते हैं।[2]

पं० उदयवीर शास्त्री[3] तथा आद्याप्रसाद मिश्र[4] का मत है कि स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक मानने का सिद्धान्त ही सांख्य-सिद्धान्त है। इन विद्वानों का मत है कि स्थूल-शरीर के एकभौतिक होने के मत का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र प्रक्षिप्त है। इनकी धारणा है कि स्थूल-शरीर को एकभौतिक मानने के मत पर न्याय-वैशेषिक का प्रभाव है। उदयवीर शास्त्री का मत है कि स्थूल-शरीर को एकभौतिक मानने में विज्ञानभिक्षु द्वारा दिया गया तर्क सांख्य-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। उनका तर्क है कि विजातीय उपादान-तत्त्व किसी कार्य को आरम्भ नहीं करते या कार्यरूप में परिणत नहीं होते, ऐसा मत सांख्य का नहीं है क्योंकि सत्त्व, रजस्, तमस्, परस्पर विलक्षण एवं विजातीय होनेपर भी समस्त जगत् के उपादान हैं। स्थूल-शरीर भी पञ्चमहाभूतों से निर्मित हैं, इस सिद्धान्त को मानने में सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता।'[5] प्रोफ़ेसर आद्याप्रसाद मिश्र का मत है कि स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक माननेवाले सांख्यसूत्र ३/१७ को सिद्धान्तसूत्र मानने तथा ३/१८–१९ जिसमें

भौतिकत्वमुच्यते। (अनि. ५/१०२)। ...बहुतरपार्थिवावयवावष्टम्भकत्वम्, अल्पत्वे चानुपभोगात्। (वही ५/११२)।

१. बहूनां भिन्नजातीयानां चोपादानत्वं घटपदादिस्थले न दृष्टमिति सजातीयमेवोपादानम्। इतरच्च भूतचतुष्टयमुपष्टम्भकमित्याशयेन पाञ्चभौतिकव्यवहारः। (सां. प्र. भा. ५/१०२, वही ५/११२)।

२. S. S., pp. 119–120.

३. सां. द., पृष्ठ ३२८.

४. सां. ऐ. प., पृष्ठ ३३६–३३८.

५. सां. द., पृष्ठ ३२८.

स्थूल-शरीर को चार भूतों से निर्मित तथा एकभौतिक कहा गया है—को अन्य मत का प्रतिपादक मानने के पश्चात् वृत्तिकार अनिरुद्ध तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र ५/१०२ तथा ५/११२ में स्थूल-शरीर को एकभौतिक मानकर पूर्व प्रतिपादित अपने मत का ही प्रत्याख्यान कर दिया है। प्रोफ़ेसर मिश्र का मत है कि यदि इस असंगति पर इन व्याख्याकारों की दृष्टि गयी होती तो इस सूत्र के प्रक्षिप्त होने की शङ्का उनके मन में उठती। उनका मत है कि डॉ० कीथ ने भी इन व्याख्याकारों के मत को स्वीकार कर लिया है किन्तु डॉ० कीथ के वचन से यह सङ्केत मिलता है कि महाभारत में पञ्चशिख के स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक मानने का वर्णन है और यह सिद्धान्त लोकप्रचलित भी है। प्रोफ़ेसर मिश्र का कहना है कि यद्यपि डॉ० कीथ ने इस मत का खण्डन किया है तथापि पूर्वोक्त सभी बातों को दृष्टि में रखकर स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक मानने के मत को ही सांख्य-सिद्धान्त मानना पड़ता है।[1] किन्तु प्रोफेसर मिश्र का यह कहना कि स्थूल-शरीर के उपादान के विषय में अनिरुद्ध एवं विज्ञान-भिक्षु के विचार परस्पर भिन्न हैं —उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि दोनों व्याख्याकारों ने सांख्यसूत्र की एक-सी ही व्याख्या की है। अनिरुद्ध तथा विज्ञानभिक्षु के मत में भिन्नता नहीं है प्रत्युत सांख्यसूत्र ३/१७ तथा ५/१०२ और ५/११२ के मतों में ही भिन्नता है। वृत्तिकार अनिरुद्ध सथा आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सभी सांख्यसूत्रों को कपिल कृत माना है, प्रक्षिप्त नहीं। इन व्याख्याकारों को स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक बतानेवाला सूत्र ३/१७ भी सिद्धान्तसूत्र लगा होगा और स्थूल-शरीर को एकभौतिक बतानेवाला ५/१०२ तथा ५/११२ भी। सम्भव है इन दोनों सूत्रों के अर्थ में समन्वय करते हुए इन व्याख्याकारों ने स्थूल-शरीर को मुख्यतया एकभौतिक मानते हुए भी अन्य चार भूतों को उपष्टम्भक रूप में स्वीकार करके इन परस्पर असङ्गत मतों में सङ्गति लाने की चेष्टा की है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने स्थूल-शरीरों की सृष्टि का क्रम अन्य सांख्य-दार्शनिकों से भिन्न रूप में वर्णित किया है। उनके अनुसार दशगुणित महत्तत्त्व के मध्य में अहङ्कार, दशगुणित अहङ्कार के मध्य में आकाश, दशगुणित आकाश के मध्य में वायु, दशगुणित वायु के मध्य में तेज, दशगुणित तेज के मध्य में जल और दशगुणित जल के मध्य में पृथिवी उत्पन्न होती है तथा यहीं

---

१. सां. ऐ. प., पृष्ठ ३३८. २. वही, पृष्ठ ३३६.

स्थूल-शरीर का बीज है एवं यही पृथिवीरूप बीज अण्डरूप से परिणत होता है। उस दशगुणित अण्डरूप पृथिवी के आवरण के मध्य में स्वयम्भू की चतुर्दश-भुवनात्मक स्थूल-शरीर है। स्वयम्भू का यह शरीर सङ्कल्पमात्र से उत्पन्न होता है और इस शरीर से ही वे नारायण कहे जाते हैं।[1] यही विराट् शरीरवाले नारायण पृथिवीरूप अपने नाभिकमल के कर्णिका स्थानीय सुमेरु पर्वत पर चतुर्भुज कहे जानेवाले अवान्तर ब्रह्मा की सृष्टि कर के उनके द्वारा स्थावर पर्यन्त व्यष्टि शरीरों की सृष्टि करते हैं।[2] स्थूल-शरीर की उत्पत्ति का यही क्रम विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने भी स्वीकार किया है।[3]

सांख्यसूत्रों में ऊष्मज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज, सङ्कल्पज तथा सांसिद्धिक—छः प्रकार के स्थूल-शरीर बताये गये हैं, और सूत्रकार ने यह भी कहा है कि स्थूल-शरीर इन छः प्रकारों से अधिक प्रकार के भी हो सकते हैं।[4] सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार अनिरुद्ध[5] तथा विज्ञानभिक्षु[6] सूत्र के मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऊष्मज—दन्दशूक आदि; अण्डज—पक्षी, सर्प आदि; जरायुज—मनुष्य आदि; उद्भिज—वृक्ष आदि; सङ्कल्पज—सनक आदि और सांसिद्धिक मन्त्र, तप आदि की सिद्धियों से उत्पन्न छः प्रकार के शरीर होते हैं।

दिक् और काल

न्याय-वैशेषिक[7] की भाँति सांख्य-दर्शन में दिक् और काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। सांख्य-दर्शन में दिक् और काल की उत्पत्ति आकाश से स्वीकार की गयी है। इसलिए दिक् और काल का अन्तर्भाव आकाश में ही कर लिया जाता है। आकाश विभु है, अतः दिक् काल भी विभु है। आकाश ही उपाधियों के सहयोग से परिच्छिन्न दिक् और काल को उत्पन्न करता है।[8] आचार्य विज्ञानभिक्षु क्षण के अतिरिक्त काल की सत्ता नहीं मानते।[9] उनके अनुसार काल की ही भाँति पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में विभाजित दिक् भी आकाश से उत्पन्न होता है। नित्य दिक् की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।[10]

---

१. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९–३१०. २. वही पृष्ठ ३१०.
३. तत्त्वया. ५-६, पृष्ठ २७८-२७९. ४. सां. सूत्र ५/१११. ५. अनि. ५/१११.
६. सां. प्र. भा. ५/१११. ७. वैशे. सूत्र २/२/७, ११.
८. सां. प्र. भा. २/१२. ९. योगवा. ३/५२. १०. वही।

आचार्य वाचस्पति मिश्र काल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल की उपलब्धियाँ हैं और यही सत्य है, इनके अतिरिक्त किसी एक काल की सत्ता नहीं है। एक नित्य काल भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् में परिवर्तित नहीं हो सकता।[1] योगभाष्य में काल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार परमाणु द्रव्य की न्यूनतम सीमा है उसी प्रकार क्षण काल की न्यूनतम सीमा है। एक गतिमान परमाणु को एक बिन्दु को छोड़ने तथा दूसरे बिन्दु तक पहुँचने में जो समय लगता है, वही क्षण है। इनका निरन्तर प्रवाह एक क्रम है। इन क्षणों का समाहार नहीं हो सकता इसलिए मुहूर्त और अहोरात्र आदि स्थूल काल अवास्तविक तथा बुद्धि के द्वारा कल्पित है। किन्तु स्थूल काल की भाँति क्षण भी अवास्तविक नहीं हैं क्योंकि यदि क्षण को भी अवास्तविक मानेंगे तो क्रम का आश्रय कौन होगा? अतः क्रम को क्षण के अन्तर्गत मानना चाहिए।[2] योगमत में वर्तमान क्षण ही वास्तविक काल है, भूत तथा भविष्य उसी के अन्तर्गत हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु भी योगभाष्यकार के मत को स्वीकार करते हैं[3] और काल की नित्य सत्ता नहीं मानते।[4]

प्रत्यय सर्ग

सांख्य-दर्शन में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि को बुद्धि के चार सूक्ष्म परिणाम स्वीकार किये गये हैं। गुणों के न्यूनाधिक्य में पारस्परिक अभिभव होने के कारण बुद्धि के इन सूक्ष्म परिणामों के पचास भेद होते हैं।[5]

विपर्यय

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के भेद से विपर्यय पाँच प्रकार के हैं।[6] अनित्य, अशुचि, दुःखात्मक तथा अनात्म पदार्थ को नित्य, शुचि, सुखात्मक तथा आत्मा समझना अविद्या है।[7] आत्मा एवं अनात्मा की एकता का प्रत्यय शरीर के अतिरिक्त आत्मा नहीं है ऐसा मानना अस्मिता है।[8] सुख-भोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहनेवाली अभिलाषा राग है तथा दुःख-भोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहनेवाला क्रोध द्वेष है। अभिनिवेश मरण आदि के त्रास को कहते हैं।[9] विपर्यय के अवान्तर भेद तमस्, मोह,

---

१. तत्त्वकौ. ३३. २. योगभा. ३/५२. ३. योगवा. ३/५२. ४. वही।
५. सांख्यका. ४६. ६. सां.प्र.भा. ३/३७. ७. वही। ८. वही। ९. वही।

महामोह, तमिस्र तथा अन्धतामिस्र हैं।[1] प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र—इन आठ में आत्मबुद्धि रखने से अविद्या अर्थात् तमस् आठ प्रकार का है।[2] तमस् का यही स्वरूप सांख्यकारिका के टीकाकारों को भी मान्य है। मोह अर्थात् अस्मिता आठ प्रकार की है। माठर[3] तथा गौडपाद[4] ने मोह का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है—अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों में आसक्त ब्रह्मा आदि देवता मोक्ष की इच्छा नहीं करते। शुभ कर्मों द्वारा सम्पादित इन ऐश्वर्यों के क्षय हो जानेपर वे पुनः संसरण करते हैं। यही आठ प्रकार का मोह है। जयमङ्गलाकार,[5] वाचस्पति[6] तथा अनिरुद्ध[7] के अनुसार देवता आठ प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हुए इन अणिमा इत्यादि ऐश्वर्यों को नित्य मानते हैं। यही अस्मिता मोह है, जो अपने विषयभूत ऐश्वर्य के अष्टविध होने के कारण स्वयं भी अष्टविध है। मोह के स्वरूप के विषय में आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत सबसे भिन्न है। उनके अनुसार अविद्या के आठ प्रकार के भेद से उसके समान विषय की मोह कही जानेवाली अस्मिता भी आठ प्रकार की है।[8] महामोह अर्थात् राग दस प्रकार का है। माठर[9] तथा गौडपाद[10] के अनुसार देवताओं के पञ्चतन्मात्र कहे जानेवाले शब्द आदि अविशेष, केवल आनन्दरूप, निरुपाधि दूध की भाँति शान्ति आदि से युक्त, सुख आदि से रहित हैं और ये स्वर्गप्राप्ति में मिलते हैं तथा मनुष्य के शब्द आदि सुख, दुःख, मोह सम्पन्न, शान्त, घोर, मूढ हैं और भौतिक शरीर से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार महामोह दस प्रकार के हैं। युक्तिदीपिकाकार के अनुसार माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, गुरु, मित्र तथा उपकारी के दस प्रकार के कुटुम्ब में अथवा दृष्ट एवं अनुश्रविक के भेद से शब्दादि दस विषयों में 'यह मेरा है' इस प्रकार का अभिनिवेश दस प्रकार का महामोह है।[11] जयमङ्गलाकार के अनुसार दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दस विषयों में होनेवाला सुखानुशायी राग ही दस प्रकार का महामोह है। पञ्चतन्मात्राएँ सुखात्मक होने से दिव्य हैं तथा स्थूल पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत सुख-दुःख-मोहात्मक होने से अदिव्य हैं।[12] वाचस्पति मिश्र[13] अनिरुद्ध[14] तथा

---

१. सां. सूत्र ३/४१. २. सां. प्र. भा. ३/४१. ३. माठ. ४८.
४. गौड. ४८. ५. जयम. ४८. ६. तत्त्वकौ. ४८.
७. अनि. ३/४१. ८. सां. प्र. भा. ३/४१. ९. माठ. ४८.
१०. गौड. ४८. ११. युक्ति. ४८. १२. जयम. ४८.
३. तत्त्वकौ. ४८. १४. अनि. ३/४१.

विज्ञानभिक्षु[१] दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दस प्रकार का महामोह स्वीकार करते हैं। दिव्य तथा अदिव्य शब्द आदि पाँचों रागोत्पादक विषयों में राग या आसक्ति महामोह है। अट्ठारह प्रकार का तमिस्र अर्थात् द्वेष होता है। माठर के अनुसार दस प्रकार के देवताओं तथा मनुष्यों के विषय तथा आठ प्रकार के ऐश्वर्य से अठारह प्रकार का तमिस्र है। इनमें किसी एक के न प्राप्त होने से जो क्रोध होता है वह तामिस्र है।[२] गौडपाद के अनुसार इन अठारहों के होनेपर प्रसन्न होना, न होनेपर दुःखी होना ही अठारह प्रकार का तामिस्र है।[३] जयमङ्गला,[४] तत्त्वकौमुदी[५] तथा अनिरुद्धवृत्ति[६] में तमिस्र का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत इन व्याख्याकारों से भिन्न है। उनके अनुसार अविद्या और अस्मिता के आठ विषय और राग के दस विषय के भोग में जो प्रतिबन्धक होते हैं, उनमें अठारह प्रकार का द्वेष होता है—उसको तामिस्र कहते हैं।[७] अन्धतामिस्र अठारह प्रकार का है। माठर के अनुसार तामिस्र के विषयों में मरण के त्रास से दुःख उत्पन्न होता है। ऐश्वर्य के विद्यमान होनेपर ऐश्वर्यों को छोड़कर मृत्यु के द्वारा ले जाते हुए 'मैं चला जाऊँगा' इस विचार से जो त्रास होता है वह अन्धतामिस्र है।[८] गौडपाद के अनुसार भोगकाल में ही जो मर जाता है वह अणिमा आदि ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसे अत्यन्त दुःख होता है। मृत्यु या ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का भय अथवा अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहलाता है।[९] जयमङ्गला में मरण के त्रास को अन्धतामिस्र कहा गया है।[१०] वाचस्पति मिश्र[११] तथा अनिरुद्ध[१२] के अनुसार देवता अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करके शब्द आदि विषयों का भोग करते हुए डरते हैं कि 'हमारे शब्द इत्यादि भोग तथा उनके अणिमा आदि उपाय असुरों के द्वारा नष्ट न कर दिये जायें यही भय अभिनिवेश है जो अन्धतामिस्र कहलाता है और अपने विषय के अठारह प्रकार का होने के कारण स्वयं भी अठारह प्रकार का होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार आठ प्रकार के ऐश्वर्य तथा दस प्रकार के शब्द आदि इन अठारह प्रकार के पदार्थों के नाश के विचार से जो अठारह प्रकार का

---

१. सां. प्र. भा. ३/४१. २. माठ ४८. ३. गौड. ४८.
४. जयम. ४८. ५. तत्त्वकौ. ४८. ६. अनि. ३/४१.
७. सां. प्र. भा. ३/४१. ८. माठ. ४८. ९. गौड. ४८.
१०. जयम. ५८. ११. तत्त्वकौ. ४८. १२. अनि. ३/४१.

अभिनिवेश होता है, वह अन्धतामिस्र है।[1] इस प्रकार पाँच प्रकार का विपर्यय सूक्ष्म भेदों से बासठ प्रकार का होता है।

अशक्तियाँ

सांख्य-दर्शन में ग्यारह इन्द्रियों के वध तथा सत्रह बुद्धि के वध, माने गये हैं। इस प्रकार अशक्तियाँ अट्ठाईस प्रकार की हैं।[2] अपने-अपने विषयों के ग्रहण की असामर्थ्य ही इन्द्रिय-वध है।[3] बहरापन, कोढ़, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूँगापन, हाथ का लूला या निष्क्रिय होना, लँगड़ापन, नपुंसकत्व, गुदादोष तथा मनःप्रमाद ग्यारह इन्द्रियों के उपघात हैं।[4] ये क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन के दोष हैं। अपने निश्चय कार्य में इन इन्द्रिय दोषों से उत्पन्न बुद्धि की अशक्ति भी ग्यारह प्रकार की है। नौ प्रकार की तुष्टियों के विघात तथा आठ प्रकार की सिद्धियों के विघात--ये सत्रह विघात बुद्धि की स्वतः अशक्तियाँ हैं। इस प्रकार, ग्यारह इन्द्रिय बध तथा सत्रह बुद्धि वध मिलकर, अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ हैं।[5]

तुष्टियाँ

आध्यात्मिक तथा बाह्य के भेद से तुष्टियाँ नौ प्रकार की होती हैं।[6] सांख्यकारिकाओं की सभी टीकाओं, अनिरुद्धवृत्ति तथा वृत्तिसार में इन तुष्टियों का इन तुष्टियों का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है--'प्रकृति से सर्वथा भिन्न आत्मा है' ऐसा समझकर भी जो व्यक्ति असद् उपदेश से सन्तुष्ट होकर आत्मा के श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा उसके विवेकज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकार की होती हैं। विवेक-ज्ञान प्रकृति का ही परिणाम विशेष है और उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है, इसलिए आत्मा के ध्यान का अभ्यास व्यर्थ है। अतः ऐसे उपदेश जो प्रकृति विषयक तुष्टि होती है, वही प्रकृति नामक तुष्टि अम्भ है। प्रकृति का परिणाम-विशेष होकर भी विवेकज्ञान केवल प्रकृति से नहीं होता अपितु संन्यास से होता है। इसलिए संन्यास-ग्रहण करो--ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादान नामक तुष्टि है जो सलिल भी कहलाती है। संन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देनेवाला नहीं है। यह कालान्तर में परिपक्व होकर ज्ञान देगा--ऐसे उपदेश से

---

१. सां. प्र. भा. ३/४१. २. सां. सूत्र ३/३८. ३. माठ. ४९.
४. सां. प्र. भा. ३/३८. ५. सां. प्र. भा. ३/३८. ६. सां. सूत्र ३/४३.

जो तुष्टि होती है, वह काल नामक तुष्टि है जो ओघ कहलाती है। जयमङ्गलाकार[1] तथा अनिरुद्ध[2] काल नामक तुष्टि की अपर संज्ञा तुष्टिरोध मानते हैं। विवेक, ज्ञान, न प्रकृति से, न काल से और न संन्यासग्रहण से होता है अपितु भाग्य से होता है—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह 'भाग्य' नामक तुष्टि है जो वृष्टि है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि किसी ने आध्यात्मिक तुष्टि के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली कारिका के अर्थ का अन्यथा प्रतिपादन किया है।[3] डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य का मत है कि यहाँ 'किसी ने' से विज्ञानभिक्षु का आभिप्राय वाचस्पति मिश्र से है।[4] विज्ञानभिक्षु ने इन तुष्टियों का स्वरूप भिन्न रूप में प्रतिपादित किया है। उनका मत इस प्रकार है—साक्षात्कार पर्यन्त सभी परिणाम प्रकृति के ही हैं, उस परिणाम को प्रकृति ही करती है। 'मैं कूटस्थपूर्ण हूँ' ऐसी भावना से जो सन्तोष होता है उसको प्रकृति तुष्टि कहते हैं तथा इसकी अपर संज्ञा 'अम्म' भी है। इसके पश्चात् वैराग्य को ग्रहण करने से जो तुष्टि होती है उसको उपादान कहते हैं तथा इसको सलिल भी कहते हैं। वैराग्य के ग्रहण करने पर बहुत काल तक समाधि के अनुष्ठान से जो सन्तोष होता है उसको काल कहते हैं, इसे 'तुष्टिरोध' शब्द से भी अभिहित करते हैं। ज्ञान की परम अवधिरूप धर्ममेघ समाधि से जो तुष्टि होती है उसे भाग्य कहते हैं तथा इसकी अपर संज्ञा वृष्टि भी है।[5] बाह्य तुष्टियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। शब्द आदि पाँच विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग तथा हिंसा आदि दोष के निमित्त से जो उपरति होती है वह बाह्य तुष्टि है। इन तुष्टियों को क्रम से पार, सुपार, पारापार, अनुताम्भ तथा उत्तमाम्भ कहते हैं।[6]

सिद्धियाँ

सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। त्रिविध दुःखों की तीन प्रकार की निवृत्ति होने से तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं। ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति तथा दान—ये पाँच सिद्धियाँ त्रिविध दुःख के उपाय होने के कारण गौण हैं। गुरु के उपदेश के बिना ही पूर्वजन्म के अभ्यास से स्वयं ही तर्क करके जो ज्ञान होता है, उसे 'ऊह' कहते हैं। दूसरे के पाठ को श्रवण करके या स्वयं ही शास्त्र के विचार करके जो ज्ञान होता है उसे 'शब्द' कहते हैं। गुरु से यथाविधि शास्त्र का अध्ययन करके जो ज्ञान होता है उसे 'अध्ययन' कहते हैं। अपने ही घर में

---

१. जयम. ५०. २. अनि. ३/४३. ३. सां. प्र. भा. ३/४३.
४. सांख्यसूत्रम् ३/४३ पादटि. ५. सां. प्र. भा. ३/४३. ६. वही।

आये हुए परम कृपालु ज्ञानी से जो ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे सुहृत्प्राप्ति कहते हैं। दान से गुरु को प्रसन्न करके ज्ञान की प्राप्ति को, दान कहते हैं।[1] सांख्यकारिका (५१) की टीकाओं में त्रिविध दुःख की क्रमशः प्रमोद, मुदित तथा मोदमान एवं अन्य पाँचों की क्रमशः तारतार, सुतार, तार, रम्यक तथा सदामुदित अपर संज्ञाएँ वर्णित की गयी हैं।

भौतिक सृष्टि के प्रकार

सांख्य-दर्शन में चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि स्वीकार की गयी है।[2] इनमें आठ प्रकार की देव-सृष्टि, पाँच प्रकार की तिर्यक्-सृष्टि तथा एक प्रकार की मानवी-सृष्टि है।[3] माठर,[4] युक्तिदीपिकाकार,[5] गौडपाद,[6] वाचस्पति मिश्र,[7] आचार्य विज्ञानभिक्षु[8] तथा महादेव वेदान्ती[9] ने ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा पिशाच—आठ प्रकार के देव, पशु, पक्षी, मृग, सर्प तथा तरुगुल्म आदि पाँच प्रकार के तिर्यक् माने हैं। जयमङ्गलाकार देवताओं के भेदों में इन्द्र और पितरों के स्थानों पर सुर तथा असुर को ग्रहण करते हैं[10] तथा तिर्यक् सृष्टि का स्वरूप अन्य टीकाकारों की भाँति ही मानते हैं। तत्त्व-समाससूत्र के टीकाकार षिमानन्द,[11] भावागणेश[12] आदि भी उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हैं। किन्तु अनिरुद्ध सृष्टि को सुर, असुर, नर, प्रेत, नारक तथा तिर्यक् के भेद से छः प्रकार की स्वीकार करते हैं तथा स्थावर का नारक में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।[13]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि चैतन्य के आधिक्य और न्यूनत्व के कारण ऊर्ध्व, मध्यम तथा अधः के भेद से भौतिक सृष्टि त्रिविध है। ब्रह्मा से तृण-पर्यन्त सृष्टि में ऊर्ध्वलोक सत्त्वप्रधान, मध्यमलोक रजोप्रधान तथा अधोलोक तमोप्रधान है। भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यलोक सत्त्वप्रधान होते हैं। पशुओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावरों तक की निम्न सृष्टि तमोप्रधान होती है। यह सृष्टि मोहप्रधान होने के कारण तमोप्रधान मानी जाती है। ज्ञात द्वीपों और समुद्रोंवाला मध्यस्थित यह भूलोक धर्म और अधर्म आदि कर्मों में तत्पर होने तथा दुःखमय होने से रजोप्रधान माना जाता है।[14]

---

१. सां.प्र.भा. ३/४४. २. सांख्यका. ५३. ३. सां. सूत्र ३/४६. ४. माठ. ५३.
५. युक्ति. ५३. ६. गौड. ५३. ७. तत्त्वकौ. ५३. ८. सां. प्र. भा. ३/४६.
९. सां. सू. वृ. सा. ३/४६. १०. जयम. ५३. ११. सांख्यतत्त्ववि. २०.
१२. तत्त्वया. २०. १३. अनि. ३/४६. १४. सां. प्र. भा. ३/४७–५०.

सांख्य-प्रतिपादित यह समस्त सृष्टिक्रम प्रकृति का ही परिणाम है। यह सृष्टि निष्प्रयोजन नहीं, अपितु सप्रयोजन है। सृष्टि का प्रयोजन है--पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्रदान करना। प्रकृति-पुरुष के भेदरूप विवेक का ग्रहण न होने से अविद्या या अज्ञान के कारण पुरुष नाना प्रकार की योनियों को धारण करके अनेक प्रकार के लोकों में शुभाशुभ कर्म करता हुआ एवं तदनुसार फलों का उपभोग करता हुआ संसरण करता रहता है। प्रकृति-पुरुष के भेद अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का ग्रहण होने से पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है और इस प्रकार सृष्टि का प्रयोजन पूर्ण होता है।

सृष्टि के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य सूक्ष्म परिणाम भी सदा होते रहते हैं[1] अर्थात् प्रति क्षण प्रकृति की सूक्ष्म सृष्टि तथा सूक्ष्म लय होता रहता है। सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित यह सृष्टिक्रम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा प्रायः सभी परवर्ती दार्शनिकों ने इसे अपनाया है। इसमें बुद्धितत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति तथा अहङ्कार से मन आदि की उत्पत्ति का जो क्रम वर्णित है उससे प्रतीत होता है कि आचार्यों की दृष्टि जीव की आन्तरिक या मानस सृष्टि की सूक्ष्मता पर भी रही है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य की इस विशेषता पर ध्यान दिया है और स्पष्ट शब्दों में इस क्रम की युक्तियुक्तता पर प्रकाश डाला है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सृष्टि के विकास-क्रम के निर्धारण में जिस समन्वयात्मक दर्शन का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है। निरीश्वरवादी दर्शन में ईश्वरवादी सिद्धान्तों के लिए स्थान बनाना उनके वैदुष्य का परिचायक है। उन्होंने सांख्य-दर्शन में वेदान्त एवं पौराणिक मतों का समावेश करके सांख्य-दर्शन की श्रुति-स्मृतिसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है। सांख्य-दर्शन के महत्तत्त्व को उन्होंने वेदान्त के हिरण्यगर्भ के रूप में वर्णित किया है। अपनी पौराणिक महत्ता सहित यही हिरण्यगर्भ नारायण के रूप में सृष्टि का प्रारम्भ करने-कराने में समर्थ होते हैं।[2] महत्तत्त्वोपाधिक विष्णु इस संसार का पालन करते हैं।[3] ब्रह्मा तथा रुद्र अहङ्कारतत्त्वोपाधिक हैं और क्रमशः सृष्टि और संहार करते हैं।[4] संहार या लय कोई नवीन वस्तु नहीं, कार्य का कारण में लीन होना मात्र है। सृष्टि, स्थिति और लय का मुख्य प्रयोजन 'प्रतिपुरुषमोक्ष' मात्र है।[5]

---

१. सां.सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३११.

२. सां. सा. मङ्गला. १. ३. सां. प्र. भा. ६/६६. ४. सां. प्र. भा. ६/६४.

५. वही २/१. सां. सा. पूर्व भाग, तृतीय परि., पृष्ठ ३०९–३१०.

पञ्चम अध्याय

दुःख तथा उससे मुक्ति

जैसा कि 'दुःखाभावो सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं मतम्' इत्यादि उक्तियों में प्रतिबिम्बित होता है, भारतीय दार्शनिक परम्परा में दुःखाभाव अर्थात् दुःखों के नाश और सुख की प्राप्ति के भेद से पुरुषार्थ द्विविध माना गया है। सांख्य-दर्शन में उपर्युक्त पुरुषार्थों में से प्रथम पर अधिक बल दिया गया है।

दुःख से मुक्ति भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय चिन्तकों ने तत्त्वज्ञान के मार्ग का अन्वेषण किया। भारत में दार्शनिक चिन्तन का प्रयोजन जीवन के क्लेशों को दूर करने का उपाय खोजना था। इसके साथ ही जो अन्य तात्त्विक प्रश्नों का विचार किया गया है, वह आनुषङ्गिक है। जैसा कि प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने कहा है भारत में तत्त्व-चिन्तन ज्ञान की उपलब्धि के लिए नहीं प्रत्युत उस परम उद्देश्य के लिए किया जाता था, जिसके लिए मनुष्य का इस जीवन में प्रयत्न करना सम्भव है।[1] मोक्ष की धारणा विभिन्न भारतीय दर्शनों में अलग-अलग है किन्तु सभी दर्शनों में इसे दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति माना गया है।

दुःख

सांख्य-दर्शन का प्रारम्भ ही दुःख की सार्वभौमिकता स्वीकार करके उसकी आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की सिद्धि के लिए किये जानेवाले चिन्तन से होता है।[2] यह कहा जा सकता है कि संसार की सभी अनुभूतियाँ दुःखात्मक ही नहीं होती, अपितु उनमें से कुछ सुखात्मक भी होती हैं, अतः संसार दुःखपूर्ण ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस प्रश्न का समाधान योगसूत्र के इस कथन में मिलता है कि परिणाम-दुःख, ताप-दुःख तथा संसार-दुःख से मिश्रित होने से समस्त सांसारिक विषय-सुख भी विवेकी पुरुष की दृष्टि में दुःखरूप ही है।[3] सुखानुभव-काल में राग, द्वेष तथा हिंसादि

---

१. S. S. I. P., p. 370. २. सां. सूत्र १/१. सांख्यका. १. ३. योगसूत्र २/१५.

की विद्यमानता से भविष्य में होनेवाला दुःख अवश्यम्भावी है। गीता में भी कहा गया है कि जो सुख विषय तथा इन्द्रिय के संयोग से होता है, यद्यपि वह भोगकाल में अमृत की भाँति प्रतीत होता है तथापि वह परिणाम में विष के सदृश है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।[1] राजस का स्वरूप ही दुःखात्मक है अतः यह राजस सुख, सुखाभास या दुःखरूप ही है। सांसारिक मनुष्यों को इसके सुखाभास या दुःखरूप होने का अनुभव नहीं होता, किन्तु यह विषय-सुख ज्ञानी पुरुषों को दुःखरूप ही प्रतीत होता है। विद्वान् 'अक्षिपात्र कल्प' होते हैं इसलिए संसार की दुःखरूपता का अनुभव उन्हीं को होता है। जिस प्रकार अति सूक्ष्म ऊन का धागा नेत्र में पड़ जाने से स्पर्शमात्र से दुःख देता है, शरीर के अन्य अंगों में उसके स्पर्शमात्र से कोई दुःख नहीं होता इसी प्रकार 'अक्षिपात्र कल्प' अर्थात् नेत्र के सदृश संवेदनशील और विवेकी योगियों को ही यह विषय-सुख अनुभवकाल में भी दुःख देते हैं अन्य मनुष्यों को नहीं।

दार्शनिकों की दृष्टि में यह संसार दुःखमय है और दुःखों की समाप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है, इसलिए सांख्य-दर्शन में इसे पुरुषार्थ[2] अर्थात् पुरुष का लक्ष्य स्वीकार किया गया है और इस पुरुषार्थ की प्राप्ति ही इस दर्शन का परम लक्ष्य है[3] तत्त्व-मीमांसा आदि तो केवल आनुषङ्गिकमात्र हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्यशास्त्र को 'मोक्षशास्त्र' कहते हैं[4] क्योंकि यह शास्त्र दुःख-निवृत्ति अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है। उनकी दृष्टि में यह मोक्ष-शास्त्र चिकित्सा-शास्त्र की भाँति चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र में रोग, आरोग्य, रोग-निदान तथा भैषज्य--ये चार व्यूह होते हैं उसी प्रकार मोक्ष-शास्त्र के प्रतिपाद्य भी हेय, हान, हेयहेतु तथा हानोपाय--ये चार व्यूह हैं। मोक्षशास्त्र के इन चतुर्व्यूहों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि त्रिविध दुःख हेय हैं, इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हान है, प्रकृति-पुरुष-संयोग से होनेवाला अविवेक हेयहेतु है तथा प्रकृति-पुरुष की पृथकता का ज्ञान अर्थात् विवेकख्याति हानोपाय है।[5]

---

१. गीता १८/३८.

२. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (सां. सूत्र १/१)।

३. यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः। (सां. सूत्र ६/७०)।

४. तदिदं मोक्षशास्त्रम्। (सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ७)। ५. वही।

दुःख के प्रकार

दुःख मुख्यतः दो प्रकार के हैं--(१) आन्तरोपाय साध्य तथा (२) बाह्योपाय साध्य। आन्तरोपाय साध्य दुःख आध्यात्मिक दुःख है तथा बाह्योपाय साध्य दुःख दो प्रकार के हैं--आधिभौतिक एवं आधिदैविक।[1] आध्यात्मिक दुःख भी द्विविध है--(१) शारीरिक तथा (२) मानसिक।[2] वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाले ज्वर, अतिसार आदि दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं।[3] सुवर्णसप्ततिशास्त्र में मानसिक दुःख तीन प्रकार का बताया गया है--(१) प्रिय से वियोग, (२) अप्रिय से संयोग तथा (३) प्रार्थित का अलाभ।[4] माठरवृत्ति[5] तथा गौडपादभाष्य[6] में भी मानसिक दुःख के प्रिय वियोग तथा अप्रिय संयोग--ये दो भेद स्वीकार किये गये हैं। युक्तिदीपिका,[7] जयमङ्गला[8] तथा तत्त्वकौमुदी[9] में काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख मानसिक दुःख है। विद्वत्तोषिणीकार का मत है कि ये सभी दुःख शरीर के अन्दर या अन्तःकरण में होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।[10] मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, वृक्ष आदि से होनेवाला अर्थात् व्याघ्र, चोर आदि से होनेवाला दुःख आधिभौतिक दुःख है।[11] राक्षस, विनायक, ग्रह, देव, अग्नि, वायु इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होनेवाला दाह, शीत, आदि दुःख आधिदैविक दुःख है।[12] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि यद्यपि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक--तीनों प्रकार के दुःख मानसिक ही होते हैं तथापि उपरिलिखित व्याख्या केवल इसी दृष्टिकोण से की गयी है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह मानसिक है और जिसमें मन के अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न शारीरिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक है।[13]

----

१. तत्त्वकौ. १.
२. ...आध्यात्मिकम्—शरीरं मानसं च। (सां. प्र. भा. १/१)।   ३. माठ. १.
४. सुवर्ण. १.   ५. मानसं प्रियवियोगादप्रियसंयोगाच्च द्विविधम्। (माठ. १)।
६. मानसं—प्रियवियोगाऽप्रियसंयोगादि। (गौड. १)।
७. ...मानसं कामक्रोधलोभमोहविषादभयेर्ष्याऽसूयारत्यविशेषदर्शननिमित्तम्। (युक्ति. १)।
८. यत्कामक्रोधशोकादिभिर्मनसि दुःखं तन्मानसम्। (जयम. १)।
९. मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्। (तत्त्वकौ. १)।
१०. विद्वत्तो. १.   ११. सां. प्र. भा. १/१.   १२. वही।
१३. यद्यपि सर्वमेव दुःखं मानसं तथापि मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविशेषः। (वही)।

सांख्य-दर्शन में इन त्रिविध दुःखों से समस्त संसार को पीड़ित माना गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि जो स्थूल दुःख वर्तमान अवस्था में विद्यमान हैं, वे भविष्य में स्वयं नष्ट हो जायेंगे, अतः वर्तमान दुःख के नाश के लिए ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। भूतकाल में हुए दुःख पहले ही नष्ट हो चुके हैं, अतः उनके लिए भी साधना की अपेक्षा नहीं है। किन्तु इन दुःखों के अतिरिक्त अनागत अवस्था में स्थित जो सूक्ष्म दुःख है, उसकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। वे अपने मत की पुष्टि योगसूत्र से करते हुए कहते हैं कि योगसूत्र में भी अनागत दुःख को ही हेय बताया गया है। पूर्वपक्षी कहता है कि सांख्य सत्कार्यवादी है, अतः उसके मत में दुःख की निवृत्ति अर्थात् नाश नहीं हो सकता। पूर्वपक्षी की इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि सत्कार्यवादी होने के कारण हमारे मत में निवृत्ति का अर्थ नाश नहीं प्रत्युत दुःख की अतीतावस्था है और दुःख की अतीतावस्था का अर्थ ध्वंसाभाव है। इसी प्रकार दुःख की अनागतावस्था का अर्थ सांख्य-मत में प्रागभाव है। विज्ञानभिक्षु पूर्वपक्ष उठाते हुए कहते हैं कि वर्तमान तथा अनागत दुःख अप्रामाणिक हैं, अतः आकाश-कुसुम की भाँति दुःखों की निवृत्ति पुरुषार्थ नहीं है। आचार्य विज्ञानभिक्षु इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब तक द्रव्य स्थायी रहता है तब तक उसकी कार्य-जननशक्ति भी रहती है। विज्ञानभिक्षु अपने मत की पुष्टि पातञ्जल-दर्शन से करते हुए कहते हैं कि पातञ्जल-दर्शन में कहा गया है कि दाहक-शक्ति से रहित अग्नि कभी भी नहीं देखी जाती और वही शक्ति अनागत अवस्था में स्थित रहते हुए कार्यरूप में प्रकट होती है तथा इसी को उपादान-कारणस्वरूप-योग्यता भी कहते हैं। इसीलिए जब तक चित्त की सत्ता रहती है तब तक अनागत दुःख का अनुमान होता है और इस अनागत दुःख की निवृत्ति पुरुषार्थ है।[1]

दुःख-निवृत्ति का लौकिक उपाय और पुरुषार्थ-सिद्धि में उसकी अनुपयोगिता

सांख्यदार्शनिक दुःख-निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि में 'तत्त्वज्ञान' की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यद्यपि त्रिविध दुःख की निवृत्ति अभीष्ट है और तत्त्वज्ञान उसकी निवृत्ति करने में समर्थ भी है तथापि लौकिक उपाय के दुःख की निवृत्ति में सुकर एवं सुलभ होने से तत्त्वज्ञानरूप उपाय—जो

---

१. सां. प्र. भा. १/१.

अनेक जन्मों के सतत अभ्यास से होनेवाले श्रम से साध्य होने के कारण दुष्कर है—में मनुष्य की प्रवृत्ति असम्भव है। ऐसी लोकोक्ति भी प्रचलित है कि यदि (मार्ग के) मदार-वृक्ष में ही मधु मिल जाये तो पर्वत तक किसलिए जाया जाये? अर्थात् जनसाधारण को सुलभ लौकिक उपायों के सुलभ होनेपर तत्त्वज्ञान की प्राप्तिरूप जन्मान्तर में फलीभूत होनेवाली साधना के लिए कौन प्रयत्नशील होगा? शारीरिक दुःख की निवृत्ति के लिए वैद्यों के द्वारा सैकड़ों उपाय बताये गये हैं। प्रिय से संयोग तथा अप्रिय से वियोग, सुन्दर स्त्री, पान, भोजन, लेप, वस्त्र, अलङ्कार तथा धन आदि से मानसिक दुःखों की शान्ति की जा सकती है! नीतिशास्त्र के सतत अध्ययन से उत्पन्न चातुर्य तथा निरुपद्रव स्थान में निवास करने से आधिभौतिक एवं मणिधारण, मन्त्रानुष्ठान और औषध-सेवन से आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति भी सम्भव है।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि ये प्रचलित लौकिक उपाय दुःखों की आंशिक निवृत्ति ही कर पाते हैं क्योंकि निवृत्त हुए दुःख की पुनः उत्पत्ति दिखायी देती है। अतः ये उपाय सरल तथा कष्टसाध्य न होनेपर भी दुःखों की सार्वकालिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति करने में समर्थ नहीं होते।[2] जिस प्रकार प्रतिदिन क्षुधा की शान्ति के लिए चेष्टा की जाती है और वह चेष्टा इष्टार्थ की अंशतः सिद्धि भी करती है, इसलिए उसकी सामर्थ्य को मान्यता प्रदान की जाती है, उसी प्रकार लौकिक उपायों के आंशिक दुःखनिवृत्ति का कारण होने से वे भी पुरुषार्थ के साधन के रूप में कथञ्चित् स्वीकृत होते हैं।[3] किन्तु ये दृष्ट अर्थात् लौकिक उपाय भी सभी देश तथा काल में प्राप्त नहीं होते और यदि इनकी प्राप्ति हो भी जाये तो भी इनसे सभी दुःखों का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नाश भी नहीं होता। इसलिए विद्वान् पुरुष दुःखनिवृत्ति के साधन के रूप में लौकिक उपायों को हेय मानते हैं।[4]

दुःखनिवृत्ति के वैदिक उपाय और पुरुषार्थ-सिद्धि में उनकी अनुपयोगिता

लौकिक उपाय के अतिरिक्त दुःखनिवृत्ति का एक अन्य उपाय—वैदिक उपाय के नाम से प्रचलित है। मीमांसकों का मत है कि दृष्ट अर्थात् लौकिक उपायों के त्रिविध दुःख की निवृत्ति में असमर्थ होने के कारण अदृष्ट साधन अर्थात् वैदिक कर्मों से दुःखनिवृत्ति का उपाय करना चाहिए। केवल वर्ष भर

---

१. तत्त्वकौ. १. २. सां. प्र. भा. १/२. ३. वही १/३. ४. १/४.

चलनेवाले ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ त्रिविध दुःख की अवश्य ही निवृत्ति कर देंगे। इस मत में 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् 'स्वर्ग की इच्छा करनेवाले को यज्ञ करना चाहिए' इत्यादि वाक्य भी प्रमाणरूप में उपन्यस्त किये जाते हैं। स्वर्ग का स्वरूप निर्धारित करते हुए तत्त्वकौमुदीकार वह श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें स्वर्ग उसे कहा गया है जो न दुःख से मिश्रित हो, न भविष्य में क्षयोन्मुख हो और जो सङ्कल्पमात्र से प्राप्त हो सके अर्थात् परिश्रम साध्य न हो। स्वर्ग दुःखहीन सुखविशेष है और यह अपनी सत्ता द्वारा दुःख को उसके मूल कारण (अपुण्य) के सहित नष्ट कर देता है। यह क्षयोन्मुख भी नहीं है क्योंकि श्रुति में भी कहा गया है 'हम देवों ने सोमपान किया और अमर हो गये।'[1] यदि स्वर्ग-सुख को क्षयोन्मुख स्वीकार किया जायेगा तो इस श्रुति का बाध होगा। इसलिए अनेक जन्मों के सतत परिश्रम से साधनीय विवेकज्ञान की अपेक्षा मुहूर्तमात्र में सम्पन्न होनेवाले सन्ध्या, उपासना आदि प्रहरमात्र में सम्पन्न होनेवाले पिण्ड, पितृ-यज्ञ आदि महीने भर में होनेवाले मासाग्निहोत्र आदि तथा वर्ष भर में सम्पन्न होनेवाले ज्योतिष्टोम आदि सुलभ उपायों के होते हुए सांख्यशास्त्रोक्त उपाय की जिज्ञासा व्यर्थ होगी।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु इस वेदोक्त उपाय की अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि लौकिक उपायों की ही भाँति वैदिक उपाय भी दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति करने में असमर्थ हैं।[3] अतः वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैदिक अनुष्ठान अशुद्धि, क्षय और अतिशय दोषों से युक्त हैं। सोम आदि यज्ञों का पशुहिंसा इत्यादि से सम्पादित होना ही यज्ञों की अशुद्धि है। पञ्चशिखाचार्य का एतत्सम्बन्धी मत इस प्रकार है 'स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः'[4] अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि से जन्य पुण्य या धर्म में हिंसा आदि से जन्य पाप या अशुद्धि का अत्यल्प मिश्रण तो रहता ही है जो प्रतिकार्य या सह्य होता है। अत्यल्प मिश्रण का अर्थ यह है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ से होनेवाले प्रधान पुण्य या धर्मरूप फल के साथ पशुहिंसा जन्य अधर्मरूप गौण फल भी होता है। सपरिहार का अर्थ यह है कि धर्म के साथ अधर्म का अत्यल्प मिश्रण होने के कारण अत्यल्प प्रायश्चित से उसका

---

१. ऋग्वेद ८/४८/३. २. तत्त्वकौ. १. ३. सां. प्र. भा. १/६.
४. तत्त्वकौ. २ में उद्धृत।

परिहार हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह अधर्म जो दुष्परिणाम उत्पन्न करता है वह सह्य भी होता है।[1]

मीमांसा का मत है कि यज्ञ में की गयी हिंसा पाप का कारण नहीं होती किन्तु सांख्यदार्शनिकों का मत है कि यज्ञ के लिए भी की गयी हिंसा से अहिंसा के वैदिक सिद्धान्त का व्याघात होता है। अतः यज्ञ आदि आनुश्रविक उपाय अविशुद्धि-दोष से युक्त हैं क्योंकि हिंसा उनका आवश्यक अङ्ग है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग आदि पदार्थ क्षयित्व-दोष से युक्त हैं। स्वर्ग की प्राप्ति यज्ञ-कर्मों के फलस्वरूप होती है और जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कार्य होता है उसका क्षयित्व या अनित्यत्व सिद्ध है।[2] पुण्य समाप्त हो जानेपर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है[3] तथा यज्ञ से प्राप्त होनेवाले कर्मफल स्वर्ग आदि विनाशी हैं, उनके विनाश के दुःख का विचार करके सुख के भोगकाल में भी दुःख होता है। ये वैदिक उपाय अतिशय दोष से भी युक्त हैं। अल्प कर्मानुष्ठान से अल्प सुख देव आदि की योनि प्राप्त होती है। दूसरे के द्वारा अधिक यज्ञ करने से अधिक सुखयुक्त इन्द्र-पदवी की प्राप्ति होती है।[4] स्वर्ग का जीवन भी तीनों गुणों से उन्मुक्त नहीं है, अतः वहाँ भी ईर्ष्या, द्वेष, दुःख इत्यादि हैं।

आचार्य विज्ञानभिक्षु वेदोक्त उपायों से भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि न होने के मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वेदोक्त कर्मों के कर्मसाध्य होने से पुनर्जन्म की सम्भावना रहती ही है। कर्म से कर्म-संस्कार सञ्चित होते हैं, उनसे सत्त्वबहुल स्थिति की प्राप्ति भले ही हो जाये किन्तु संस्कार रहने के कारण स्थूल-सूक्ष्म देह-धारण तथा लोकों में गमनागमन होता रहता है। सत्कर्मों से उत्पन्न पुण्य के समाप्त होनेपर उनसे उत्पन्न सुख की भी समाप्ति हो जाती है। अतः विनाशी फल वाले यज्ञ आदि कर्मों से अविनाशी फलरूप मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[5] यज्ञ आदि कर्मों में लोभ, हिंसा आदि दोष हैं अतः उनका आश्रय लेनेवाला मोक्षार्थी एक दुःख से दूसरे दुःख में गिरता है। सांसारिक दुःख से मुक्ति पाने के लिए यज्ञ आदिरूप कर्म का अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य की वैसी ही गति होती है जैसी कि शीत से पीड़ित मनुष्य की जल का अभिषेक कराने पर होती है[6] अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों से मनुष्य को दुःख से मुक्ति नहीं मिलती, अपितु वह अन्य प्रकार के दुःख से पीड़ित हो

---

१. तत्त्वकौ. २. २. माठ. २. तत्त्वकौ. २. ३. गीता ९/२१.
४. तत्त्वकौ. २. ५. सां. प्र. भा. १/८२. ६. सां. प्र. भा. १/८४.

जाता है। माठर तथा विज्ञानभिक्षु ने अपने मत के समर्थन के लिए भागवत-पुराण[1] के इस श्लोक को उद्धृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि 'जैसे कीचड़ से गन्दला जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता, मदिरा से मदिरा की अपवित्रता नहीं मिटायी जा सकती, उसी प्रकार बहुत से हिंसाबहुल यज्ञों द्वारा एक भी प्राणी की हत्या का प्रायश्चित नहीं किया जा सकता।' किन्तु श्रुतियों में यज्ञों से स्वर्गप्राप्ति की बात स्वीकार की गयी है और स्वर्ग-सुख को नित्य बताया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि श्रुतियों में जहाँ स्वर्ग-सुख के नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है वहाँ गौण नित्यता अभिप्रेत है। 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋग्वेद ८/४/३) में अमृतत्व का अर्थ लक्षणा से चिरस्थायी है। इस मत का समर्थन विष्णुपुराण[2] से भी होता है। वहाँ कहा गया है कि भूतों के प्रलय-काल आने तक रहनेवाला स्थान ही अमृतत्व कहा जाता है। उनका मत है कि 'अपाम सोमममृता अभूम' को यदि मुख्य नित्यता का प्रतिपादक स्वीकार किया जायेगा तो 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (तैत्ति० आर० १०/१०) तथा 'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० उप० ३/८) आदि श्रुतियों के साथ विरोध होगा क्योंकि इन श्रुतियों में तत्त्वज्ञान द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।[3] अतः धार्मिक अनुष्ठान और यज्ञ कुछ समय के लिए दुःख का निवारण कर सकते हैं, किन्तु उसे सर्वदा के लिए समाप्त करने में असमर्थ हैं। मृत्यु भी दुःखों की निवृत्ति में असमर्थ है क्योंकि वही संस्कार जन्म-जन्मान्तर में हमारा अनुगमन करते हैं। दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सांख्यदार्शनिक इन दोनों मार्गों से विपरीत अर्थात् हिंसादि दोषरहित, अनित्य तथा विषम फल वाले और सुखरूप समझे जानेवाले स्वर्ग से भिन्न एवं श्रुति में प्रतिपादित विशुद्ध, नित्य तथा सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप विवेकख्याति का मार्ग ढूँढ निकालते हैं।[4]

तत्त्वज्ञान ही दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ का उपाय है

मानव दुःखों की अनिवार्य तथा सार्वकालिक निवृत्ति चाहता है। अतः दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए मानव की सांख्य प्रतिपादित व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के ज्ञान के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है।

---

१. भाग० १/८/५२. २. विष्णुपु. २/८/९७.
३. सां. प्र. भा. १/६. ४. सां. सूत्र १/५.

सांख्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त ज्ञ का विज्ञान ही दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति का उत्कृष्टतम साधन है।[1] मनुष्य के दुःख का कारण प्रकृति-पुरुष का अविवेक ही है। अविवेक के कारण ही प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और इसी अविवेक अर्थात् अभेद-प्रतीति के कारण पुरुष अपने को बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्त्ता मानकर सुखी दुःखी होता है। सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित व्यक्त के स्वरूप का ज्ञान, उसके मूल कारण अव्यक्त प्रकृति एवं दोनों से नितान्त पृथक् पुरुष के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से पुरुष का स्वयं को बुद्धिगत विषयों का कर्त्ता मानने का अज्ञान दूर हो जाता है। प्रकृति-पुरुष का यह अविवेक ही दुःखों का कारण है। अतः प्रकृति-पुरुष-विवेक से त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्य-दर्शन में मोक्षरूप फल विवेकख्याति का कार्य होने पर भी दुःख का प्रध्वंसाभाव कहा गया है। सांख्यदार्शनिक सत्कार्यवादी हैं इसलिए उनका दुःख का प्रध्वंस मानना वदतोव्याघात होगा किन्तु यहाँ पर दुःख के प्रध्वंसाभाव का अर्थ दुःख की अतीतावस्था है।[2] अतः सत्कार्यवाद के साथ कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार अतीतावस्था को प्राप्त वस्तु स्थूल या वर्तमान अवस्था को नहीं प्राप्त होती, उसी प्रकार दुःख 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' या 'विवेकख्याति' से अतीतावस्था को प्राप्त कर लेता है इसलिए पुनः गोचर या वेद्य नहीं होता। अन्य दुःख भी इसलिए वेद्य नहीं होंगे क्योंकि कारण-व्यापार के बिना कार्य नहीं उत्पन्न होता और विवेकज्ञान से पूर्व तक ही कारण (प्रकृति) का व्यापार होता है। अतः विवेकज्ञान के अनन्तर कारणरूप प्रकृति का व्यापार अवरुद्ध हो जाने से कार्यरूप किसी भी दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण आदि ग्रन्थों से प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे से भिन्न जानकर तथा शास्त्रीय तर्कों द्वारा उसे विनिश्चित करके दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अनुशीलन किये गये निदिध्यासनरूप विज्ञान से तत्त्व-साक्षात्कारात्मक विवेकज्ञान उत्पन्न होता है।

दुःख रजोगुण का कार्य है, अतः प्रकृति का धर्म है और पुरुष नित्य-शुद्ध, नित्य-बुद्ध और नित्य-मुक्त है इसलिए पुरुष सुख-दुःख से असम्पृक्त रहता है, तथापि पुरुष का दुःख से सम्बन्ध बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण होता है।

---

१. तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। (सांख्यका. २)। २. विद्वत्तो. २.

मन तथा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि विषय को ग्रहण करती है और सुख-दुःखमोहात्मक विषयों से उपरञ्जित हो जाती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष इन सभी विषयों को अपने में उपचरित करके उनमें अभिमान करता हुआ उनका उपभोग करता है और स्वरूपतः असङ्ग सुख-दुःख से असम्पृक्त होनेपर भी सुखी-दुःखी होता है। पुरुष का भोग तथा दुःख से सम्बन्ध प्रतिबिम्बरूप से ही होता है। वाचस्पति[१] तथा अनिरुद्ध[२] का मत है कि पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है और विषयाकार से भ्रमवश अपना तादात्म्य स्वीकार करता है, इसलिए वह दुःखी होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न है। उनका मत है कि बुद्धिवृत्ति में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है। दुःख आदि उपाधियों से चित्त का उन-उन रूपों में परिणमन होता है। विषयाकार में परिणत चित्त का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ता है, इस प्रकार प्रतिबिम्बरूप से ही पुरुष का दुःख से सम्बन्ध होता है और यही उसका भोग कहा जाता है।[3]

अन्य दार्शनिकों का मत है कि यदि दुःख का पुरुष से सम्बन्ध प्रतिबिम्ब-रूप से ही है, तो दुःखनिवृत्ति को पुरुषार्थ नहीं मानना चाहिए। विज्ञानभिक्षु का मत यह है कि यद्यपि दुःख का पुरुष से सम्बन्ध प्रतिबिम्बरूप से है तथापि उस दुःख का विषय पुरुष है, अतः दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ है।[४] जिस प्रकार स्फटिक के समीप स्थित जपाकुसुम का वर्ण वस्तुतः स्फटिक में सङ्क्रान्त नहीं होता प्रत्युत प्रतिबिम्बित होता है, जिससे स्फटिक के रक्त होने की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार बुद्धि में पुरुष सङ्क्रान्त नहीं होता किन्तु अविवेकी व्यक्ति बुद्धि के पुरुष में प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरुष को बुद्धि के धर्मों से युक्त समझता है।[५] जिस प्रकार जपाकुसुम को स्फटिक से पृथक् कर देने से ही स्फटिक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है, उसी प्रकार दुःख के निवारण के लिए बुद्धि और पुरुष के पृथक्-पृथक् ज्ञान की अपेक्षा है। इसलिए यद्यपि दुःख बुद्धि का ही धर्म है तथापि उसकी आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति पुरुषार्थ है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार दुःखनिवृत्ति को योगभाष्य तथा श्रुतियों में भी पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है।[६]

---

१. तत्त्वकौ. ५.　　२. अनि. ६/२०.　　३. सां.प्र.भा. १/१.

४. सां.प्र.भा. १/१.　　५. वही ६/२८.　　६. वही।

बन्धन और उसके प्रकार

आचार्य विज्ञानभिक्षु पुरुष के दुःख से सम्बन्ध को ही बन्धन मानते हैं।[1] सांख्य-दर्शन में प्राकृतिक, वैकृतिक तथा दाक्षिण के भेद से बन्धन को तीन प्रकार का माना गया है। भावागणेश ने पञ्चशिख के अधोलिखित श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें बन्धन के यही तीन प्रकार बताये हैं—

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ॥

यही श्लोक 'उक्तम्' कहकर गौडपादभाष्य (४४, ६२) में कुछ पाठ भेद के साथ उद्धृत मिलता है।

प्राकृतिक बन्धन

अष्ट प्रकृतियों में अभिमान से प्राकृतिक बन्धन होता है।[2] माठर[3] जयमङ्गलाकार[4] के अनुसार जो प्रकृति से परे किसी तत्त्व को नहीं मानते उनको प्राकृतिक बन्धन होता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्राकृतिक बन्धन उनको प्राप्त होता है जो प्रकृति को ही आत्मा मानते हुए उसी की उपासना करते हैं। प्रकृति की भावना करनेवाले पूरे सौ मन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं।[5] सांख्यचन्द्रिकाकार ने वाचस्पति मिश्र का मत स्वीकार किया है।[6]

वैकृतिक बन्धन

प्रकृति के विकारों को परम तत्त्व मानने से वैकारिक बन्धन होता है। माठर के अनुसार ब्रह्मा आदि में श्रेय-बुद्धि ही वैकारिक बन्धन है।[7] जयमङ्गलाकार के अनुसार विकार को पुरुषार्थ माननेवाले विकारवादियों को वैकारिक बन्धन होता है।[8] वाचस्पति मिश्र के अनुसार वैकृतिक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों (पृथिवी आदि महाभूत), इन्द्रियों, अहङ्कार और बुद्धि

---

१. बन्धोऽत्र दुःखयोग एव। (सां. प्र. भा. १/७)।
२. प्राकृतोऽष्टप्रकृतिष्वभिमानरूपः। (तत्त्वया. २१)।
३. तत्र प्राकृतबन्धो नामाष्टासु प्रकृतिषु परत्वेनाभिमानः। (माठ. ४४)।
४. येषां प्रकृतिरेव परतत्त्वं नान्यत्, तेषां प्रकृतिवादिनां प्राकृतिको बन्धः। (जयम. ४४)।
५. तत्त्वकौ. ४४. ६. सांख्यचं. ४४.
७. वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः। (माठ. ४४)।
८. येषां विकार ऐश्वर्यलक्षणः पुरुषार्थ इति, तेषां विकारत्ववादिनां वैकारिको बन्धः। (जयम. ४४)।

इत्यादि प्रकृति की विकृतियों की ही पुरुष-भावना से उपासना करते हैं। इन्द्रियों के उपासक दस मन्वन्तरों तक, महाभूत के उपासक सौ मन्वन्तरों तक, अहङ्कार के उपासक सहस्र मन्वन्तरों तक त्रिविध दुःख से रहित होकर उनमें स्थित रहते हैं इन्हें ही विदेह कहा जाता है।[1] भावागणेश के अनुसार प्रव्रजित पुरुषों का जो शब्दादि विषयों में मानसिक सङ्ग अर्थात् लगाव है, वह वैकृतिक बन्धन है।[2] सांख्यचन्द्रिकाकार के अनुसार इन्द्रियों की आत्मबुद्धि से उपासना करने से वैकृतिक बन्धन होता है। इन्द्रियों के उपासक दस मन्वन्तर तक दुःख से रहित होकर रहते हैं।[3]

दाक्षिण बन्धन

दाक्षिण बन्धन के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी टीकाकारों में मतैक्य है। दान तथा दक्षिणा देने से तथा इष्ट और पूर्त कर्मों के करने से दाक्षिण बन्धन प्राप्त होता है।[4]

बन्धन के कारण

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि बन्धन पुरुष में स्वाभाविक नहीं है अपितु औपाधिक है। पुरुष का बन्धन प्रतिबिम्बमात्र होने के कारण वाङ्मात्र है, तात्त्विक नहीं।[5] यदि बन्धन पुरुष का स्वाभाविक धर्म हो तो उसे दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि जब तक द्रव्य रहता है तब तक उसके स्वाभाविक धर्म का विनाश नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि अपने स्वाभाविक धर्म उष्णत्व से पृथक् नहीं होती उसी प्रकार बन्धन को पुरुष का स्वाभाविक धर्म मानने पर

----

१. वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धिः पुरुषधियोपासते तान् प्रतीदमुच्यते–
दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः॥ इति। (तत्त्वकौ. ४४)।

२. द्वितीयस्तु प्रव्रजितानामपि शब्दादिषु मनसः सङ्गः। (तत्त्वया. २१)।

३. वैकृतिक आत्मबुद्ध्येन्द्रियोपासननिबन्धनो यथा—
दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। इत्यादि। (सांख्यचं. ४४)।

४. ...गृहस्थादीनां कामोपहतचेतसां दक्षिणां ददतां दक्षिणाबन्धः। (तत्त्वया. २१)।

५. बन्धादीनां सर्वेषां चित्त एवावस्थानात् तत् पुरुषे वाङ्मात्रं सर्वं स्फटिकलौहित्यवत् प्रतिबिम्ब-मात्रत्वात्। (सां. प्र. भा. १/५८)।

वह कभी समाप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि पुरुष नित्य तत्त्व है। वे अपने मत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कूर्मपुराण से एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसका आशय यह है 'यदि आत्मा स्वभाव से अशुद्ध, अशुचि तथा विकारवान् होती तो वस्तुतः इसका सैकड़ों जन्मों में भी मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता।'[1]

पुरुष का स्वाभाविक बन्धन न होने का निराकरण करने के पश्चात् पुरुष का बन्धन निमित्त विशेष से होता है इस मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यदि पुरुष का नैमित्तिक बन्धन माना जायेगा तो ज्ञान से बन्धन का उच्छेद नहीं हो सकेगा। नैमित्तिक बन्धन होने के मत के खण्डन के लिए वे क्रमशः एक-एक निमित्त का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि पुरुष का बन्धन दिक् और काल से भी नहीं हो सकता क्योंकि दिक् और काल नित्य एवं सर्वव्याप्त होने से मुक्त तथा बद्ध सभी पुरुषों से सम्बद्ध रहते हैं। अतः दिक् और काल से सभी पुरुषों का सदा सम्बन्ध बना रहेगा और बन्धन नित्य हो जायेगा तथा कभी भी कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकेगा।[2]

अवस्था विशेष से भी पुरुष का बन्धन होने के मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि किसी अवस्था विशेष के कारण भी पुरुष का बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि अवस्था शरीर का धर्म है। अवस्था अचेतन शरीर का धर्म होने से चेतन पुरुष के बन्धन का कारण नहीं हो सकती। यदि शरीर के धर्म से पुरुष का बन्धन स्वीकार करेंगे तो अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और मुक्त पुरुष को भी बन्धन की आपत्ति होगी।[3]

पुरुष में अवस्थारूप विकार के न होने के मत का प्रतिपादन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अवस्था शरीर का धर्म है पुरुष का नहीं क्योंकि पुरुष में अवस्थारूप विकार स्वीकार करने पर उसके हेतुभूत संयोग कहे जानेवाले सङ्ग की आपत्ति होगी। पुरुष के असङ्ग होने में श्रुति भी है 'वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है (बृह० उप० ४/३/१६)।[4] इसलिए अवस्था असङ्ग पुरुष का धर्म नहीं हो सकती और शरीर के धर्म अवस्था से पुरुष का बन्धन नहीं हो सकता।

----

१. सां. प्र. भा. १/७. २. वही १/१२–१३. ३. वही १/१४.

४. पुरुषस्यासङ्गत्वादवस्थाया देहमात्रधर्मत्वमिति... । पुरुषस्यावस्थारूपविकारस्वीकारे विकार-हेतुसंयोगाख्यः सङ्ग प्रसज्येतेतिभावः। असङ्गत्वे च श्रुतिः—स यदत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति असङ्गो ह्ययं पुरुष इति। (सां. प्र. भा. १/१५)।

कर्म से भी पुरुष का बन्धन न होने के मत का प्रतिपादन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि विहित और निषिद्ध कर्म से भी पुरुष का बन्धन नहीं हो सकता। कर्म पुरुष का धर्म नहीं है। कर्म से बन्धन स्वीकार करने पर अन्य के धर्म से अन्य के बन्धन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अपनी-अपनी उपाधिरूप कर्म से बन्धन स्वीकार करने पर यह दोष नहीं होगा, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि ऐसा मानने पर अतिप्रसक्ति दोष होगा। अपनी-अपनी उपाधिरूप कर्म से बन्धन मानने पर प्रलयकाल में भी दुःखयोगरूप बन्धन की आपत्ति होगी।[1]

साक्षात् प्रकृति से भी पुरुष का बन्धन नहीं होता इस मत का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृति से भी पुरुष का बन्धन नहीं होता। प्रकृति से पुरुष के संयोग-विशेष के बिना ही बन्धन स्वीकार करने पर प्रलय में भी दुःखरूप बन्धन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[2]

पुरुष के बन्धन के इन निमित्तों के खण्डन के पश्चात् आचार्य विज्ञानभिक्षु नास्तिकों को अभिप्रेत बन्धन के कारणों का निराकरण करते हैं।[3] उनका मत है कि क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध प्रकृति आदि किसी ऐसी बाह्य वस्तु की सत्ता ही नहीं स्वीकार करते जिससे औपाधिक या तात्त्विक बन्धन हो। वे केवल क्षणिक विज्ञानसन्तान को ही एकमात्र तत्त्व मानते हैं तथा समस्त पदार्थों को सांवृतिक मानते हैं। यह संवृति मिथ्या ज्ञान कही जानेवाली अविद्या है और यही बन्धन का कारण है।[4] इन विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि अविद्या से भी पुरुष का साक्षात् बन्धन नहीं होता। अद्वैतवादियों (विज्ञानवादियों) की अविद्या अवस्तु है, अतः उससे बन्धन मानना अनुचित है क्योंकि स्वप्न में देखी गयी रज्जु से बन्धन होना नहीं देखा जाता। उनका मत है कि बन्धन को अवास्तविक नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वयं सूत्रकार ने बन्धन के अवास्तविक होने का निराकरण किया है। अविद्या से बन्धन होने के मत का निराकरण करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि विज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है तथा अविद्या से होनेवाला बन्धन मिथ्या है इसका श्रवण हो जाने पर एवं बन्धनिवृत्ति के फल का निश्चय हो जाने पर बन्धनिवृत्ति के लिए किये गये बहुत प्रयास से साध्य योगाङ्गों के अनुष्ठान के साथ विरोध होगा।[5] वे विज्ञानवादियों

---

१. सां. प्र. भा. १/१६. २. वही १/१८. ३. वही १/२० अव.
४. सां. प्र. भा. १/२० अव. ५. वही १/२०.

के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि अविद्या को विज्ञानवादी वस्तु मानेंगे तो अविद्या के मिथ्या होने के उनके मत की ही हानि होगी।[1] विज्ञानवादियों के द्वारा अविद्या को वस्तु मानने में विरोध दिखाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अविद्या को वस्तु मानने पर क्षणिक विज्ञानसन्तान में विजातीय द्वैत की आपत्ति होगी जो विज्ञानवादियों को स्वीकार नहीं है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि इन सूत्रों से ब्रह्म-मीमांसा के सिद्धान्त का निराकरण हो जायेगा, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि ब्रह्म-मीमांसा के किसी भी सूत्र में अविद्यामात्र को बन्धन का कारण नहीं कहा गया है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इन्हीं सूत्रों से मायावादियों के अविद्यामात्र को बन्धन का कारण मानने के तर्क का निराकरण हो जाता है। अविद्या को सदसत् विलक्षण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इस प्रकार के पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। पूर्वपक्षी कहता है कि हम वैशेषिकों या नैयायिकों की भाँति छः या सोलह पदार्थ नहीं मानते इसलिए हम सदसत् पदार्थ या सदसत् विलक्षण पदार्थ मान सकते हैं।[2] इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि आपके मत में पदार्थ का नियम न हो किन्तु आप भाव-अभाव विरोधी तथा युक्तिविरुद्ध पदार्थ नहीं मान सकते।[3]

बौद्धों के अन्य सम्प्रदाय का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि दूसरे नास्तिक कहते हैं कि बाह्य विषय क्षणिक हैं। उनकी वासना से जीव का बन्धन होता है।[4] इनके मत में दोषोद्भावना करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रवाहरूप अनादि विषय-वासना से भी पुरुष का बन्धन नहीं हो सकता[5] क्योंकि बाह्य विषयों तथा अन्तःस्थ आत्मा में उपरंजक तथा उपरज्य भाव सम्भव नहीं है। संयोग होनेपर ही वासना कहा जानेवाला उपराग दिखायी देता है।[6] पूर्वपक्षी कहता है कि आपकी इन्द्रियों की भाँति हमारी आत्मा भी विषयदेश में गमन करेगी और उसका विषय से संयोग हो जायेगा जिससे विषयोपराग सम्भव हो जायेगा।[7] इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि आत्मा के विषयदेश में गमन करने के कारण बद्ध और मुक्त आत्मा का एक ही विषयदेश में विषयोपराग होगा और मुक्त पुरुष को भी बन्ध की आपत्ति होगी।[8] पूर्वपक्षी कहता है कि मुक्त और बद्ध पुरुष का एक देश में

---

१. सां. प्र. भा. १/२१. २. वही १/२५. ३. वही १/२६. ४. वही १/२७ अव.
५. वही १/२७. ६. वही १/२८. ७. वही १/२९ अव. ८. वही १/२९.

सम्बन्ध होने से विषय-संयोग में साम्य होनेपर भी अदृष्ट से ही विषयोपराग होगा।[१] इस शङ्का का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि क्षणिकवाद को स्वीकार करने के कारण आप के मत में कर्त्ता और भोक्ता की स्थिति एक काल में नहीं हो सकती, अतः दोनों में उपकार्य-उपकारक-भाव भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कर्ता के अदृष्ट से भोक्ता को होनेवाला विषयोपराग सम्भव नहीं है।[२] पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करता है कि जिस प्रकार पितृनिष्ठ पुत्र-कर्म से पुत्र का उपकार होता है उसी प्रकार अन्य में रहनेवाले अदृष्ट से विषयोपराग हो जायेगा।[३] इस शङ्का का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि पूर्वपक्षी के मत में पुत्रेष्टि से भी पुरुष का उपकार नहीं घटित होता क्योंकि क्षणिकवादी के मत में गर्भाधान से जन्मपर्यन्त कोई स्थायी आत्मा नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के मत में यह दृष्टान्त ही असिद्ध है।[४]

आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अन्य नास्तिक बौद्धों का मत है कि क्षणिकवादी होने से हमारे यहाँ बन्धन अनियतकारणक या अभावकारणक है।[५] बन्ध आदि दीपशिखा की भाँति क्षणिक है क्योंकि किसी भी स्थिर कार्य की सिद्धि नहीं होती।[६] आचार्य विज्ञानभिक्षु क्षणिकवादियों के इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा से कार्य के स्थिर होने की सिद्धि होती है तथा पदार्थ के क्षणिक होने का बाध होता है।[७] विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि कार्यकारणात्मक समस्त सृष्टि को क्षणिक मानने पर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो० उप० ६/२/१), 'तम एवेदमग्र आसीत्' (मैत्रा० आर० ५/२) आदि श्रुतियों तथा 'कथमसतः सज्जायेत' (छान्दो० उप० ६/२/२) का विरोध होगा।[८] उनका मत है कि क्षणिकवाद मानने पर मिट्टी और घड़े का सर्वलोकसिद्ध कार्यकारण भाव भी सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि कार्य-कारण दोनों ही एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे।[९] क्षणिकवाद के सिद्धान्त में दोषोद्भावना करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि क्षणिकवाद मानने पर कारण के अत्यन्त नाश होनेपर कार्य

---

१. सां.प्र.भा. १/३०. २. वही १/३१. ३. वही १/३२. ४. वही १/३३.

५. ननु बन्धस्यापि क्षणिकत्वादनियतकारणकोऽभावकारणको वा बन्धोऽस्ति...। (सां.प्र.भा. १/३४ अव.)।

६. ...बन्धादि क्षणिकं सत्त्वाद्दीपशिखादिवदिति। ...एतदेवोक्तं स्थिरकार्यासिद्धेः। (वही १/३४)।

७. ...प्रत्यभिज्ञया स्थैर्यसिद्धेः क्षणिकत्वस्य बाधात्। (वही १/३५)।

८. वही १/३६. ९. वही १/३८.

की उत्पत्ति माननी होगी किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि कार्य सदैव उपादानकारण से अनुगत ही होता है। अतः क्षणिकवाद में कार्यकारण-भाव सम्भव नहीं है।[1] बौद्धों के मत में दोष दिखाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि क्षणिकवाद में कारण का स्थितिकाल में कार्य से कोई सम्बन्ध न रहने से और दोनों के क्रमिक तथा विरुद्ध काल में होने से अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों युक्तियों का व्यभिचार होता है अतः उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं हो सकता।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु विज्ञानवादियों के मत का उपस्थापन करते हुए कहते हैं कि अन्य नास्तिक कहते हैं कि विज्ञान के अतिरिक्त पदार्थ न होने से बन्ध भी स्वप्न में देखे गये पदार्थों के सदृश विज्ञानमात्र है। अतः अत्यन्त मिथ्या होने से उसका कोई कारण नहीं है।[3] बौद्धों के इस मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि केवल विज्ञान ही एकमात्र तत्त्व नहीं है क्योंकि विज्ञानों की भाँति ही बाह्य पदार्थों की भी प्रतीति होती है।[4] पूर्वपक्षी कहता है कि स्वप्न आदि के दृष्टान्त से दृश्यत्व हेतु के आधार पर मिथ्यात्व के अनुमान से बाह्य वस्तु के अनुभव का बाध होता है। 'यह सब चित् ही है, अतः विज्ञानमात्र ही हैं, न प्रपञ्च है और न संसृति' इन श्रुति-स्मृति वाक्यों से इस मत का समर्थन होता है।[5] विज्ञानभिक्षु इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि बाह्य पदार्थ का अभाव मानने पर बाह्य पदार्थों के ही समान विज्ञान के भी अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और तब शून्य को ही एकमात्र तत्त्व मानना होगा।[6]

विज्ञानवाद का खण्डन करने के पश्चात् आचार्य विज्ञानभिक्षु शून्यवाद के मत का खण्डन करते हैं। पूर्वपक्ष उठाते हुए वे कहते हैं कि शून्य ही तत्त्व हो तब सुतरां तुच्छ बन्धन के कारण को ढूँढना अयुक्त है।[7] शून्यवादियों का मत है कि शून्य ही तत्त्व है समस्त भाव-पदार्थ विनाशी हैं और जो विनाशी है वह स्वप्न की भाँति मिथ्या है। सभी वस्तुओं के आदि और अन्त का अभाव होने से मध्य में भी उनकी सत्ता नहीं है। क्षणिक पदार्थ सांवृतिक है अतः बन्ध आदि भी पारमार्थिक नहीं है।[8] शून्यवादियों के इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि भाव-पदार्थ का विनाश होता है—यह मूर्खों

---

१. सां. प्र. भा. १/३८. २. वही १/४०. ३. वही १/४२ अव.
४. वही १/४२. ५. वही १/४३ अव. ६. वही।
७. वही १/४४ अव. ८. वही १/४४.

का कथनमात्र है। भाव-पदार्थ व्यक्त या अव्यक्त रूप में रहता है। शून्य को ही एकमात्र तत्त्व मानने के मत में असङ्गति दिखाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यदि शून्यवादी शून्य तत्त्व की सिद्धि के लिए प्रमाण स्वीकार करेंगे तो उनके शून्यता के सिद्धान्त की क्षति होगी और यदि प्रमाण को नहीं स्वीकार करेंगे तो प्रमाण के अभाव में शून्य तत्त्व की सिद्धि नहीं की जा जकेगी।[1] शून्यवाद में अन्य दोष दिखाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि क्षणिकवाद के खण्डन में दिये गये प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति के तर्क से तथा विज्ञानवाद के खण्डन में दिये गये बाह्य पदार्थ की प्रतीति के तर्क से शून्यवाद का भी खण्डन हो जाता है।[2] विज्ञानभिक्षु पुनः कहते हैं कि शून्यवादी शून्यता को दुःख-निवृत्तिरूप होने से अथवा उसके साधनरूप से पुरुषार्थ मानते हैं[3] किन्तु चाहे स्वतः हो या परतः शून्यता की पुरुषार्थता सम्भव नहीं है।[4]

इस प्रकार विज्ञानभिक्षु नास्तिकों में प्रचलित बन्धन के कारणों के मतों का खण्डन करके आस्तिकों में समादृत तथा पहले जिनका खण्डन नहीं हुआ है ऐसे बन्धन के कारणों के मतों का खण्डन करते हैं।[5] विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि शरीर में प्रवेश इत्यादि रूप गतिविशेष से भी पुरुष का बन्धन होता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुरुष निष्क्रिय है, अतः उसमें गति नहीं हो सकती।[6] विज्ञानभिक्षु कर्म को पुरुष का बन्धन मानने के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि कर्म से भी पुरुष का साक्षात् बन्धन नहीं होता क्योंकि कर्म अर्थात् कर्मानुष्ठानजनित धर्माधर्मरूप अदृष्ट चित्त का धर्म है, पुरुष का नहीं।[7] यदि अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन माना जायेगा तो मुक्त पुरुष के भी बन्धन में पड़ने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[8] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने बन्धन के पूर्वोक्त कारणों का खण्डन करके प्रकृति-पुरुष के अविवेक को ही बन्धन का कारण स्वीकार किया है। उनके मत से प्रकृति-पुरुष

१. सां. प्र. भा. १/४५. २. वही १/४६. ३. वही १/४७ अव.

४. उभयथा स्वतः परतश्च शून्यतायाः पुरुषार्थत्वं न सम्भवति। (सां. प्र. भा. १/४७)।

५. तदेवं बन्धकारणविषये नास्तिकमतानि दूषितानि। इदानीं पूर्वनिरस्तावशिष्टान्यास्तिक-सम्भाव्यान्यप्यन्यानि बन्धनकारणानि निरस्यन्ते। (सां. प्र. भा. १/४८ अव.)।

६. वही १/४८-४९.

७. कर्मणा दृष्टेनापि साक्षान्न पुरुषस्य बन्धः। कुतः पुरुषधर्मत्वाभावात्। (वही १/५२)।

८. बन्धतत्कारणयोर्भिन्नधर्मत्वेऽतिप्रसक्तिः, मुक्तस्यापि बन्धापत्तिः। (वही १/५३)।

का यह अविवेक संयोग द्वारा ही बन्धन का कारण बनता है, साक्षात् अविवेक बन्धन का कारण नहीं है।[1]

अविवेक बन्धन का कारण है

विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष के बन्धन का कारण अविवेक है। इसी से पुरुष को बन्धन की प्राप्ति होती है और इस अविवेक की निवृत्ति से ही उसे मोक्ष मिलता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने मायावादियों का खण्डन करते हुए बड़ी सुन्दर रीति से अविवेक का स्वरूप प्रतिपादित किया है। मायावादियों की भाँति वे अविद्या को तुच्छ नहीं मानते क्योंकि भ्रम की अवस्था में होनेवाला ज्ञान वास्तविक ज्ञान होनेपर तत्काल नष्ट हो जाता है, किन्तु अद्वैत ज्ञान के बाद भी विना योगाभ्यास किये अविद्या की निवृत्ति नहीं होती।[2] इसलिए यह स्पष्ट है कि अविद्या तुच्छ नहीं है अपितु यौगिक क्रियाओं से ही दूर की जा सकती है। अविद्या केवल दूर ही की जा सकती है इसका आत्यन्तिक विलोप नहीं किया जा सकता। यदि केवल आत्मज्ञान से अविद्या को दूर किया जा सकता तो कौन कठोर योगाभ्यास करता? अतः अद्वैत ज्ञान होनेपर भी अविद्या से होनेवाले बन्धन की निवृत्ति में योगाभ्यास आवश्यक है इसलिए अविद्या तुच्छ नहीं है।

अविवेक का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त में माया और अविद्या को पर्यायवाची स्वीकार किया गया है। अविद्या का स्वरूप सत् और असत् से परे अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है। विज्ञानभिक्षु अविद्या के इस स्वरूप को असङ्गत बताते हुए कहते हैं कि एक ही समय में किसी भी वस्तु को सत् और असत् से भिन्न अर्थात् भावात्मक तथा अभावात्मक से भिन्न मानना स्ववचोविरुद्ध है। अविद्या को यदि सत् माना जाये तो फिर अद्वैत की मान्यता का खण्डन हो जायेगा क्योंकि ब्रह्म की भाँति यदि अविद्या भी सत् हो जायेगी तो दो पारमार्थिक सत्ताएँ होंगी और अद्वैत कहाँ रह जायेगा? इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए विज्ञानभिक्षु ने अविवेक का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि अविवेक पुरुष की भाँति कूटस्थ नहीं है, तथापि घट, पट, मठ आदि की भाँति वास्तविक

---

१. सां. प्र. भा. १/५५. २. अविवेको युक्तितः श्रवगतश्च न बाध्यते। (वही १/५९)।

है। इस प्रकार उनके अनुसार अविवेक या अविद्या अभावरूप नहीं, अपितु विद्या-विरोधी ज्ञानान्तर है।[१] अविवेक और अविद्या पर्यायवाची शब्द हैं। यह अविवेक वृत्तिरूप नहीं है, अपितु वासनारूप है।[२] योगसूत्रकार का भी यही मत है।[३] अविवेक की परिभाषा विज्ञानभिक्षु ने व्यतिरेक विधि से यह कहकर की है कि यह अविवेक असंसर्ग को न ग्रहण करनेवाला प्रकृति-पुरुष का अशुद्ध ज्ञान है।[४] प्रकृति और पुरुष की विविक्तता को न ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही अविद्या है।

पुरुष के बन्धन का साक्षात् कारण अविवेक भी नहीं है प्रत्युत प्रकृति-पुरुष का संयोग ही है। प्रकृति-पुरुष का संयोग स्वाभाविक नहीं है प्रत्युत अविवेक ही प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण है इसलिए वह बन्धन का परम्परया कारण है।[५] अविद्या से प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और संयोग से बन्धन होता है। मुक्त पुरुषों में अविद्या नहीं होती इसलिए उनका बन्धन कभी नहीं होता। प्रकृति-पुरुष के संयोग की अपर संज्ञा जन्म है। यह अविवेक संयोग कहे जानेवाले जन्म का तीन प्रकार से हेतु होता है—(१) साक्षात्, (२) धर्म-अधर्म को उत्पत्ति द्वारा तथा (३) राग आदि द्वारा।[६] संयोग कहे जानेवाले जन्म द्वारा अविवेक बन्धन का मूल कारण है।[७] जिस प्रकार अन्धकार आलोकरूपी नियत कारण से दूर होता है उसी प्रकार अविद्या भी विद्यारूप नियत कारण से दूर होती है[८] तथापि योगाभ्यास आदि कर्म अविद्या की निवृत्ति में सत्त्व शुद्धि के द्वारा सहायक बनते हैं।[९] आचार्य विज्ञानभिक्षु इस अविवेक या अविद्या को सृष्टि के उपादान-कारणरूप प्रकृति या माया से सर्वथा भिन्न मानते हैं।[१०]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि योग-दर्शन में बताये गये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश बन्धन के हेतु विपर्यय के ही अवान्तर

---

१. अतएव चाविद्या नाभावोऽपि तु विद्याविरोधि ज्ञानान्तरम्। (सां.प्र.भा. १/५५)।

२. अस्मन्मते च वासनारूपस्यैवाविवेकस्य संयोगाख्यजन्महेतुतया तमोवदावरकत्ववृद्धिह्रासादिकमञ्जसैवोपपद्यते। (सां. प्र. भा. १/५५)।

३. तस्य हेतुरविद्या। (योगसूत्र २/२४)।

नोट—विज्ञानभिक्षु ने अविवेक तथा अविद्या शब्द का प्रयोग पर्याय रूप में किया है।

४. अयं चाविवेको गृहीतासंसर्गकमुभयज्ञानमविद्यास्थलाभिषिक्त एव विवक्षितः। (सां. प्र. भा. १/५५)।

५. अविवेकश्च संयोगद्वारैव बन्धकारणम्...। (वही)। ६. वही।

७. वही। ८. वही १/५६. ९. वही। १०. वही १/६९.

भेद हैं।[१] योगसूत्र में भी बन्धन का कारण विपर्यय अर्थात् क्लेश को स्वीकार किया गया है और उसे पञ्चविध भी माना गया है।[२] अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों को नित्य, शुचि, सुख तथा आत्म-पदार्थ मानना अविद्या है।[३] आत्मा तथा अनात्मा की एकता का बोध ही अस्मिता है। शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इस प्रकार का ज्ञान ही अस्मिता है।[४] सुख-भोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहनेवाली अभिलाषा राग है। दुःख-भोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहनेवाला क्रोध द्वेष है। मरण आदि से होनेवाले भय को अभिनिवेश कहते हैं।[५] इस विपर्यय का कारण अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ हैं।[६] ग्यारह इन्द्रियवध तथा सत्रह बुद्धिवध मिलकर अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ हैं।[७] बधिरता, कुष्ठिता, अन्धता, अजिघ्रता, मूकता, अस्वादता, कौण्य, पङ्गुता, क्लीबता तथा मनःप्रमाद ग्यारह इन्द्रियवध हैं। अष्टसिद्धियों तथा नवतुष्टियों के विघातक ही सत्रह बुद्धिवध हैं।[८] इस प्रकार ये अशक्तियाँ विपर्यय अर्थात् अविवेक को उत्पन्न करती हैं।

मोक्ष का अभिप्राय बन्धन से मुक्त होना है। किन्तु यथार्थ में पुरुष का मोक्ष नहीं होता क्योंकि वह स्वभावतः नित्य मुक्त है! पुरुष अज एवं नित्य है। चैतन्य उसका स्वरूप है, गुण अथवा धर्म नहीं। पुरुष त्रिगुणातीत है इसलिए वह वस्तुतः दुःख से विरहित है। त्रिविध दुःख का उसमें नितान्त अभाव है। पुष्कर-पत्रवत् वह राग, द्वेष, मोह, लोभ तथा क्रोध इत्यादि समस्त विकारों से रहित एवं निर्लिप्त है। वह कारणरहित, अपरिणामी, निर्विकारी, कूटस्थ, निरवयव, असंहत, विवेकी, स्वतन्त्र, किसी तत्त्व में लय को न प्राप्त होने के कारण अलिङ्ग, अविषय, असामान्य, विभु एवं व्यापक है। पुरुष देश-काल कारण आदि बन्धनों से परे है। प्रकृति की परिधि से भी वह अपरिच्छिन्न तथा विनिर्मुक्त है। वह निष्क्रिय एवं अकर्त्ता है। अतः सभी प्रकार के कर्मों

---

१. सां. प्र. भा. ३/३७.

२. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगसूत्र २/३)। क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। (योगभा. २/३)।

३. ...अविद्याऽनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः। (सां. प्र. भा. ३/३७)।

४. सां. प्र. भा. ३/३७.

५. अभिनिवेशश्च मरणादित्रासः। (सां. प्र. भा. ३/३७)।

६. विपर्ययस्य स्वरूपमुक्त्वा तत्कारणस्याशक्तेरपि स्वरूपमाह। (वही ३/३८ अव.)।

७. वही ३/३८.

८. वही ३/३८.

का उसमें पूर्ण अभाव है। वह असङ्ग, उदासीन, मध्यस्थ, साक्षी, द्रष्टा तथा चेतन है। इसके विपरीत प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, प्रसवधर्मा, सुख-दुःख मोहरूपा है। इसलिए पुरुष का न तो बन्धन होता है, न संसरण और न ही मोक्ष, प्रत्युत विविध पुरुषों के आश्रय में रहनेवाली प्रकृति का ही बन्धन, संसरण तथा मोक्ष होता है।[1]

स्वरूपतः अबद्ध, मुक्त होते हुए भी पुरुष अपने को बन्धनग्रस्त समझता है। अनादि अविद्या के कारण द्रष्टा, अविषय और चेतन पुरुष दृश्य, भोग्या और विषयरूपा अचेतन प्रकृति के साथ संयोग द्वारा, तद्गत समस्त धर्मों को अपने में उपचरित करके बन्धग्रस्त होता है तथा जरा-मरण के चक्र में फँसकर प्रकृति-प्रदत्त विषयों का उपभोग करते हुए सुख-दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि सुख-दुःख बुद्धि के धर्म हैं तथापि उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ पुरुष बुद्धिगत सभी भावों को अपना मान लेता है तथा स्वरूपतः असङ्ग होनेपर भी उनसे संसक्त होकर अहंवृत्ति से अभिमान करता हुआ उन भावनाओं का भोक्ता हो जाता है।[2] जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक जपाकुसुम के सान्निध्य से स्वयं भी उपरञ्जित हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि में रहनेवाले सुख-दुःख मोह आदि भावों का अनुभव करता है और बन्धन को प्राप्त करता है।[3] प्रकृति के ही विकारभूत महत्तत्त्व, अहङ्कार, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्र-रूप अष्टादश तत्त्वों से निर्मित (या विज्ञानभिक्षु को मान्य सप्तदश तत्त्वों से निर्मित) सूक्ष्म-शरीर ही संसरण करता है। किन्तु अविवेक के कारण पुरुष इस सूक्ष्म-शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वयं भी संसरण करता है और विविध प्रकार के विषयों का भोग करता हुआ जरा-मरण के दुःख का अनुभव करता है।[4] इसीलिए पुरुष का बन्धन, संसरण तथा मोक्ष कहा जाता है। अतः पुरुष के बन्धन एवं संसरण का कारण अनादि अविद्या या अविवेक ख्याति है। जब तक पुरुष स्वयं को प्रकृति से भिन्न नहीं समझता तभी तक वह बद्ध रहता है। प्रकृति-पुरुष विवेकख्याति, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति होते ही वह पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः अज्ञान से बन्धन तथा ज्ञान से मोक्ष होता है।

---

१. सां. प्र. भा. ३/७२ तथा सांख्यका. ६२.

२. तत्त्वकौ. ५ तथा सां. प्र. भा. १/१.

३. सां. प्र. भा. ६/२८. ४. सांख्यका. ५५.

मोक्ष

सांख्य-दर्शन में कैवल्य, मोक्ष तथा अपवर्ग इन तीनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची मानकर किया गया है। त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। सांख्य-दर्शन में आत्यन्तिक शब्द का अभिप्राय सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के दुखों की निवृत्ति है। दुःख की स्थिति चित्त में होती है,[1] पुरुष में नहीं। जब तक चित्त की स्थिति रहती है, तब तक दुःख की सत्ता रहती है, इसलिए चित्त की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है।[2] यद्यपि जीवन्मुक्ति की दशा में चित्त की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती तथापि यह कैवल्य की ही अवस्था है क्योंकि इस दशा में अनागत दुःखों के बीज का नाश हो जाता है। इसलिए चित्त रहने पर भी अनागत दुःखों की सम्भावना नहीं रह जाती। विदेह कैवल्य में चित्त के साथ ही साथ दुःखों की निवृत्ति हो जाती है इसीलिए विदेह कैवल्य ही शाश्वत मुक्ति है, जीवन्मुक्ति तो उसका ऐहिक स्वरूप है।

मोक्ष के प्रकार

तत्त्व-समास-सूत्र में बन्धन की भाँति ही मोक्ष को भी त्रिविध माना गया है।[3] तत्त्वसमाससूत्रों के व्याख्याकार आचार्य भावागणेश ने मोक्ष का त्रिविध रूप इस प्रकार निर्धारित किया है--(१) ज्ञान का उद्रेक होनेपर अविद्या-निवृत्तिरूप मोक्ष, (२) राग का नाश होनेपर इन्द्रियोपशमरूप मोक्ष तथा (३) तृष्णा का नाश हो जानेपर धर्म-अधर्म का अनुत्पादरूप मोक्ष। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने पञ्चशिख के इस वचन को उद्धृत किया है--

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृत्स्नक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

किन्तु भावागणेश इन तीनों प्रकार के मोक्ष को गौण मानते हैं तथा त्रिविध दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मुख्य मोक्ष स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए न्यायसूत्र (१/१/२) उद्धृत किया है।[4]

मोक्ष का स्वरूप

सांख्ययोग दर्शन में पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही कैवल्य या मोक्ष है।[5] कैवल्य की अवस्था में पुरुष प्रकृति और उसकी प्रसूति से अपने

---

१. सां. प्र. भा. १/५८. २. वही १/१. ३. त्रिविधो मोक्षः। (तत्त्वस. २२)।
४. तत्त्वया. २२. ५. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगसूत्र १/३)।

भेद का अनुभव कर लेता है। न्याय-दर्शन में मोक्षावस्था में चैतन्य को नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु सांख्य-दर्शन में चैतन्य की स्थिति को स्वीकार किया गया है क्योंकि चैतन्य तो पुरुष का स्वरूप ही है। किन्तु वेदान्त-दर्शन की भाँति सांख्यदार्शनिक मोक्षावस्था में आनन्द की सत्ता नहीं मानते क्योंकि सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित पुरुष आनन्दस्वरूप नहीं है। सांख्यदार्शनिकों के मतानुसार सुख या प्रीति सत्त्वगुण के कार्य हैं। अतः जहाँ कहीं सत्त्वगुण का कार्य सुख होगा वहाँ रजोगुण का कार्य दुःख भी दिखायी देगा (भले ही वह न्यून या अधिक हो) क्योंकि सभी गुण युग्म-भाव से रहते हैं, अतः उनका पृथक् होना असम्भव है। इसलिए मोक्ष में सुख या आनन्द नहीं है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति ही पुरुषार्थ है क्योंकि मनुष्य की दुःख से मुक्ति की इच्छा जितनी बलवती होती है उतनी सुखप्राप्ति की नहीं।[1] इसी दृष्टि से सांख्यदार्शनिकों ने मोक्षावस्था में सुख या आनन्द-प्राप्ति को आवश्यक नहीं समझा।[2] विज्ञानभिक्षु के मतानुसार सुख सदैव दुःख के साथ ही होता है, अतः विद्वान् लोग उसकी भी गणना दुःख कोटि में ही करते हैं।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि जहाँ कहीं भी मोक्ष को आनन्दरूप वर्णित किया गया है, वहाँ श्रुति का अभिप्राय अज्ञ लोगों की आत्मज्ञान में प्रवृत्ति करना है।[4] इसलिए सांख्यशास्त्र में कैवल्य की स्थिति को सुख या आनन्द विरहित ही स्वीकार किया गया है।

पुरुष निर्धर्मक है, अतः मुक्ति को आनन्दरूप धर्म की अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। सांख्य-दर्शन में पुरुष का स्वरूप आनन्दरूप नहीं है। किसी नवीन धर्म की अभिव्यक्ति तब होती है जब कि धर्मी द्रव्य अनेक धर्मों का आश्रय हो। पुरुष में न तो आनन्दरूप धर्म ही है और न अभिव्यक्तिरूप धर्म ही, इसलिए मुक्त-स्वभाव पुरुष में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।[5] आत्मगत असाधारण गुणों का उच्छेद होना भी मुक्ति नहीं है क्योंकि पुरुष वस्तुतः निर्धर्मक है अर्थात् उसमें कोई गुण नहीं है।[6]

आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि ब्रह्म आदि लोकों में गति भी मोक्ष नहीं है क्योंकि गतिरूपी क्रिया लिङ्ग-शरीर की ही होती है, पुरुष की नहीं।[7] बौद्ध-

१. यथा दुःखे द्वेषो बलवत्तरो नैवं सुखेऽभिलाषो बलवत्तरोऽपि तु तदपेक्षया दुर्बलः। (सां. प्र. भा. ६/६)।

२. अनि. ५/६६. ३. सां. प्र. भा. ६/८. ४. वही ५/६८. ५. वही ५/७४.
६. वही ५/७५. ७. वही ५/७६.

दार्शनिक क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानते हैं तथा क्षणिक ज्ञान की विषयाकारता को ही बन्धनका कारण स्वीकार करते हैं। बौद्धों के अनुसार विषयाकारता अर्थात् विषय की वासनारूप संस्कार का नाश ही मोक्ष है। किन्तु सांख्य-दार्शनिकों का मत है कि यदि ज्ञान की विषयाकारता के उच्छेदमात्र को मोक्ष मान लिया जायेगा तो मोक्ष भी क्षणिक हो जायेगा और वह पुरुषार्थ नहीं बन सकेगा।[१] विषय, विषयज्ञान और विषयज्ञाता अर्थात् सभी का उच्छेद भी मोक्ष नहीं है क्योंकि आत्मनाश को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता।[२] पूर्वोक्त युक्तियों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान में ज्ञेयात्मक समस्त प्रपञ्च का नाश माननेवाले शून्यवादियों के मत में आत्मा का भी नाश होने से, यह पुरुषार्थ नहीं है अतः ऐसी अभावात्मक अवस्था मोक्ष नहीं है।[3]

विज्ञानभिक्षु का मत है कि उत्कृष्ट देश (स्थान), धन तथा अङ्गना (स्त्री) की प्राप्ति भी मोक्ष नहीं है क्योंकि संयोगमात्र का वियोग होता है।[४] अंश अर्थात् जीव का अंशी अर्थात् ईश्वर में लय भी मोक्ष नहीं है क्योंकि जिसका योग होता है उसका वियोग भी होता है। इस मत के खण्डन में तर्क देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि हम सांख्यदार्शनिक ईश्वर को नहीं मानते इसलिए जीव के ईश्वर में लय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी मत के विपरीत एक अन्य युक्ति देते हुए वे कहते हैं कि स्व का लय अर्थात् पुरुष का लय पुरुषार्थ नहीं हो सकता।[५] अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्बन्ध भी मोक्ष नहीं है। अन्य प्रकार के संयोग की भाँति ही ऐश्वर्य का सम्बन्ध सम्बन्ध होने के कारण नश्वर होता है।[६] इन्द्र आदि पदों की प्राप्ति भी मोक्ष नहीं है क्योंकि ये पद भी ऐश्वर्य ही हैं, इसलिए ये पद भी क्षयी अर्थात् नश्वर हैं।[७]

वैशेषिक-दर्शन-सम्मत द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थों के ज्ञान से भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रकृति इन सभी पदार्थों से भिन्न तत्त्व है।[८] न्याय तथा पाशुपत-दर्शन को मान्य प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों का ज्ञान भी मोक्ष-रूप नहीं है। सांख्य-दर्शन दो ही नित्य-पदार्थ अर्थात् तत्त्व स्वीकार करता है।[९] इन दो तत्त्वों—प्रकृति तथा पुरुष के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव तत्त्वों के स्वरूप की श्रद्धापूर्वक सतत साधना, अनवरत अभ्यास

----

१. सां. प्र. भा. ५/७७. २. वही ५/७८. ३. वही ५/७९.
४. वही ५/८०. ५. वही ५/८१. ६. वही ५/८२.
७. वही ५/८३. ८. वही ५/८५. ९. वही ५/८६.

करने से संशयरहित, विपर्ययरहित एवं मिथ्यात्वरहित समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला विशुद्ध, केवल ज्ञान प्राप्त होता है और इस ज्ञान की उद्भूति से पुरुष की स्वामित्व, भोक्तृत्व आदि भावनाओं की समाप्ति हो जाती है[1] तथा 'मैं परिणामिनी, कर्त्री, सुखदुःखमोहरूपा प्रकृति से भिन्न एवं अपरिणामी, सुखदुःखमोहरहित, असङ्ग, चिन्मात्र पुरुष हूँ'---ऐसी प्रतीति होती है। इस केवलज्ञान की उत्पत्ति से ही पुरुष मुक्त हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए पुरुष को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है और यह ज्ञान उसे प्रकृति-पुरुष-विवेक से प्राप्त होता है। कर्म और उनके फल, पुण्य-पाप, सुख-दुःख इन सब का सम्बन्ध प्रकृति और उसकी सृष्टि से है, पुरुष से नहीं। 'मैं प्रकृति नहीं हूँ', 'मैं सक्रिय नहीं हूँ', 'मैं स्वामी नहीं हूँ', 'अहङ्कार मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है'--यह अवबोध ही पुरुष को अविद्याजन्य प्रतिबिम्बरूप मिथ्या बन्धन से वियुक्त करता है और पुरुष अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवली, चिन्मात्र अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रकृति से पुरुष का यह वियोग या पृथक् होना ही कैवल्य है।

मुक्ति वस्तुतः किसी अप्राप्त अवस्था की प्राप्ति नहीं है, अपितु अन्तराय के नाश होनेपर पुरुष की स्वरूपावस्थिति ही है। जिस प्रकार स्वभाव से श्वेत स्फटिक में जपाकुसुम के सान्निध्य से रक्तिमा आ जाती है, वह उसके शुक्लरूप का आवरक विघ्नमात्र है, उससे स्फटिक की श्वेतता नष्ट नहीं होती और जपा-कुसुम के हटा देनेपर पुनः स्फटिक की श्वेतता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार स्वभाव से निर्दुःख पुरुष में बुद्धि-उपाधिक दुःख का प्रतिबिम्ब पुरुष के स्वभाव का आवरकरूप विघ्नमात्र है। पुरुष में दुःख बुद्धि की उपाधि से नहीं उत्पन्न होता और न बुद्धि की उपाधि के हट जाने से नष्ट ही हो जाता है। इसीलिए नित्यमुक्त पुरुष का बन्धन और मोक्ष व्यावहारिक कहा गया है।[२]

सांख्य-दर्शन में बन्धन और मोक्ष दोनों को ही व्यावहारिक माना गया है, पारमार्थिक नहीं। पुरुष का बन्धन तो वाङ्मात्र या कल्पनामात्र ही है। बन्धन तो वस्तुतः प्रकृति का होता है अर्थात् प्रकृति की प्रसूति बुद्धि अर्थात् चित्त का होता है और मोक्ष भी उसी का होता है।[3] जिस प्रकार कृमि अपने को स्वनिर्मित गृह में बद्ध कर लेता है, उसी प्रकार प्रकृति धर्म, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्यरूप सात रूपों से अपने को बाँधती है

---

१. सांख्यका. ६४.   २. सां. प्र. भा. ६/२०.   ३. वही १/५८.

अर्थात् प्राकृत चित्त धर्म आदि द्वारा बद्ध होता है तथा ज्ञान से ही उसे मोक्ष प्राप्त होता है।[1] अतः वास्तव में बन्धन तो प्रकृति का ही होता है पुरुष तो दुःख के साधन धर्म आदि से अलिप्त ही रहता है।[2] प्रकृति ही बन्धन-मोक्ष की साधिका है, जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं प्रकट करती तब तक पुरुष बन्धनग्रस्त ही रहता है। प्रकृति अपने स्वरूप को जिस पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है, वह पुरुष मुक्त हो जाता है।[3]

पुरुष के भोग एवं अपवर्ग दोनों प्रयोजनों को प्रकृति ही सम्पन्न करती है।[4] अतः प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के प्रति तभी तक होती है, जब तक जड़-प्रकृति से चिद्रूप पुरुष पृथक् है, इस विवेकख्याति की प्राप्ति नहीं हो जाती। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति या विवेकख्याति के पश्चात् प्रकृति के महत् आदि परिणामों की निवृत्ति हो जाती है और ये तत्त्व कृतार्थ होकर अपने कारण में लीन हो जाते हैं।[5] विवेक साक्षात्कार होते ही प्रकृति के व्यापार की उपरति हो जाती है और प्रकृति पुनः पुरुष के लिए विषयोपभोग को प्रस्तुत नहीं करती तथा पुरुष भी प्रकृतिगत विषयों को तुच्छ समझकर परित्याग कर देता है तथा आसक्तिरहित और उदासीन हो जाता है।[6] इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों के ही एक-दूसरे से उदासीन हो जाने से अपवर्ग की सिद्धि होती है।[7] प्रकृति की इस उपरति को सांख्यदार्शनिकों ने उपमाओं द्वारा प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य कर लेने के बाद निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपना स्वरूप प्रकट करने के पश्चात् उसके प्रति पुनः प्रवृत्त नहीं होती।[8] विज्ञानभिक्षु का मत है कि पुरुष को प्रकृति के परिणामित्व, दुःखात्मकत्व आदि दोषों का ज्ञान हो जानेपर सलज्ज कुलवधू की भाँति प्रकृति पुनः पुरुष की ओर प्रवृत्त नहीं होती।[9] ईश्वरकृष्ण प्रकृति की इस स्थिति की उपमा लज्जाशीला स्त्री से देते हुए कहते हैं कि मेरी तो यह धारणा है कि प्रकृति से अधिक लज्जाशीला कोई नहीं है, जो यह ज्ञान होते ही कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया है' पुनः उसकी दृष्टि में नहीं आती।[10] विवेकख्याति के पश्चात् प्रकृति पुरुष के भोग तथा अपवर्ग दोनों पुरुषार्थों को सम्पन्न कर लेने के पश्चात् कृतकृत्य होकर उसके प्रति निवृत्त हो जाती है।

---

१. सां. प्र. भा. ३/७३. २. वही ३/७२. ३. वही १/५५.
४. सांख्यका. ५७—५८. ५. सां. प्र. भा. ३/६३. ६. सांख्यका. ६६.
७. सां. प्र. भा. ३/६५. ८. वही ३/६९. ९. वही ३/७०.
१०. सांख्यका. ६१.

किन्तु जिस पुरुष को विवेकज्ञान हो जाता है उसी के प्रति प्रकृति की निवृत्ति होती है। अन्य अविवेकी पुरुष बद्ध होकर ही रहते हैं क्योंकि उनमें गुणसङ्ग-रूप दोष विद्यमान रहता है।[1] जिन अविवेकी पुरुषों का भोग तथा अपवर्ग सिद्ध नहीं होता उनके संसरण का हेतु कर्म, उसका संस्कार तथा अविवेकमूलक कर्माशय रह जाता है। अतः कर्म के साथ योग रहने के कारण उस पुरुष के प्रति सृष्टिप्रवाह समाप्त नहीं होता। इसलिए बद्ध पुरुषों का शरीरधारणपूर्वक लोकों में गमनागमन होता रहता है।[2] जिस प्रकार जिस पुरुष को रज्जु में सर्प-ज्ञान समाप्त हो जाता है, वही पुरुष उस रज्जुसर्प से भयभीत नहीं होता, अन्य लोगों को उससे भय होता ही है, उसी प्रकार जिस पुरुष को प्रकृति-पुरुष-विवेक हो जाता है, उसी पुरुष के प्रति प्रकृति के व्यापार की समाप्ति होती है, अन्य के प्रति नहीं।[3] विवेकसम्पन्न पुरुष के प्रति प्रकृति निवृत्तप्रसवा हो जाती है। मोक्षावस्था में धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य नामक प्रकृति के सातों भावों की समाप्ति हो जाती है। पुरुष सुख, दुःख, मोह, राग-द्वेष इत्यादि से रहित हो जाता है तथा अपने ही केवली, चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर असङ्ग, उदासीन, द्रष्टा की भाँति प्रसवरहित प्रकृति को अपने से पृथक् देखता है।[4]

सांख्य-दर्शन में मोक्ष के स्वरूप को, प्रकृति के तीनों गुणों से परे की स्थिति के रूप में वर्णित किया गया है। किन्तु E. H. Johnston ने अपनी पुस्तक 'Early Sāṁkhya' (पृष्ठ ३५) में लिखा है कि 'ईश्वरकृष्ण से पूर्व प्राचीन सांख्यदार्शनिक मुक्ति की अवस्था को सत्त्वगुण के प्राबल्य से रजोगुण और तमोगुण का अभिभव मानते थे क्योंकि वे पुनर्जन्म रजोगुण और तमोगुण के द्वारा ही स्वीकार करते थे।'

डॉ० अशोककुमार लाड का कहना है कि E. H. Johnston का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता कि परवर्ती सांख्य का मोक्ष को तीनों गुणों से परे की स्थिति मानने का सिद्धान्त प्राचीन सांख्य के सत्त्वगुण के प्राबल्य को मोक्ष मानने के सिद्धान्त से भिन्न है। डॉ० लाड का मत है कि मोक्ष का यह प्राचीन मत ईश्वरकृष्ण आदि द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप का विरोधी नहीं है। ये केवल मोक्ष के सिद्धान्त के विभिन्न स्तर हैं। प्राचीन सांख्य में सत्त्वगुण के

---

१. सां.प्र.भा. ३/६४. २. वही ३/६७. ३. वही ३/६६. ४. सांख्यका. ६५.

प्राबल्य को मोक्ष नैतिक दृष्टि से कहा गया है तथा परवर्ती सांख्य में तीनों गुणों से परे की स्थिति को मोक्ष तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से कहा गया है। वस्तुतः दूसरा मत पहले मत का ही अगला कदम है।[1] किन्तु डॉ० लाड का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि प्राचीन सांख्य में मोक्ष की अवस्था में सत्त्वगुण का प्राबल्य स्वीकार किया गया है अर्थात् गुणों की सत्ता स्वीकार की गयी है और परवर्ती सांख्य में तो मोक्ष की अवस्था को तीनों गुणों से परे की स्थिति कहा गया है अर्थात् वहाँ मोक्ष की अवस्था में गुणों की सत्ता ही नहीं मानी गयी है।

जीवन्मुक्ति

प्रकृति-पुरुष के पार्थक्यज्ञानरूप विवेकख्याति के उत्पन्न होने पर भुने हुए बीज के सदृश प्रकृति के धर्म, अधर्म आदि भाव कारणरूप नहीं रह जाते अर्थात् इनकी फलोत्पादक शक्ति विनष्ट हो जाती है। क्लेशरूपी जल से सिक्त बुद्धिरूप भूमि में ही कर्मरूप बीज से अङ्कुर उत्पन्न होते हैं तथा निदाघरूप विवेकज्ञान से जलरूप क्लेश का पूर्णतः शोषण कर लिये जाने पर शुष्क बुद्धि-रूपी भूमि में कर्मबीज अङ्कुरित होने में असमर्थ रहते हैं। अतः ज्ञान से समस्त सञ्चित कर्मों का अभाव हो जाता है और वे कर्म, जाति, आयु एवं भोगरूपी विपाक को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि में सञ्चित कर्मों के फल की प्राप्ति नहीं होती तथा अहंवृत्ति से रहित होकर कार्य करने से भावी बन्धन के कारण होनेवाले कर्म-संस्कारों की प्राप्ति भी नहीं होती। इस अवस्था में केवल प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध ही पुरुष के साथ रह जाता है जिनके फलस्वरूप उसे वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दुःख एवं भोग प्राप्त हुए हैं। इस वर्तमान जीवन के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः प्रारब्ध कर्मों के प्रभाव से साधक मुक्त हो जानेपर भी शरीर-धारण किये रहता है। साधक की इसी अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिस प्रकार डण्डे से चलाया गया कुम्हार का चाक पहले से उत्पन्न वेग से चलता रहता है और वेग के समाप्त हो जानेपर रुक जाता है उसी प्रकार विवेकज्ञान हो जानेपर सञ्चित और सञ्चीयमान कर्मों का नाश हो जानेपर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों के फल-भोग-पर्यन्त देह को धारण करता है।[2] जीवन्मुक्ति की इस अवस्था में क्लेश तथा कर्म की निवृत्ति होनेपर भी विद्वान् अर्थात् विवेकी पुरुष जीवित

---

१. A C. S. C. L. I. P., pp. 103–104. २. सां. प्र. भा. ३/८२.

रहता हुआ भी विमुक्त हो जाता है।[१] शरीर मुक्ति के पथ में बाधक नहीं होता है क्योंकि जीवन्मुक्त शरीर-धारण करते हुए भी शरीर के प्रति अनासक्त हो जाता है, इसलिए उसके द्वारा सम्पादित व्यापार बन्धन के कारण नहीं होते।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने जीवन्मुक्त के स्वरूप का प्रतिपादन सांख्यसार में विस्तृत रूप से किया है। जीवन्मुक्त समस्त प्राणियों में आत्मतत्त्व को ही देखता है। उसके लिए संसार में शोक और मोह नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र एक ही तत्त्व को देखता है।[२] जीवन्मुक्त शुभ और अशुभ के प्रति अनासक्त रहता है। उनका मत है कि सुख, दुःख से अप्रभावित पुरुष को ही जीवन्मुक्त कहा जाता है।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु जीवन्मुक्ति की सत्ता में प्रमाण देते हुए कहते हैं कि अलौकिक-तत्त्व-प्रतिपादक विद्या के उपदेशक के रूप में जीवन्मुक्त पुरुष अवश्य हैं।[४] उनका मत है कि श्रुति से भी जीवन्मुक्त और उसके कार्यों की सिद्धि होती है।[५]

विदेह मुक्ति

जीवन्मुक्त ही अपने शरीर को कालसात् करके विदेहमुक्त हो जाता है।[६] अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय होते ही पुरुष का शरीर भी व्यापार स्थगित कर देता है और जीवन्मुक्त का शरीरपात हो जाता है। शरीरपात होने के साथ ही पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा उसे परम मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार पुरुष में त्रिविध दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। दुःखों से विमुक्त पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पुरुष की विदेहमुक्ति, कैवल्य तथा अपवर्ग है।[७] विवेकज्ञान की पूर्णता होनेपर दुःख का आधार चित्त स्वकारण में लीन हो जाता है। चित्त के अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाने से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। यही परम पुरुषार्थ की सिद्धिरूप कृतकृत्यता है। यह कृतकृत्यता विवेकपूर्वक परवैराग्य द्वारा सर्ववृत्तिरोध से होती है। विज्ञानभिक्षु विदेह कैवल्य को ही वास्तविक मोक्ष मानने के पक्ष में हैं[८] तथा वे अपने मत की पुष्टि के लिए श्रुतिवाक्य उद्धृत करते हैं।[९]

---

१. योगभा. ४/३० २. सां. सा. उत्तर भाग ७/५. ३. वही ७/८.
४. सां. प्र. भा. ३/७९. ५. वही ३/८०. ६. सां.सा. उत्तर भाग ७/२६.
७. सांख्यका. ६८. ८. सां.प्र.भा. ५/११६. ९. वही १/५.

मुक्त पुरुष का पुनः बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति में मुक्त पुरुषों की अनावृत्ति प्रतिपादित की गयी है।[1] यदि मुक्त पुरुष का भी बन्धन स्वीकार किया जायेगा तो मुक्ति को पुरुषार्थ मानना व्यर्थ होगा।[2]

कर्म मोक्ष का साधन नहीं है

विवेकख्याति ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है। कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती भले ही कर्म शुभ, अशुभ या शुभाशुभ किसी प्रकार के क्यों न हों। कर्म गुण के ही कार्य होते हैं, इसलिए वे त्रिगुणातीत अवस्था के कारण नहीं हो सकते। शुभ कर्मों से या धर्म से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु मोक्ष की नहीं।[3] सत्त्वप्रधान ऊर्ध्वलोक में होनेपर भी वहाँ से आवृत्ति होती है और पुनः नाना-योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतः ऊर्ध्व-लोक हेय है।[4] नित्य-कर्म चित्तशुद्धि के ही साधक हैं, मुक्ति के नहीं।[5] जिस प्रकार मायिक अर्थात् स्वप्नकालीन पदार्थ तथा वास्तविक—जाग्रतकालीन पदार्थ की परस्पर सहायता से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार कर्म और ज्ञान के समुच्चय से मुक्ति नहीं हो सकती।[6] कर्म दुःख से रहित नहीं है, अतः यदि कर्म से मुक्ति होगी तो मोक्षावस्था भी दुःखपूर्ण होगी। कर्म क्षयी हैं, अतः उनका कार्यभूत मोक्ष भी क्षयी होगा।[7] यज्ञ आदि कर्म लोभ, हिंसा आदि दोषों से युक्त है, अतः इनका आश्रयकारी मोक्षार्थी एक दुःख से दूसरे दुःख में गिरता है। कर्म चाहे सकाम हो या निष्काम, कर्ममात्र से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। सकाम कर्म की ही भाँति निष्काम कर्म भी प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। निष्काम कर्म अधिकतर सत्त्व बुद्धिकारक होता है उसमें भी चित्त व्यक्त ही रहता है, अतः आपेक्षिक रूप से निष्काम कर्म के उपादेय होनेपर भी कैवल्य या शाश्वत चित्तरोध की दृष्टिसे कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा विवेक-ज्ञानाभ्यास ही अनुष्ठेय है।[8]

आत्मोपासनारूप ज्ञान और तत्त्व-ज्ञान के समुच्चय से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपास्य सगुण ब्रह्म भी पूर्णतया अमायिक नहीं होता, उसमें भी अध्यस्त पदार्थ होते हैं।[9] सगुण ब्रह्म भी मनःसङ्कल्पित ध्येयांश में

---

१. सां. प्र. भा. ६/१७. २. वही ६/१८. ३. सांख्यका. ४४.
४. सां. प्र. भा. ३/५२. ५. सां. सूत्र वृ. सा. ३/२७. ६. सां.प्र.भा. ३/२६.
७. अनि. १/८४. ८. सां. प्र. भा. १/८४–८५. ९. वही ३/२७ अव.

वह मायिक है। उपास्य ब्रह्म सगुण है, अतः मायारूप त्रिगुण से सम्बद्ध है।[१] इसलिए ज्ञानकर्म-समुच्चय पर लगे दोष यहाँ भी लागू होने के कारण उनका एक साथ रहना सम्भव नहीं है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि उपासना नितान्त अनुपयोगी नहीं है। उपासना से चित्त शुद्ध हो जाता है जिससे उसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण आ जाते हैं। जिस प्रकार प्रकृति सृष्टि, स्थिति तथा संहार आदि कार्य करती है उसी प्रकार उपासकों की सत्त्वप्रधान बुद्धि सृष्टि आदि कार्यों में समर्थ हो जाती है।[२] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु कर्म और उपासना को मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं मानते हैं तथापि वे चित्त-शुद्धि के माध्यम से इन्हें परम्परया मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है

सांख्यदार्शनिकों का मत है कि अविवेक से बन्धन होता है। इसलिए उसकी निवृत्ति भी ज्ञान से ही हो सकती है।[३] अविवेक की निवृत्ति होनेपर ज्ञान का होना सिद्ध है और ज्ञान ही मुक्ति का नियत हेतु या अनन्य कारण है अतः अविद्यायुक्त कहे जानेवाले कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।[४] सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् विवेकज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासन से ही होता है। विज्ञानभिक्षु श्रवण, मनन, निदिध्यासन का स्वरूप स्मृति-सम्मत ही स्वीकार करते हैं। श्रुतिवाक्यों से श्रवण अर्थात् अध्ययन करना चाहिए तथा श्रवण किये हुए ज्ञान पर उपपत्तिपूर्वक मनन करना चाहिए। मनन के लिए श्रुति अविरोधिनी उपपत्तिरूप में षडध्यायी अर्थात् छः अध्यायों वाले सांख्यसूत्रों का अध्ययन करना चाहिए। निदिध्यासन अर्थात् ध्यान के लिए विज्ञानभिक्षु योगशास्त्र में प्रतिपादित अष्टाङ्ग-योग के स्वरूप को स्वीकार करते हैं।[५] यद्यपि मोक्ष अज्ञानरूप बन्ध का ध्वंसमात्र है, तथापि केवल श्रवण-मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार दिग्भ्रमित व्यक्ति का दिशाओं के साक्षात् ज्ञान के विना भ्रम समाप्त नहीं होता, उसी प्रकार विवेक-साक्षात्कार के विना केवल श्रवणमात्र से बन्धन की निवृत्ति नहीं होती।[६]

---

१. सां. प्र. भा. ३/२८. २. वही ३/२९.

३. ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति स्थापितम्। (वही ३/३० अव.)।

४. वही ३/२५. ५. वही उपो. पृष्ठ २. ६. सां. प्र. भा. १/५९.

ज्ञान के साधन

आचार्य विज्ञानभिक्षु ज्ञान को मुक्ति का साधन बताने के पश्चात् ज्ञान के साधनों का प्रतिपादन करते हैं।[१] उनका मत है कि ज्ञान का प्रतिबन्धक जो चित्त का विषयोपराग है उसके उपघातक हेतु को ध्यान कहते हैं। कार्य और कारण में अभेद होने से रागक्षय को ही ध्यान कहा गया है। यहाँ पर ध्यान शब्द से योग-दर्शन में कहे गये धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को ग्रहण करना चाहिए।[२] ध्येय विषय के अतिरिक्त चित्त की अन्य वृत्तियों के निरोधरूप सम्प्रज्ञात-योग से ध्यान की निष्पत्ति होती है।[३] ध्यान का स्वरूप बताने के पश्चात् वे ध्यान के साधन बताते हैं।[४] धारणा, आसन तथा स्वकर्म से ध्यान की सिद्धि होती है।[५]

प्राणवायु का पूरक, रेचक तथा कुम्भक के द्वारा जो निरोध होता है, उसे धारणा कहते हैं। चित्त की धारणा समाधि के सदृश ही ध्यान शब्द से गृहीत होती है।[६] शरीर की सुखकर स्थिति जिससे सात्त्विक प्रसन्नता और स्थिरता का बोध हो, वही आसन है। शरीर की सुखकर स्थिति योगानुकूल स्थिरता की सम्पादक है।[७] स्वकर्म शब्द से सांख्य-दर्शन में यम, नियम को ग्रहण किया गया है।[८] विज्ञानभिक्षु का मत है कि यम, नियम आदि पाँच बाह्य साधनों की अपेक्षा संयम (धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम) से ही ज्ञान और योग होता है––यह पतञ्जलि का सिद्धान्त है।[९] वैराग्यसहित ध्यानरूप अभ्यास से ज्ञान और उसका साधन योग होता है।[१०]

पुनर्जन्म

अन्य तत्त्वों की भाँति ही सांख्य-दर्शन कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। पुनर्जन्म का कारण बन्धन है। पुरुष नित्यमुक्त, नित्यशुद्ध तथा सर्वव्यापी है, इसलिए उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष जो बुद्धि के सुख-दुःख से अपने को अभिन्न मान लेता है, सूक्ष्म-शरीर की सहायता से संसरण करता है। पुनर्जन्म केवल लिङ्ग-शरीर (सूक्ष्म-शरीर) का होता है।

----

१. ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति स्थापितम्। इदानीं ज्ञानसाधनान्याह। (सां.प्र.भा. ३/३० अव.)।
२. वही ३/३०. ३. वही ३/३१. ४. वही ३/३२ अव. ५. सां. सूत्र ३/३२.
६. चित्तस्य धारणा तु समाधिवद् ध्यानशब्देनैव गृहीतेति। (सां. सूत्र ३/३३)।
७. वही ३/३४, ६/२४. ८. वही ३/३५. ९. वही ३/३६ की अव.
१०. वही ३/३६.

यह लिङ्ग-शरीर बुद्धि, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियों तथा पञ्चतन्मात्र से निर्मित होता है। विज्ञानभिक्षु तथा कुछ परवर्ती आचार्य अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सत्रह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म-शरीर का संसरण स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पुरुष के साथ एक सूक्ष्म-शरीर स्थायी रूप से जुड़ा रहता है, केवल मोक्ष-प्राप्ति के समय ही वह उससे अलग होता है। जन्म और मृत्यु का अर्थ केवल स्थूल-शरीर का ही परिवर्तन होना है, सूक्ष्म-शरीर का नहीं। सूक्ष्म-शरीर में पूर्व-जन्म के विचारों और कर्मों के समस्त संस्कार सुरक्षित रहते हैं। धर्म और अधर्म बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, धर्म से ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति तथा अधर्म से अधोलोक की प्राप्ति होती है।[1] धर्म और अधर्म ही प्रकृति-पुरुष के मध्य स्वस्वामिभाव के कारण हैं और यह स्वस्वामिभाव ही बन्धन का कारण है। जब तक यह सम्बन्ध चलता रहता है तब तक सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर में पुनर्जन्म लेता रहता है। इस पुनर्जन्म की समाप्ति तभी होती है जब इस स्वस्वामिभाव का अन्त हो जाता है। इस सम्बन्ध की समाप्ति विवेकज्ञान से होती है। जब तक पुरुष के भेद का ग्रहण नहीं होता तबतक ही चेतन पुरुष जन्म-मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है।

धर्म और अधर्म ही इस जीवन के कारण हैं। धर्म से ऊर्ध्वलोक में जन्म अवश्य होता है, किन्तु इससे जन्म-मृत्यु के चक्र की समाप्ति नहीं होती है। सत्त्वप्रधान ऊर्ध्वलोकों में गमन होनेपर भी वहाँ से पुनः आवृत्ति होती है तथा सभी प्रकार के लोकों में जरा-मरण आदि दुःख समान रूप से ही मिलता है।[2] सुख सदैव दुःख से मिश्रित होता है एवं स्वर्गीय सुख भी क्षयी ही होता है इसलिए ऊर्ध्वलोकों में जन्म मोक्ष नहीं है। पुनर्जन्म की सम्भावना का न रह जाना ही मोक्ष है। सत्त्वगुण के आधिक्य से ऊर्ध्वलोक में, तमःप्रधान होने से अधोलोक में तथा रजःप्रधान होने से मध्यलोक में स्थिति होती है।[3] मनुष्य रजःप्रधान है, इसलिए उसका जीवन दुःखपूर्ण है। मनुष्य को सुख की प्राप्ति धर्म से तथा दुःख की प्राप्ति अधर्म से होती है और धर्म, अधर्म की प्राप्ति कर्मों से होती है। धर्म-अधर्म का आधार सूक्ष्म-शरीर है और इसी में पूर्व जन्म के किये गये कर्मों के संस्कार सञ्चित रहते हैं। इसलिए सुख-दुःख का वास्तविक आधार सूक्ष्म-शरीर है। स्थूल-शरीर भी सूक्ष्म-शरीर के माध्यम से

१. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गगनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। (सांख्यका. ४४)।
२. सां. प्र. भा. ३/५२–५३. ३. वहीं ३/४८–५०, सांख्यका. ५४.

ही सुख-दुःख का उपभोग करता है।[1] सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर से संयोग ही जन्म है तथा उससे वियोग ही मृत्यु है।

जब तक सूक्ष्म-शरीर की स्थिति रहती है तब तक दुःखों की समाप्ति नहीं होती। जो धर्म और अधर्म पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे संसरण के प्राकृतिक निमित्त हैं। जो धर्म और अधर्म वर्तमान जीवन में मनुष्य के प्रयत्न से होते हैं, वे वैकृतिक निमित्त हैं। ये दोनों प्रकार के धर्म इत्यादि भाव अगले संसरण के हेतु बनने के कारण निमित्त कहलाते हैं। प्राचीन सांख्यदार्शनिकों में पञ्चाधिकरण उपर्युक्त दो प्रकार के ही निमित्त मानते थे। किन्तु उन्होंने प्राकृतिक निमित्त के तत्त्वसमकाल, सासिद्धिक तथा अभिष्यन्दिक तीन भेद तथा वैकृत निमित्त के स्ववैकृत तथा परवैकृत दो भेद स्वीकार किये हैं।[2] विन्ध्यवासी प्राकृतिक निमित्त के तत्त्वसम तथा सांसिद्धिक भेद को अस्वीकार करते हैं।[3] ईश्वरकृष्ण ने सांसिद्धिक, प्राकृतिक तथा वैकृत—तीन प्रकार के निमित्त माने हैं।[4] सुवर्णसप्ततिकार,[5] माठर,[6] युक्तिदीपिकाकार[7] तथा गौडपाद[8] ने कारिकाकार के मत को ही स्वीकार किया है। किन्तु जयमङ्गलाकार,[9] वाचस्पति मिश्र[10] तथा नारायणतीर्थ[11] ने सांसिद्धिक का अन्तर्भाव प्राकृतिक में करके, प्राकृतिक और वैकृतिक दो ही भेद स्वीकार किये हैं। सांख्य-दर्शन के इन तीनों भावों में प्रारब्ध, सञ्चित और सञ्चीयमान कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। राधानाथ फूखन का मत है कि वेदान्त में जिसे कर्म-संस्कार कहा गया है उसे सांख्य केवल संस्कार कहता है, वेदान्त जिसे प्रारब्ध-कर्म कहता है सांख्य उसे सांसिद्धिक भाव कहता है, वेदान्त जिसे क्रियमाण-कर्म कहता है, सांख्य उसे वैकृतिक भाव कहता है तथा वेदान्त जिसे सञ्चित कर्म कहता है, उसे सांख्य में प्राकृतिक भाव कहा गया है।[12] इस प्रकार भाव और कर्म में वस्तुतः भेद न रहने पर सांसिद्धिक प्रारब्ध-कर्म से, क्रियमाण वैकृतिक कर्म तथा प्राकृतिक-भाव से अभिन्न हो जायेंगे।

इन भावों के फलस्वरूप ही मनुष्य को एक विशेष प्रकार का स्थूल-शरीर प्राप्त होता है। दुःख और भोग सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल-शरीर के बिना असम्भव

---

१. सां. प्र. भा. ३/८. २. युक्ति. ४३ अत्र.
३. विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च। (युक्ति. ४३)।
४. सांख्यका. ४३. ५. सुवर्ण. ४३. ६. माठ. ४३.
७. युक्ति. ४३. ८. गौड. ४३. ९. जयम. ४३.
१०. तत्त्वकौ. ४३. ११. सांख्यच. ४३. १२. T. T. R., p. 42.

है। सूक्ष्म-शरीर धर्म और अधर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार के स्थूल-शरीर से सम्बद्ध होता है। कलल, बुदबुद आदि शरीर का भौतिक स्वरूप माता-पिता के द्वारा निर्मित होता है, किन्तु मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियाँ पूर्व-जन्म में किये गये कर्मों के अनुसार ही निर्मित होती हैं। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोकों में गमन करता रहता है। मोक्ष इस संसरण-चक्र की उच्छित्ति है क्योंकि संसरण दुःख से युक्त रहता है और मोक्ष दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति है।

सांख्य-दर्शन में कुछ ऐसे अंश मिलते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि पुरुष न बद्ध होता है और न मुक्त, अपितु प्रकृति का ही बन्धन होता है और वही मुक्त होती है। पुरुष का बन्धन और मोक्ष तो वाङ्मात्र है, कल्पनामात्र है, परमार्थतः वह नित्यमुक्त है। किन्तु वस्तुतः ऐसी स्थिति नहीं है—सांख्य-दर्शन में पुरुष का ही बन्धन स्वीकार किया गया है और उसकी उच्छित्तिरूप मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है।[2] यद्यपि पुरुष नित्यमुक्त है तथापि जब वह प्रकृति से अपना भेद ग्रहण नहीं करता, तब वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। अनादि अविद्या के कारण पुरुष प्रकृति के सभी धर्मों को अपने में उपचरित मानकर बन्धनग्रस्त हो जाता है। वह प्रकृति के सभी विषयों का उपभोग करता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि सुख, दुःख बुद्धि के ही धर्म हैं तथापि उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ पुरुष स्वरूपतः असङ्ग होते हुए भी संसक्त तथा अहंवृत्ति से अभिमान करता हुआ, उपभोक्ता बन जाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु तो स्पष्ट शब्दों में पुरुष के बन्धन और मोक्ष का प्रतिबिम्बमात्र होना स्वीकार करते हैं। वे अपने मत की व्याख्या स्फटिक और जपाकुसुम के उदाहरण से करते हैं। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक जपाकुसुम के सान्निध्य से स्वयं भी उपरञ्जित हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि में रहनेवाले सुख-दुःख-मोह इत्यादि भावों का अनुभव करता है। अतः पुरुष का बन्धन प्रतिबिम्बमात्र है, तात्त्विक नहीं।[3] इस प्रतिबिम्बरूप बन्धन की समाप्ति ही मोक्ष तथा परम पुरुषार्थ है।[4] इस प्रकार सांख्य-दर्शन में पुरुष को परमार्थतः बद्ध न स्वीकार करते हुए भी बुद्धि प्रतिबिम्ब के द्वारा उसके धर्मों से सम्पृक्त

१. सांख्यका. ६२–६३, सां. सूत्र ३/७२–७३. २. सां. सूत्र १/१, ६/७०.

३. सां. प्र. भा. १/५८. ४. वही।

होने के कारण बद्ध स्वीकार किया गया है। पुरुष विवेकज्ञान प्राप्त कर लेनेपर बुद्धि में प्रतिबिम्बित धर्मों से अपना पार्थक्य समझ लेता है और तब वह मुक्त हो जाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टतः पुरुष का बन्धन प्रतिबिम्बरूप मान कर प्रकृति का बन्धन होता है—इस मत का निराकरण कर, बन्धन मोक्ष की अधिक युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

सांख्य-दर्शन के दुःख और उससे मुक्ति के सिद्धान्त ने अन्य भारतीय दर्शनों को अत्यधिक प्रभावित किया है। न्याय-वैशेषिक सांख्य-दर्शन के दुःख के स्वरूप को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है। न्याय-दर्शन भी सम्पूर्ण जीवन को दुःखमय मानता है और सुख-दुःख को इस प्रकार से अवियोज्यरूप से जुड़े हुए मानता है कि दुःख से बचने के लिए सुख का भी त्याग आवश्यक है। इसीलिए वहाँ जीवन के आदर्श अपवर्ग को सुख-दुःख से विरहित निषेधात्मक रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्य तथा न्याय-वैशेषिक-दर्शन का दृढ़ मत है कि कोई भी व्यक्ति जितना सुख की प्राप्ति की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उतना दुःख से मुक्ति की इच्छा से प्रवृत्त होता है।[1]

सांख्य, न्याय तथा अद्वैत-वेदान्त में अज्ञान को बन्धन का कारण माना गया है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति-पुरुष-अविवेक, न्याय-दर्शन में षोडश पदार्थों के अज्ञान तथा अद्वैत-वेदान्त में आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप के अज्ञान से बन्धन होता है। पुरुष, बुद्धि, अहङ्कार मन आदि से भिन्न है, परन्तु वह स्वयं को इनसे भिन्न न समझकर अभिन्न समझ लेता है, उसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त में भी आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भिन्न होता हुआ भी अपने को उनसे अभिन्न मान लेता है। पुरुष तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर क्रमशः प्रकृति एवं अनात्म से तादात्म्य ग्रहण कर लेता है और बन्धनग्रस्त हो जाता है। इस अज्ञान की समाप्ति ज्ञान से ही सम्भव है इसीलिए तत्त्वज्ञान से मोक्ष स्वीकार किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति कर्म द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि कर्म से उत्पन्न धर्म और अधर्म ही बन्धन के कारण हैं। अपने स्वरूप की अनुभूति ही मोक्ष है। सांख्य प्रकृति से विविक्त होकर पुरुष की अनुभूति करना चाहता है और अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्या कहकर आत्मा की अनुभूति करना चाहता है। मोक्ष की अवस्था में पुरुष की स्वरूपावस्थिति होती है और

---

१. सां. प्र. भा. ६/६.

पुरुष तथा आत्मतत्त्व[1] सभी प्रकार के भ्रमों से जो उसे बन्धनग्रस्त करते हैं--मुक्त हो जाता है। न्याय-दर्शन में मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य विरहित माना गया है, किन्तु सांख्य तथा अद्वैत-वेदान्त के अनुसार मोक्षावस्था में चैतन्य निखर आता है। दूसरा मतभेद न्याय-दर्शन से सांख्य और अद्वैत-वेदान्त का यह है कि न्याय-दर्शन जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को नहीं मानता। तत्त्वज्ञान का साधन तीनों दर्शनों में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को स्वीकार किया गया है।

सांख्य और अद्वैत-वेदान्त की मुक्ति की धारणा में इतना साम्य होते हुए, वैषम्य भी है। सांख्य द्वैतवादी है, अद्वैत-वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि से प्रकृति-पुरुष के भेद को न ग्रहण करना अज्ञान है तथा अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से एक तत्त्व को नाना समझना अज्ञान है। सांख्य में मोक्ष का स्वरूप आनन्दरहित माना गया है, क्योंकि सांख्य-दार्शनिक सुख या आनन्द को सत्त्व-गुण का धर्म मानते हैं और कैवल्य की स्थिति में प्रकृति से पुरुष का पार्थक्य हो जाता है। अद्वैत-वेदान्त मत में मोक्षावस्था में आनन्द को स्वीकार किया गया है क्योंकि मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्मरूप हो जाता है और ब्रह्म आनन्दमय है। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष की अवस्था को आनन्दमय स्वीकार किया गया है। सांख्य-दर्शन के इस अभावात्मक कैवल्य की धारणा ने हीनयानी बौद्धों की निर्वाण की कल्पना को बहुत प्रभावित किया है।

सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित कैवल्य के स्वरूप की आलोचना प्रो॰ चन्द्रधर शर्मा ने अपनी कृति '*A Critical Survey of Indian Philosophy*' में की है। उनका मत है कि सांख्य की मुक्ति की कल्पना में दोष यह है कि उसकी धारणा अभावात्मक अधिक है। यह त्रिविध दुःख की निवृत्तिमात्र है, आनन्द की भावात्मक अवस्था नहीं। सांख्यदार्शनिक यह समझते हैं कि आनन्द सत्त्वगुण की प्रसूति है और मोक्ष की अवस्था त्रिगुणातीत अवस्था है, अतः उसमें आनन्द की सत्ता नहीं रह सकती। किन्तु वे इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं कि मोक्ष में रहनेवाली आनन्दानुभूति सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले सुख या व्यावहारिक आनन्द से भिन्न उच्च कोटि की तथा 'पर' है। यह

----

१. यद्यपि ये दोनों शब्द समानार्थक हैं तथापि यह भेद केवल पृथक्-पृथक् दर्शनों की दृष्टि से ही किया जा रहा है।

२. न्यायभा. १/१/२.

सुख, दुःख दोनों से परे है। दुःख से जिसका सम्बन्ध है, वह सुख है, पर 'आनन्द' या 'परमानन्द' नहीं। यदि मोक्ष को मानवी व्यक्तित्व की पूर्णता न मान कर उसका नाश माना जायेगा तो मोक्ष का पुरुषार्थत्व ही नष्ट हो जायेगा और वह अपनी ओर किसी को भी आकृष्ट न कर सकेगा। यदि मोक्ष को पुरुषार्थरूप मानना है तो उसे परमतत्त्व की अनुभूति की भावात्मक आनन्द की अवस्था मानना ही श्रेयष्कर होगा।[1]

दुःख तथा उससे मुक्ति ही सांख्य-दर्शन का परम लक्ष्य है। जन्म आदि एवं उसमें होनेवाले दुःखत्रय के आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए सांख्य-शास्त्र प्रवृत्त होता है तथा इस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्मोन्नति और मुक्ति के साधनरूप में सांख्य-दर्शन का महत्त्व बहुत अधिक है। दुःख की निवृत्ति प्राप्त करने के लिए यह दर्शन अत्यन्त मूल्यवान है। अद्वैत-वेदान्त के अतिरिक्त अन्य किसी आस्तिक दर्शन में दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष का इतना विशद गम्भीर तथा तथ्यपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है।

मोक्ष की प्राप्ति, मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ, सांख्य-दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रमाण-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, सृष्टि-प्रक्रिया, सरूप-विरूप-परिणाम आदि का विवेचन सांख्यदार्शनिकों ने किया है। अतः दुःख और उससे मुक्ति सांख्य-दर्शन का वह प्रमुख सिद्धान्त है जिसके चारों ओर शेष सभी सिद्धान्त चक्कर काट रहे हैं।

---

१. C. S. I. P., p. 168.

षष्ठम अध्याय

सांख्य-दर्शन और ईश्वरवाद

सांख्य-दर्शन की गणना प्रायः निरीश्वरवादी दर्शनों के अन्तर्गत की जाती है। उपलब्ध सांख्य-ग्रन्थों से भी सांख्य-दर्शन का स्वरूप निरीश्वरवादी ही सिद्ध होता है। सांख्य में जगत् के उपादान या निमित्त-कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो ही परम-तत्त्व हैं और पुरुष की सन्निधिमात्र ही प्रकृति की सृष्टि करने में प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त है। यद्यपि पुरुष को सृष्टि का उपादान-कारण या निमित्त-कारण नहीं स्वीकार किया गया है तथापि उसकी सन्निधि सृष्टि के लिए परमावश्यक मानी गयी है। प्रकृति से होनेवाली इस सृष्टि का प्रयोजन भी प्रकृतिनिष्ठ बताया गया है। जिस प्रकार दुग्ध की प्रवृत्ति वत्स-विवृद्धि के लिए होती है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति भी पुरुष को भोगापवर्ग के लिए होती है। मोक्ष-प्राप्ति प्रकृति-पुरुष विवेक से ही सम्भव है (अतः उसके लिए भी ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं समझा गया है)। इस प्रकार सांख्य-दर्शन में न तो कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता अनुभव की गयी है और न उसका प्रतिपादन ही हुआ है इसीलिए भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'चक्रे निरीश्वरं साख्यं कपिलोऽन्यत्पतञ्जलिः' आदि वाक्यों में सांख्य-दर्शन को निरीश्वर-वादी दर्शन के रूप में स्मरण किया गया है।

उपनिषदों, महाभारत, गीता, मनुस्मृति तथा पुराणों में उल्लिखित सांख्य-सिद्धान्त ईश्वरवादी ही प्रतीत होता है। इन ग्रन्थों में ब्रह्म या परमात्मा को सर्वोच्च तथा नित्य बताया गया है और प्रकृति तथा पुरुष को उसके अधीन माना गया है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सांख्य-दर्शन उतना ही प्राचीन है जितने प्राचीन उपनिषद् हैं। कुछ लोगों का मत है कि सांख्य कुछ प्रसिद्ध उपनिषदों से भी प्राचीन है क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में सांख्य-प्रवर्तक कपिल का नाम आया है तथा प्रायः सभी उपनिषदों में सांख्य-सिद्धान्त बिखरे

---

१. श्वेता. उप. ५/२.

पड़े हैं। किन्तु अधिक सम्भावना तो यह प्रतीत होती है कि परवर्ती सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त आदि संज्ञा से व्यवहृत होनेवाली विचार-धाराएँ अपने व्यवस्थित रूप धारण करने से पूर्व अनेक शताब्दियों पहले से ही आरम्भ हो गयीं थीं और अनवरत रूप से एक साथ चलती रहीं, अतः इन दर्शनों में पौर्वापर्य क्रम स्थिर करना जटिल कार्य है। अधिक सम्भावना यही है कि सांख्य-दर्शन अपने आद्यरूप में ईश्वरवादी ही रहा होगा जिसमें ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार किया गया होगा तथा पुरुष और प्रकृति को एक-दूसरे से पृथक् स्वीकार करते हुए ईश्वर के अधीन माना गया होगा।[1] इसी आद्यरूप का प्रतिपादन उपनिषदों, महाभारत, गीता तथा पुराणों में हुआ है।

आधुनिक विचारक सांख्य-दर्शन की दो स्थितियाँ स्वीकार करते हैं-- प्रथम स्थिति में सांख्य ईश्वरवादी था और दूसरी में निरीश्वरवादी। अन्ततः विज्ञानभिक्षु पुनः ईश्वरवाद का समर्थन करते बताये जाते हैं। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का मत है कि सांख्य की तीन धाराएँ मान सकते हैं पहली सेश्वर धारा जिसके चिह्न अब लुप्त हो गये हैं किन्तु जो पातञ्जल सांख्य के रूप में अब भी अवशिष्ट है; दूसरी निरीश्वर धारा जिसका प्रतिनिधित्व पञ्चशिख करते हैं और तीसरी पारम्परिक सांख्य की निरीश्वर धारा जो उससे थोड़ी भिन्न है। सांख्य-दर्शन में पुनः महत्त्वपूर्ण परिवर्तन विज्ञानभिक्षु ने किया।[2] डॉ० राधा-कृष्णन् का मत है कि सांख्य का आद्यस्वरूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वर-वाद था जो उपनिषदों की विशिष्टाद्वैत विचारधारा के अधिक समीप है और इसे औपनिषद्-विचारधारा का परिष्कृत रूप माना जा सकता है किन्तु परवर्ती द्वैतवाद को जो पुरुषों के अनेकत्व तथा प्रकृति की निरपेक्षता को स्वीकार करता है तथा परमतत्त्व ईश्वर को त्याग देता है--औपनिषद्-विचारधारा के अनुरूप नहीं स्वीकार किया जा सकता। इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय करते हुए वे कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन के उदय के पश्चात् तक सांख्य-दर्शन ने सुव्यवस्थित दर्शन का रूप धारण नहीं किया था। जब बौद्ध दार्शनिकों ने यथार्थवाद को चुनौती दी तो सांख्य-दर्शन ने उस चुनौती को स्वीकार कर आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों की यथार्थता के पक्ष में युक्तियुक्त आधार पर तर्क प्रस्तुत किये और जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियों के आधार पर हुआ तो सांख्यदार्शनिकों को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा कि ईश्वर की

---

१. भा. द. रू., पृष्ठ २६७. २. भा. द. इ. खण्ड १, पृष्ठ २३०.

सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है।[1] प्रो० हिरियन्ना का मत है कि स्वभाववाद (जड़वाद) के प्रभाव में आकर सांख्य-दर्शन में जगत् को उत्पन्न करने की क्षमता पूर्ण रूप से प्रकृति के अन्तर्गत स्वीकार कर ली गयी जिससे ईश्वर की धारणा व्यर्थ हो गयी।[2] डॉ० चन्द्रधर शर्मा का मत भी यही है कि मौलिक रूप में सांख्य एकत्ववादी और ईश्वरवादी था तथा परवर्ती सांख्य सम्भवतः जड़वाद, जैन और बौद्ध दर्शन के प्रभाव में आकर निरीश्वरवादी हो गया।[3] डॉ० अणिमा सेनगुप्ता भी सांख्य की तीन स्थितियाँ स्वीकार करती हैं। उनका मत है कि प्रथम स्थिति में सांख्य ईश्वरवादी तथा एकत्ववादी था जैसा सर्वत्र उपनिषदों में प्राप्त होता है; दूसरी स्थिति अनीश्वरवादी तथा अर्ध द्वैतवादी है जिसका प्रतिनिधित्व पञ्चशिख एवं चरक द्वारा प्रतिपादित सांख्य में हुआ है तथा अन्तिम स्थिति निरीश्वरवादी एवं पूर्ण द्वैतवादी है जो अराड द्वारा प्रतिपादित बुद्धचरित में, ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा सांख्यसूत्रों में वर्णित है।[4] डॉ० रामसुरेश पाण्डेय ने सांख्य की निरीश्वरवादी और सेश्वरवादी दो विचारधारा मानने के मत का खण्डन किया है। उनका मत है कि विज्ञानभिक्षु का कोई अलग सांख्य नहीं है उन्होंने मूल में ही सांख्य को सेश्वर सिद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ सांख्यप्रवचनभाष्य तथा विज्ञानामृतभाष्य में पुराणों एवं स्मृतियों के उद्धरण द्वारा सांख्य की सेश्वरता प्रतिपादन करने की चेष्टा की है तथा सांख्य-ग्रन्थों में ईश्वर के उल्लेख होने को प्रौढ़िवाद से स्वीकार किया है। अतः विज्ञानभिक्षु के प्रयास और निष्कर्ष पर ध्यान न देकर पुराणों में पृथक्-पृथक् सांख्य मानना उचित नहीं है; वस्तुतः उन सब में एक ही सांख्य अभिव्यक्त हुआ है।[5]

सांख्य की ईश्वरवादी धारा

उपनिषद् का ईश्वरवादी सांख्य—उपनिषदों में उल्लिखित सांख्य विचार-धारा आध्यात्मोन्मुखी ईश्वरवाद है। उसमें ब्रह्म की या ईश्वर की धारणा सर्वोच्च तत्त्व के रूप में प्राप्त होती है और प्रकृति एवं पुरुष को गौण तथा परस्पर भिन्न स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस प्रकार की विचारधारा उपनिषदों में अस्फुट रूप में इधर-उधर बिखरी पड़ी है तथापि कठ, श्वेताश्वतर एवं अपेक्षाकृत

---

१. भा. द. खण्ड २, पृष्ठ २५२.	२. भा. द. रू., पृष्ठ २६७.
३. C. S. I. P., p. 164.	४. E. S. T., p. 126.
५. म. पु. सां., पृष्ठ ५८.

अर्वाचीन माने ज़ानेवाले मैत्रायिणी तथा मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में स्पष्ट रूप से इस विचारधारा के दर्शन होते हैं। कठोपनिषद् (१/३/१०-११, ·/३/७-८) में पुरुष का वर्णन परमतत्त्व के रूप में किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का तो कहना ही क्या, उसे तो सांख्य उपनिषद् माना ही जाता है। इस उपनिषद् के सम्बन्ध में यह धारणा है कि यह द्वैत का प्रतिपादक है, इसलिए भी इसका सांख्य-दर्शन के साथ विशेष सामञ्जस्य है। प्रथम अध्याय के नवें मन्त्र में सर्वत्र अनादि ईश्वर अल्पज्ञ भोक्ता जीव तथा उस (भोक्ता जीव) के लिए पदार्थों को प्रस्तुत करनेवाली प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है।[1] इस प्रकार प्रथम अध्याय के बारहवें मन्त्र में स्पष्टतः भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता शब्द का प्रयोग हुआ है। भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति तथा प्रेरिता ईश्वर है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जड़ प्रकृति ईश्वर की प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं कर सकती। ईश्वर सत्त्व आदि गुणों का प्रवर्तक है।[2] अतः प्रेरक के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। चतुर्थ अध्याय में प्रकृति को माया तथा ईश्वर को मायिन् अर्थात् प्रकृति पर नियन्त्रण रखनेवाला अधिष्ठाता बताया गया है।[3] वह प्रकृति के विभिन्न रूपों (अर्थात् मूल प्रकृति एवं अवान्तर प्रकृतियों) का अधिष्ठाता है (श्वेता० उप० ४/११) जगत् का कारणभूत परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को निष्पन्न करता है; परिणामयोग्य पदार्थों को परिणत करता है तथा सत्त्व आदि गुणों को नियुक्त करता है (श्वेता० उप० ५/५)। छठें अध्याय में ईश्वर को 'गुणी', 'गुणेश' एवं 'प्रधान, क्षेत्रज्ञपति' कहा गया है (श्वेता० उप० ६/१६) और उसको जानने का साधन सांख्य, योग स्वीकार किया गया है। अपेक्षाकृत अर्वाचीन माने जानेवाले उपनिषदों में मैत्रायणी (२/७) में कर्मफलों से अनभिभूत, शुद्ध, अचल, निस्पृह परमात्मा का निर्देश किया गया है जो अकेला सर्वत्र संसार में व्याप्त है तथा कभी संसार के बन्धन में न आने के कारण कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व आदि धर्मों से रहित है और जगत् की रचना करता है। वहाँ (अर्थात् मैत्रा० उप० ३/३ में) उसे सत्त्वादि गुणों का प्रेरक माना गया है। इसी प्रसङ्ग में सत्त्व, रजस्, तमस् की तुलना क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र से की गयी है (मैत्रा० उप० ५/२)। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१/४) में जीव को चौबीस तत्त्वों से भिन्न पच्चीसवाँ तत्त्व तथा परमात्मा को

----

१. श्वेता. उप. १/९. २. वही ३/१२.
३. वही ४/१०.

छब्बीसवाँ तत्त्व बताया गया है। इस प्रकार उपनिषदों में सांख्य-सिद्धान्तों का ईश्वरवाद के साथ समन्वय मिलता है।

महाभारत का ईश्वरवादी सांख्य—महाभारत के अनेक प्रकरणों में प्रसङ्गवश सांख्य का उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व में अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के संवादों का वर्णन किया गया है, इन संवादों में जो दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं वे किसी सांख्य-ग्रन्थ या परम्परा से लिये गये प्रतीत होते हैं। महाभारत में सांख्य का यह सिद्धान्त तो ज्यों का त्यों प्राप्त होता है कि प्रकृति सक्रिय, जड़ एवं अचेतन है तथा पुरुष चेतन, निष्क्रिय तथा उदासीन है किन्तु वहाँ पुरुष और प्रकृति को दो निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं प्रत्युत ब्रह्म के दो धर्मों के रूप में माना गया है। महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्ष-धर्म प्रकरण में आचार्य पञ्चशिख और जनक का संवाद मिलता है जिसमें आसुरि के द्वारा अक्षर-ब्रह्म के प्रतिपादन की चर्चा आयी है।[१] इसी पर्व में असित-नारद-संवाद में असित मुनि अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह शरीर पाप-पुण्यमय है, जीवधारी प्रारब्ध-कर्मों के क्षय के साथ-साथ इस शरीर को भी क्षीण करता रहता है, इस प्रकार शरीर नाश हो जानेपर वह मुक्त पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।[२] इसी पर्व में एक अन्य स्थल पर सांख्य को 'नारायणपर' कहा गया है।[३] अन्यत्र[४] सांख्यवेत्ताओं द्वारा ईश्वर को 'परमात्मा' कहने का उल्लेख कर उसी परमात्मा से प्रधान के नाम से प्रसिद्ध अव्यक्त की उत्पत्ति होने की बात कही गयी है। एक अन्य प्रसङ्ग में महर्षि याज्ञवल्क्य देवराति जनक को बताते हैं कि प्रकृति अचेतन है तथा परमतत्त्व द्वारा अधिष्ठित होकर ही सृष्टि और संहार करती है (महाभा० १२/३१४/१२) इसी प्रकार वशिष्ठ और करालजनक के संवाद में भी परमात्मा द्वारा सृष्टि होने का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि परमात्मा ही प्रसवात्मिका प्रकृति को नाना रूपों में परिणत करते हैं।[५] कहीं-कहीं प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि तथा अनन्त बताते हुए इनको ईश्वर कहा गया है और सांख्य-विचारकों द्वारा इनके 'तत्त्व' इस संज्ञा से अभिहित किये जाने का उल्लेख किया गया है।[६] यहाँ इस द्वैतवादी स्वरूप का सङ्केत मिलता है कि प्रकृति और पुरुष से भिन्न ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। परन्तु महाभारत में

---

१. महाभा. १२/२१८/१४. २. वही १२/२७५/३८. ३. वही १२/३४७/८७.
४. वही १२/३४०/२८-२९. ५. वही १२/३०६/३६. ६. वही १२/३०७/१२.

प्रतिपादित सांख्य का मुख्य रूप से झुकाव ईश्वरवाद की ही ओर है। भीष्म तथा युधिष्ठिर के संवाद में सांख्य-ज्ञान को सबसे उत्कृष्ट बताते हुए उसमें अक्षर, ध्रुव, पूर्ण एवं सनातन ब्रह्म का प्रतिपादन होने का उल्लेख किया गया है।[१] इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि महाभारत में सांख्य-दर्शन का शब्दतः[२] और अर्थतः उल्लेख है और वह ईश्वरवादी है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[3] तथा डॉ० अणिमा सेनगुप्ता[४] का मत है कि महाभारत में ही प्रतिपादित पञ्चशिख का सिद्धान्त निरीश्वरवादी है। यद्यपि डॉ० अणिमा सेनगुप्ता का भी मत है कि महाभारत में मुख्यतया ईश्वरवादी सांख्य का प्रतिपादन हुआ है।[५] गार्बे का मत है कि महाभारत में प्रतिपादित सांख्य पूर्णतः विकसित सांख्य ही है जो महाभारत में एक लोकप्रिय रूप में दिखायी देता है।[६] किन्तु प्रो० हिरियन्ना का मत है कि महाभारत में प्रतिपादित सांख्य विकसित सांख्य नहीं है। उनकी धारणा है कि वहाँ ईश्वर के स्पष्ट रूप से परम सत्ता के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण अधिक सम्भावना इसी बात की है कि वहाँ प्रतिपादित सेश्वर सांख्य विकसित सांख्य का आद्यस्वरूप ही है।[७]

श्रीमद्भगवद्गीता का ईश्वरवादी सांख्य--श्रीमद्भगवद्गीता में उपलब्ध होनेवाला सांख्य भी सेश्वर सांख्य ही है। यों तो मुख्यतया गीता में भागवत-धर्म का ही प्रतिपादन हुआ है किन्तु वहाँ स्पष्ट रूप से सांख्य विचारधारा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। गीता में प्रकृति तथा पुरुष को परस्पर पृथक् तथा नित्य समझने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है यद्यपि इन दोनों को परमतत्त्व पर आश्रित ही माना गया है। वहाँ प्रकृति के अधिष्ठाता या प्रेरक के रूप में ईश्वर का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि समस्त जगत् का मूल कारण वे स्वयं अर्थात् भगवान् हैं[८] तथा उन्हीं की अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।[९] इस मत का प्रतिपादन और भी स्पष्ट रूप में करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि अर्थात् गर्भाधान का स्थान (या माता) है और मैं

---

१. महाभा. १२/३०१/१०१.

२. सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम्। (महाभा. १२/३०७/१)।

३. भा. द. इ. खण्ड १, पृष्ठ २२५.

४. E. S. T., p. 131.

५. E. S. T., p. 131.

६. S. S., p. 56.

७. भा. द. रू., पृष्ठ १०७.

८. अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। (गीता ७/६)।

९. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।। (गीता ९/१०)।

उसमें चेतनरूप बीज को स्थापित करनेवाला पिता हूँ। जड़ और चेतन के इस संयोग से सृष्टि होती है।[1] इस प्रकार गीता में प्रतिपादित सांख्य भी सेश्वर ही है और लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा है कि गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत की छाप लगी हुई है।[2]

पुराणों का ईश्वरवादी सांख्य—पुराणों में प्रतिपादित सांख्य ईश्वरवादी है। वहाँ प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर ये तीन सत्तायें मानी गयी हैं और प्रकृति तथा पुरुष को ईश्वर पर आश्रित बताया गया है। विष्णुपुराण के सृष्टि-प्रकरण में काल के साथ-साथ प्रधान और पुरुष को भी भगवान् विष्णु के विभिन्न रूप बताया गया है।[3] विष्णुपुराण के 'यह समस्त कार्य अर्थात् प्रपञ्च प्रलय के होने से लेकर सृष्टि के आरम्भ तक इसी प्रधान से व्याप्त था। उस समय न दिन था, न रात थी, न आकाश था, न भूमि थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न कुछ और ही था। केवल श्रोत्रादि इन्द्रियों और बुद्धि आदि के अविषय प्रधान, ब्रह्म तथा पुरुष ही उस समय थे' (विष्णुपु० १/२/२३) इत्यादि वाक्यों की व्याख्या करते हुए टीकाकार श्रीधर स्वामी कहते हैं, 'प्राधानिकं प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत्।' अर्थात् प्रलयकाल में परमात्मा प्रकृति तथा पुरुष इन तीनों का अस्तित्व था। इस पुराण में प्रधान और पुरुष को परमात्मा का आश्रित बताया गया है। नित्य और स्वतन्त्र होते हुए भी ये परमात्मा की प्रेरणा के विना कोई भी कार्य नहीं कर सकते। जगत् की रचना में परमात्मा की प्रेरणा को मुख्य कारण स्वीकार करते हुए कहा गया है कि सर्वात्मा परमेश्वर ने स्वयं अपनी इच्छानुसार परिणामी प्रकृति और अपरिणामी पुरुष में प्रविष्ट होकर उनको सृष्टिकार्य के लिए क्षोभित और प्रेरित किया।[4] विष्णुपुराण में भी सांख्य-दर्शन की भाँति

---

१. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४/३-४)।

२. गीतारहस्य, पृष्ठ १७५.

३. तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥ (विष्णुपु. १/२/१४)।

४. प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥ (विष्णुपु. १/२/२९)।

क्रियाशीलता प्रकृति में ही स्वीकार की गयी है, ईश्वर में नहीं। इसी मत को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस कार्य में परमेश्वर की कोई क्रियाशीलता नहीं होती। जिस प्रकार गन्ध क्रियाशील न होते हुए भी सन्निधिमात्र से ही मन को क्षुभित कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रधान और पुरुष को प्रेरित करते हैं।[1] वास्तव में परमेश्वर ही सङ्कोच और विकास द्वारा क्षोभित होनेवाले और क्षोभ करनेवाले हैं और वे ही प्रधान या प्रकृति के रूप में स्थित हैं।[2] इस प्रकार विष्णुपुराण में स्पष्ट रूप से प्रधान और पुरुष को परमात्मा के दो रूप स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत का सांख्य तो मुख्यतः विष्णुभक्तियोग ही है। वहाँ तीसरे स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय में प्रकृति को त्रिगुणमयी, अव्यक्त, नित्य तथा कार्यकारणरूप कहा गया है[3] और प्रकृति तथा तेईस व्यक्त तत्त्वों के अतिरिक्त पचीसवाँ तत्त्व काल माना गया है।[4] इस काल को ही साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न करनेवाला पुरुषरूप भगवान् माना गया है और इन भगवान् को अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीवरूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त बताया गया है।[5] तदनन्तर परमात्मा द्वारा क्षोभ को प्राप्त हुई प्रकृति में चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित कर महदादि क्रम से सृष्टि करने का वर्णन किया गया है।[6] ब्रह्मपुराण में भी ईश्वर के द्वारा प्रधान से जगत् की सृष्टि का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।[7]

---

१. यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते।
मनसो नोपकर्तृत्वात्तथासौ परमेश्वरः॥ (वही १/२/३०)।

२. स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥ (वही १/२/३१)।

३. यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥ (भागवत. ३/२६/१०)।

४. एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥ (वही ३/२६/१५)।

५. प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥ (भागवत. ३/२६/१७–१८)।

६. वही ३/२६/१९–६१.

७. अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं पुरुषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः॥ (ब्रह्मपु. १/३३)।

इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि ईश्वर स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं हो जाते अपितु वह प्रधानरूप मूल उपादान से ही इस जगत् की रचना करते हैं। वायुपुराण (५/२१) में भी परमेश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता स्वीकार किया गया है। इस प्रकार पुराणों में प्रतिपादित सांख्य-परम्परा सेश्वर ही ज्ञात होती है।

अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित सांख्य--मनुस्मृति भी सेश्वर सांख्य की विचार-धारा से ओत-प्रोत है। अहिर्बुध्न्य-संहिता में उल्लिखित सांख्य भी ईश्वरवादी ही है।[१] डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[२] तथा अणिमा सेनगुप्ता[३] अहिर्बुध्न्य-संहिता में प्रतिपादित सांख्य को कपिल के उपदेशों पर आधारित मानते हैं। डॉ० दासगुप्त का मत है कि अहिर्बुध्न्य-संहिता में कपिल के सांख्य-दर्शन को भी वैष्णव-दर्शन बताया गया है।[४] चरक-संहिता में प्रतिपादित सांख्य भी ईश्वर-वादी है। यद्यपि वहाँ ईश्वर का वर्णन नहीं है तथापि आत्मतत्त्व को परमात्मन् कहा गया है।[५] यह परमात्मा स्वेच्छा से ही शरीरों में स्थित रहता है। शरीर का सञ्चालक इससे भिन्न कोई अन्य तत्त्व नहीं है। मोक्षावस्था में सभी सुखों तथा दुःखों का अन्त हो जाता है, ऐसी स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[६] तथा डॉ० अणिमा सेनगुप्ता[७] चरक-संहिता में प्रति-पादित सांख्य को पञ्चशिख के उपदेशों पर आधारित मानते हैं और निरीश्वर-वादी स्वीकार करते हैं। किन्तु महाभारत[८] तथा चरक-संहिता में प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्तों से डॉ० दासगुप्त एवं डॉ० सेनगुप्ता के मत की पुष्टि नहीं होती। अश्वघोष की कृति बुद्धचरित में सिद्धार्थ के गुरु 'अराड' को सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन ईश्वरवादोन्मुखी दृष्टि से करते हुए दिखाया गया है। डॉ० राधाकृष्णन् बुद्धचरित में प्रतिपादित सांख्य-दर्शन को ईश्वरवादी मानते हैं।[९] किन्तु डॉ० अणिमा सेनगुप्ता[१०] तथा डॉ० के० वी० रामकृष्णराव[११] बुद्धचरित में प्रतिपादित सांख्य को निरीश्वरवादी मानते हैं।

---

१. तत्राद्यं ब्रह्मतन्त्रं तु द्वितीयं पुरुषाङ्कितम्। (अहिर्बु. १२/२०)।
षष्टितन्त्रमिदं सांख्यं सुदर्शनमयं हरेः। (वही १२/३०)।
२. भा. द. इ., खण्ड १, पृष्ठ २२९.
३. E. S. T., p. 135.
४. भा. द. इ., खण्ड १, पृष्ठ २२९.
५. चर. शरी. १/५३.
६. भा. द. इ., खण्ड १, पृष्ठ २२५, २३०.
७. E. S. T., pp. 112, 148.
८. महाभा. १२/२१८–१९.
९. भा. द., खण्ड २, पृष्ठ २५२.
१०. E. S. T., p. 103.
११. T. P. C. S., pp. 418–419.

सांख्य की निरीश्वरवादी धारा

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[1] तथा डॉ० अणिमा सेनगुप्ता का मत है कि कापिल सांख्य ईश्वरवादी था किन्तु आगे चलकर उनके प्रशिष्य पञ्चशिख ने उसे अनीश्वरवादी बना दिया तथा पञ्चशिख द्वारा प्रतिपादित सांख्य बौद्ध-दर्शन के बहुत निकट है। डॉ० सेनगुप्त का यह मत है कि आत्मा की नित्यता स्वीकार करने के कारण पञ्चशिख अपने दर्शन को बौद्ध-दर्शन की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रूप प्रदान कर सके जिससे भारतीय दर्शन के पारम्परिक वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।[3] डॉ० दासगुप्त[4] तथा डॉ० सेनगुप्ता[5] ने चरक-संहिता में प्रतिपादित सांख्य को पञ्चशिख के उपदेशों पर आधारित बताया है और उसे अनीश्वरवादी स्वीकार किया है। किन्तु महाभारत में पञ्चशिख के उपदेशों का जो वर्णन उपलब्ध होता है[6] तथा चरक द्वारा प्रतिपादित सांख्य-दर्शन के वर्णनों को[7] देखने से डॉ० दासगुप्त तथा डॉ० सेनगुप्ता के उक्त मत की पुष्टि नहीं होती।

श्री उदयवीर शास्त्री सांख्यसूत्रों में प्रतिपादित कापिल-सांख्य को भी ईश्वरवादी मानते हैं। उनका मत है कि शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में जिन सांख्य-सिद्धान्तों के खण्डन में परिश्रम किया है वह वस्तुतः वार्षगण्य की विचारधारा है जिसे कालान्तर में कपिल-मत पर आरोपित कर दिया गया।[8] कपिल, उनके शिष्य आसुरि, प्रशिष्य पञ्चशिख तथा अन्य प्राचीन विचारकों के मत जिनका विवरण महाभारत में मिलता है--ईश्वरवादी मत हैं।

सांख्य की निरीश्वरवादी धारा के प्रवर्तक आचार्य वार्षगण्य

सांख्य के निरीश्वरवादी होने का सबसे प्राचीन सङ्केत वार्षगण्य की विचार-धारा में प्राप्त होता है। वार्षगण्य की कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है किन्तु सांख्य के व्याख्या-ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों में उनके जो विचार उद्धृत मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि प्रकृति की प्रेरणा के लिए वे परमेश्वर की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे प्रकृति को सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं।[9]

---

१. भा. द. इ. खण्ड १, पृष्ठ २३०. २. E. S. T., p. 148. ३. वही।
४. भा. द. इ., खण्ड १, पृष्ठ २२५, २३०. ५. E. S. T., pp. 112, 148.
६. महाभा. १२/२१८-१९. ७. चर. शरी. १/५३. ८. सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ६६.
९. तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते। (युक्ति. १९)।

वार्षगण्य के अनुयायी उनके उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए जो दृष्टान्त देते थे उसे युक्तिदीपिका में इस प्रकार उपस्थापित किया गया है—'जिस प्रकार स्त्री और पुरुष के अचेतन शरीरों की एक-दूसरे को लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान की भी प्रवृत्ति होती है।'[1]

सांख्यकारिका तथा उसकी टीकाओं में प्रतिपादित निरीश्वरवादी सांख्य

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में जिस सांख्य का प्रतिपादन हुआ है, वह निश्चित रूप से निरीश्वरवादी है, यद्यपि कारिकाकार कहीं भी ईश्वर के खण्डन में प्रवृत्त नहीं हुए हैं और उन्होंने इस विषय में मौन धारण कर रखा है। बालगङ्गाधर तिलक का यह विचार है कि ईश्वरकृष्ण की ६१वीं कारिका लुप्त हो गयी है और उन्होंने गौडपादभाष्य के आधार पर उसकी रचना पुनः इस प्रकार की है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥[2]

बालगङ्गाधर तिलक इस कारिका को निरीश्वरत्व-प्रतिपादक मानते हैं और इससे भी ईश्वरकृष्ण के सांख्य-सिद्धान्त के निरीश्वर होने की ही पुष्टि होती है। ईश्वरकृष्ण अचेतन प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति ही स्वीकार करते हैं, प्रकृति की प्रेरणा के लिए वे किसी चेतन तत्त्व की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते।[3] सांख्य-कारिका की प्रसिद्ध टीका युक्तिदीपिका के लेखक स्पष्ट शब्दों में प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर की प्रेरणा का निषेध करते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए वार्षगण्य के मत को उद्धृत करते हैं।[4] पुरुष के मोक्ष के लिए वे प्रकृति की ही प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं, चेतन की प्रवृत्ति नहीं।[5] गौडपाद ईश्वर को सृष्टि का कारण मानने के मत को अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि ईश्वर तो निर्गुण है, उससे सत्त्व आदि गुणोंवाली प्रजा (सृष्टि) की सृष्टि कैसे होगी?

---

१. वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। (युक्ति. ५७)।

२. गीता रहस्य, पृष्ठ १६३, पाद टि.।

३. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ (सांख्यका. ५७)।

४. युक्ति. ५७.

५. तस्मायुक्तमेतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसङ्ग इति। (युक्ति. ५७)।

निर्गुण ईश्वर से सगुण महदादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? सगुण अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृति से त्रिगुण महदादि की सृष्टि सम्भव है। इससे प्रकृति-कारणतावाद की ही पुष्टि होती है और ईश्वरकारणतावाद का निरास हो जाता है।[1] वाचस्पति मिश्र भी प्रकृति की अचेतन प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं तथा ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का निषेध करते हैं। उनका मत है कि सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः होती है, ईश्वर द्वारा अधिष्ठित होनेपर नहीं क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति या तो स्वार्थवश स्वीकार की जा सकती है अथवा करुणावश। जगत् की सृष्टि में इनमें से एक भी कारण न होनेपर चेतन की प्रवृत्ति ही असिद्ध हो जायेगी। जगत् की सृष्टि में भगवान् का कोई स्वार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। सृष्टि करने में उनका कोई करुणा-भाव भी नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि से पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों की उत्पत्ति न होने के कारण उनको होनेवाले दुःख के अभाव में ईश्वर की क्या दूर करने की इच्छा होगी? और करुणाभाव तो दूसरों के दुःख के निवारण की इच्छा ही है। 'सृष्टि के पश्चात् दुःखियों को देखकर करुणा होती है' ऐसा स्वीकार करने पर 'करुणा-भाव से सृष्टि होती है और सृष्टि से करुणा-भाव उत्पन्न होता है', इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जायेगा। करुणाभाव की अयुक्तता में दूसरा तर्क यह है कि यदि ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि करते हैं तो उन्हें केवल सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए, सुख-दुःख आदि विविध अनुभवों वाले प्राणियों की नहीं। अचेतन प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति मानने पर उपर्युक्त दोष नहीं होगा क्योंकि अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति में स्वार्थ या करुणा-भाव की अपेक्षा नहीं होती।[2] सांख्यचन्द्रिका में भी वाचस्पति मिश्र के पूर्वोक्त मत का ही अनुसरण किया गया है।[3] इस प्रकार ईश्वरकृष्ण तथा उनके टीकाकारों के मत से सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी ही सिद्ध होता है।

अनिरुद्ध द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरवादी सांख्य

वृत्तिकार अनिरुद्ध के अनुसार सांख्यसूत्रों में ईश्वर का खण्डन किया गया है। उनकी दृष्टि में सांख्यसूत्र ईश्वर की सत्ता ही अस्वीकार करते

---

१. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥ ...अत्र सांख्याचार्या आहुः। ...निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। (गौड. ६१)।

२. तत्त्वकौ. ५७.

३. सांख्यच. ५७.

हैं।[१] पूर्वपक्षी के मत का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ईश्वरकर्तृक प्रत्यक्ष का प्रश्न प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि सम्भव होनेपर ही उठ सकता है किन्तु ईश्वर की सिद्धि कर सकने वाला कोई प्रमाण ही नहीं है अतः उनके प्रत्यक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।[२] ईश्वर को जगत् का निमित्त-कारण मानते हुए न्याय-दर्शन में यह तर्क दिया गया है कि पर्वत, सागर आदि कार्यों का भी कोई स्रष्टा या निमित्त-कारण होना चाहिए वही ईश्वर है।[३] इस तर्क का खण्डन करते हुए अनिरुद्ध कहते हैं कि वह ईश्वर या तो शरीरी होगा या अशरीरी और इन दोनों ही स्थितियों में उसका कर्तृत्व असम्भव है।[४] अतः ईश्वर सृष्टि का निमित्त-कारण नहीं हो सकता। उनका दूसरा तर्क अधोलिखित है--ईश्वर बद्ध है या मुक्त? यदि ईश्वर को बद्ध मानेंगे तो उसे धर्म और अधर्म से सम्बद्ध मानना होगा और तब उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकेगा। यदि वह मुक्त होगा तो उसमें कार्य करने के प्रयत्न का अभाव होगा और उसके कर्तृत्व की सिद्धि न हो सकेगी। उसे जीवन्मुक्त भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि जीवन्मुक्त के द्वारा सृष्टि-रचना का कोई दृष्टान्त नहीं प्राप्त होता।[५] इस प्रकार अनिरुद्ध का निष्कर्ष यही है कि न्याय-दर्शन के अभिमत ईश्वर की सिद्धि का कोई प्रमाण नहीं है।[६]

सांख्यसूत्र के पाँचवें अध्याय की वृत्ति में अपने उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि करते हुए अनिरुद्ध लिखते हैं, यदि यह माना जाये कि ईश्वर स्वतन्त्र कर्त्ता है तो यह स्वीकार करना होगा कि वह (जीवों के) कर्मों की अपेक्षा किये विना ही सृष्टि कर सकता है। यदि यह कहा जाये कि ईश्वर जीवों के कर्मों के सहकार से अर्थात् उनको दृष्टिगत रखते हुए तदनुसार सृष्टि करता है तो ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी, क्योंकि उस दशा में तो जीवों के द्वारा किये गये कर्म ही सृष्टि कर सकने के लिए पर्याप्त होंगे।

प्रश्न यह है कि सृष्टि में ईश्वर की प्रवृत्ति का हेतु क्या है? साधारणतया प्रवृत्ति के दो हेतु देखे जाते हैं स्वार्थ एवं परार्थ। सृष्टि करने में ईश्वर का कोई

----

१. पूर्वसिद्धमीश्वरासत्त्वम्, इदानीं न्यायमाह। (अनि. ५/२)।

२. यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। (अनि. १/९२)।

३. सर्वदर्शन. अक्ष. पृष्ठ ५२२. ४. अनि. १/९२. ५. अनि. १/९३.

६. यद्यस्मदभिमत आत्मा ईश्वरो भवेत्, भवतु। न्यायाभिमते तु प्रमाणं नास्ति। (अनि. ३/५७)।

स्वार्थ नहीं हो सकता (क्योंकि वे आप्तकाम हैं)। यह मानने पर कि उन्होंने सृष्टि परार्थ की है इस सृष्टि के दुःखमय होने की व्याख्या न की जा सकेगी।[१] तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर करुणा-भाव से प्रेरित होकर सृष्टि की रचना करते तो संसार में दुःख नहीं होता किन्तु संसार दुःखबहुल है। अतः इसे किसी कारुणिक या ईश्वर की रचना नहीं माना जा सकता।

यह कहना भी ठीक न होगा कि सृष्टि की रचना करके ईश्वर किसी अर्थ में लाभान्वित होता है क्योंकि नित्य तत्त्व के उपकृत या लाभान्वित होने का कोई अर्थ नहीं होता। यदि यह मान लिया जाये कि सृष्टि करके ईश्वर स्वयं अपने को ही उपकृत करते हैं तो उन्हें लौकिक ईश्वर अर्थात् शक्तिमान् संसारी जीवों की ही भाँति पूर्णता, आप्तकामत्व आदि से विरहित स्वीकार करना होगा और इस दशा में वे सर्वज्ञ नहीं रह जायेंगे।[२]

'प्रकृति में प्रतिबिम्बित होनेपर आत्मतत्त्व (पुरुष) उसके प्रकृतिगत कर्तृत्व से युक्त होने के कारण कर्त्ता कहा जाता है उस कर्त्ता को ही ईश्वर कहते हैं।' यह मान लेने पर ईश्वर एक पारिभाषिक शब्द मात्र रह जायेगा।[3]

ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में दोषोद्भावना करते हुए अनिरुद्ध तर्क देते हैं कि ईश्वर को राग-रहित होने के कारण जगत्कर्त्ता नहीं माना जा सकता। किसी कार्य में प्रवृत्ति का हेतु राग ही होता है, अतः राग के अभाव में सृष्टि-रचना में प्रवृत्ति और तदर्थ प्रयत्न का अभाव होगा तथा उसे रागयुक्त मान लेने पर उसे नित्यमुक्त नहीं कहा जा सकेगा और उसके स्वरूप की हानि होगी।[४]

प्रकृति की शक्ति के संयोग से भी ईश्वर में कर्तृत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि प्रकृति के संयोग से उसमें सङ्ग की आपत्ति होगी तथा उसके श्रुति में प्रतिपादित असङ्गत्व की हानि होगी।[५]

यह कहना भी ठीक न होगा कि प्रकृति की सत्ता मात्र से पुरुष में ईश्वरत्व आ जाता है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकृति की सत्ता सभी पुरुषों के लिए निर्विशेष रूप से होने के कारण सभी पुरुषों के ईश्वर हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[६]

---

१. अनि. ५/२. २. वही ५/३–४. ३. वही ५/५. ४. वही ५/६–७.
५. वही ५/८. ६. वही ५/९.

ईश्वर के ज्ञान के साधन हैं,[१] इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए वृत्तिकार अनिरुद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।[२] उनका मत है कि अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि अनुमान में प्रत्यक्ष के द्वारा साध्य और हेतु की व्याप्ति का ग्रहण अपेक्षित होता है और ऐसा ईश्वर के सम्बन्ध में सम्भव नहीं है अतः अनुमान से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है।[३] श्रुति से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि श्रुति में प्रधान से जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।[४] न्याय-दर्शन में ईश्वर की सिद्धि के लिए यह तर्क भी दिया जाता है कि ईश्वर वेद का रचयिता है[५] किन्तु सांख्य-दार्शनिक वेद का कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते क्योंकि ईश्वर की तो सत्ता ही असिद्ध है।[६] वेदों में 'सर्ववित्', 'सर्वकर्त्ता' आदि शब्दों का प्रयोग मुक्तात्माओं के लिए किया गया है, ईश्वर के लिए नहीं। इस प्रकार अनिरुद्ध की दृष्टि में भी सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी ही है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में सांख्य-दर्शन में ईश्वर का स्थान

सांख्य-दर्शन की इस निरीश्वरवादी धारा को आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सेश्वरवाद की ओर उन्मुख कर दिया। सांख्य-दर्शन में ईश्वर की प्रतिष्ठा का प्रयास आचार्य विज्ञानभिक्षु की महत्त्वपूर्ण देन है। विज्ञानभिक्षु के समय में प्रचलित सांख्य-दर्शन का स्वरूप निरीश्वरवादी था, किन्तु उन्हें उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा पुराणों में प्रतिपादित लुप्त सेश्वरवादी सांख्य-परम्परा का भी ज्ञान था, अतः वे पुनः सांख्य-दर्शन में ईश्वर की प्रतिष्ठा करने को समुत्सुक थे। उन्होंने सांख्य-दार्शनिकों के 'ईश्वराज्ञान' का उल्लेख करते हुए सांख्य-को ईश्वर-प्रतिषेधांश में दुर्बल बताया है।[७] उनकी धारणा है कि 'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्'[८] इत्यादि स्मृति-वाक्य सांख्य के विवेकांश की दृष्टि से कहे गये हैं, ईश्वर-प्रतिषेधांश की दृष्टि से नहीं और इस प्रसङ्ग में तो सांख्य को दुर्बल मानना ही चाहिए।[९]

आचार्य विज्ञानभिक्षु स्वयं ईश्वरवादी थे तथा सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर को स्वीकार करते थे।[१०] उनका मत है कि

---

१. ईश्वरसाधनानि सन्ति। (अनि. ५/१० अव.)। २. वही ५/१०.
३. वही ५/११. ४. वही ५/१२. ५. न्यायभा. २/१/६९, न्यायकु. ५.
६. सां. सूत्र ५/४१, ४६. ७. सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ४; विज्ञा. २/१/१.
८. महाभा. १२/३१६/२. ९. सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ३. १०. विज्ञा. १/१/३.

सांख्य परमार्थतः ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता। अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' (श्वेता० उप० ६/१३) इत्यादि श्रुतियों—जहाँ 'उस कारण' अर्थात् ईश्वर को सांख्य-योग के द्वारा ज्ञेय कहा गया है— में सांख्य के ईश्वराभ्युपगम का उल्लेख है और 'जगदाहुरनीश्वरम्' (गीता १६/८) इत्यादि स्मृतियों में निरीश्वरवाद की अत्यन्त निन्दा की गयी है,[1] इसलिए वैदिक परम्परावादी सांख्य-दर्शन परमार्थतः निरीश्वरवादी नहीं हो सकता। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल को ईश्वर का अवतार तथा ईश्वर को मोक्षदाता भी स्वीकार किया है।[3] किन्तु सांख्य-दर्शन के निरीश्वर-वाद ने उनके समक्ष विकट समस्या उत्पन्न कर दी। सांख्य की परम्परा का निर्वाह करते हुए ईश्वर के प्रतिषेध वाले उसके दुर्बल अंश के परिहार का उत्तरदायित्व उनपर आ पड़ा। वेदान्त और योग के ईश्वरवाद के साथ सांख्य के निरीश्वरवाद का समन्वय भी उन्हें करना था अतः उन्होंने सांख्य के निरीश्वरवादी रूप का अपलाप न करते हुए भी उसे सेश्वरता की सम्भावना से युक्त कर दिया। उनका मत है कि सांख्य में ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण ही 'कारण-ब्रह्म' के रूप में निर्गुण पुरुष-सामान्य को स्वीकृत किया जाता है।[4] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य की निरीश्वरवादी परम्परा को न स्वीकार करते हुए भी नामान्तर से चित्सामान्य अर्थात् ईश्वर को सांख्य-दर्शन में प्रतिष्ठित कर दिया।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्य-दर्शन में कहीं भी ईश्वरवाद की निन्दा नहीं है।[5] सांख्य ग्रन्थों में लोकायत मत की भाँति नित्य ईश्वर का जो खण्डन प्राप्त होता है उसका उद्देश्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार ईश्वर के परिपूर्ण नित्य निर्दोष ऐश्वर्य के दर्शन से विवेक-ज्ञान के साधक के चित्त के उसमें आविष्ट हो जाने के फलस्वरूप उसके विवेकाभ्यास के प्रतिबन्धित हो जाने की सम्भावना को दूर करना मात्र है।[6] उनका मत है कि सांख्य-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विवेक-ज्ञान है और वह उसीपर सबसे अधिक बल देता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु की धारणा है कि सांख्य-दर्शन में ईश्वर का प्रतिषेध

---

१. विज्ञा. १/१/५

२. नारायणः कपिलमूर्तिः (सां.प्र.भा. मङ्गला. २)। ३. प्रीयतां मोक्षदो हरिः (वही ६)।

४. सां. प्र. भा. ६/६६. ५. वही उपो. पृष्ठ ३. ६. वही।

मीमांसकों[1] तथा बौद्धों का मत[2] स्वीकार करके अभ्युपगमवाद से किया है। सांख्यदार्शनिकों के मीमांसा के मत को स्वीकार करके अभ्युपगमवाद से ईश्वर के खण्डन करने के मत का औचित्य बताते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि मीमांसकों के नित्य ब्रह्म को नहीं स्वीकार करने तथा ब्रह्म-विद्या का स्वर्ग-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं मानने पर उनके समान ईश्वर को न स्वीकार करते हुए भी कापिल-दर्शन में बतायी गयी विवेक-ख्याति से ही मोक्ष हो जायेगा—इस मत के प्रतिपादन के लिए सांख्यदार्शनिकों ने अभ्युपगमवाद से मीमांसकों को अभिमत ईश्वर के खण्डन को स्वीकार कर लिया है।[3] इसी प्रकार सांख्य-दार्शनिकों ने बौद्ध-मत के ईश्वरवाद के खण्डन को अभ्युपगमवाद से स्वीकार करके आत्म तथा अनात्म पदार्थ की विवेचना की।[4] उनका मत है कि सांख्य के अनीश्वरवाद को अभ्युपगमवाद से बौद्ध आदि मत का अनुवाद नहीं माना जायेगा तो[5] 'पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम' (महाभा० १२/३१८/७३) आदि महाभारत में वर्णित सांख्यदार्शनिकों द्वारा दिये गये नित्य ईश्वर के उपदेश की उपपत्ति नहीं हो सकेगी।[6] इसी प्रकार मत्स्यपुराण के

एवं षड्विंशकं प्राहुः शरीरमिह मानवाः।
सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।। (मत्स्यपु० ४/२८)।

की भी उपपत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि यहाँ कापिल-सांख्य में छब्बीसवें तत्त्व के अन्तर्गत ईश्वर को स्वीकार किया गया है।[7] अतः विज्ञानभिक्षु के अनुसार सांख्य-दर्शन में अभ्युपगमवाद तथा प्रौढिवाद से व्यावहारिक ईश्वर का प्रतिषेध होने से ईश्वरवादी ब्रह्ममीमांसा तथा योग के साथ सांख्य का विरोध नहीं है।[8] अभ्युपगमवाद को शास्त्रसम्मत बताते हुए विज्ञानभिक्षु ने विष्णु-पुराण के अधोलिखित श्लोक को सांख्यप्रवचनभाष्य (उपो० पृष्ठ ५) तथा विज्ञानामृतभाष्य (१/१/१) में उद्धृत किया है।

एते भिन्नदृशां दैत्य विकल्पा कथिता मया।
कृत्वाभ्युपगमं तत्र संक्षेपः श्रूयतां मम।। (विष्णुपु० १/१७/८३)

उनका मत है कि आस्तिक दर्शनों में भी अंशतः श्रुतिविरोधी निरीश्वरवाद आदि का निरूपण इसलिए किया गया है जिससे पापी

---

१. विज्ञा. २/१/१.   २. वही १/१/५.   ३. वही २/१/१.   ४. वही १/१/५.
५. यदि च अभ्युपगमवादेन बौद्धादिमतानुवादपरता कपिलस्य नोच्यते तदा। (विज्ञा. २/१/१)।
६. महाभा. १२/३१८/७३.   ७. मत्स्यपु. ४/२८.   ८. सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ५.

पापी मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान न हो सके।[1] अतः सांख्य-दर्शन में भी ईश्वर का प्रतिषेध एकदेशी है अर्थात् प्रौढिवाद तथा अभ्युपगमवाद से किया गया है।[2]

सांख्य-दर्शन की ही भाँति वैशेषिक तथा मीमांसा आदि दर्शनों में भी ईश्वर का निषेध किया गया है तथापि इन सभी दर्शनों की गणना आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत की जाती है। विज्ञानभिक्षु का दृढ मत है कि ईश्वर के प्रतिषेध के कारण सांख्य-दर्शन को अवैदिक दर्शन नहीं माना जा सकता क्योंकि साख्य में ईश्वर का प्रतिषेध अभ्युपगमवाद तथा प्रौढिवाद से किया गया है।

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार सांख्यसूत्रों में ईश्वर का जो खण्डन किया गया है, उसका तात्पर्य केवल यही प्रदर्शित करना है कि ईश्वर की सिद्धि प्रमाणों से नहीं की जा सकती। यदि सूत्रकार का यह मन्तव्य नहीं होता और वे ईश्वर का अभाव सिद्ध करना चाहते तो 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० सूत्र १/९२) इस सूत्र की रचना 'ईश्वराभावात्' (सां० प्र० भा० १/९२) इस प्रकार करते। ईश्वर-प्रतिपादक समझी जानेवाली श्रुतियाँ भी मुक्तात्मा की प्रशंसा या सिद्धोपासना का ही निरूपण करनेवाली हैं और उनके आधार पर भी ईश्वर की सत्ता की सिद्धि नहीं की जा सकती।[3] श्रुति, स्मृति में प्रतिपादित ईश्वर के दो ही विकल्प स्वीकार किये जा सकते हैं—क्लेश आदि से बद्ध या मुक्त। ईश्वर को क्लेश आदि से मुक्त मानने पर उसका जगत्स्रष्टृत्व उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि मुक्त स्वरूप में सृष्टि-रचना के प्रयोजक अभिमान तथा राग आदि का अभाव होगा और इसके अभाव में वह सृष्टि-रचना के कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा। दूसरे विकल्प के अनुसार ईश्वर को बद्ध मानना होगा और बद्ध मानने पर उसमें मूढत्व की आपत्ति होगी तथा वह सृष्टि-रचना के लिए अक्षम सिद्ध होगा।[4]

'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा' (सां० सूत्र १/९५) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि श्रुतियों में प्राप्त ईश्वर के वर्णन मुक्त आत्माओं की प्रशंसा हैं और सङ्कल्पपूर्वक ईश्वर के स्रष्टृत्व का वर्णन करनेवाले वाक्य सिद्धोपासनापरक हैं।[5]

---

१. सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ५. २. वही १/९२. ३. वही १/९५.
४. वही १/९३–९४. ५. वही १/९५.

विज्ञानभिक्षु नैयायिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों का अनिरुद्ध की ही भाँति खण्डन करते हुए कहते हैं कि कर्मफल की निष्पत्ति के लिए ईश्वर को अधिष्ठाता मानना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मफल की प्राप्ति तो कर्म के द्वारा भी हो सकती है।[१] यदि ईश्वर को कर्मफल का अधिष्ठाता माना जायेगा तो यह स्वीकार करना होगा कि उसके इस कार्य से उसका उपकार होता है क्योंकि विना स्वोपकार के कोई भी सञ्चालन, नियमन आदि कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[२] ईश्वर का उपकार होता है यह मानने पर उसे लौकिक ईश्वर की भाँति ही अपूर्णकाम होने के कारण दुःख आदि से सम्बद्ध मानना होगा। इस प्रकार यदि ईश्वर को लौकिक ईश्वर के सदृश ही मान लिया जायेगा तो वह लौकिक ईश्वर के लिए प्रयुक्त एक अन्य पारिभाषिक शब्द मात्र होगा, सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं।[३]

विज्ञानभिक्षु ईश्वर को कर्म का अधिष्ठाता मानने के सिद्धान्त में दोषोद्भावना करते हुए कहते हैं कि ईश्वर को कर्म का अधिष्ठाता नहीं माना जा सकता क्योंकि ईश्वर राग-शून्य है और राग ही सङ्कल्पपूर्वक अधिष्ठातृत्व का हेतु होता है। यदि पूर्वपक्षी ईश्वर को रागमुक्त स्वीकार कर लेगा तो उसके ईश्वर को नित्यमुक्त मानने के सिद्धान्त की हानि होगी।[४]

प्रकृति की इच्छादि शक्तियों के सम्बन्ध से भी पुरुष में ईश्वरता नहीं स्वीकार की जा सकती क्योंकि प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष में सङ्ग की आपत्ति होगी तथा उसे असङ्ग नहीं माना जा सकेगा और उसे असङ्ग न मानने पर उसके असङ्ग होने का प्रतिपादन करनेवाले श्रुति-वाक्यों से विरोध होगा। यह मानना भी ठीक न होगा कि प्रकृति के सन्निधानमात्र से पुरुष में ईश्वरता आ जाती है क्योंकि यह स्वीकार कर लेने पर प्रकृति का सान्निध्य सभी पुरुषों के साथ होने के कारण सभी पुरुषों के ईश्वर हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और पूर्वपक्षी के ईश्वर को एक और अद्वितीय मानने के सिद्धान्त की हानि होगी।[५]

नैयायिक ईश्वर को वेद का कर्त्ता मानते हैं[६] किन्तु सांख्यदार्शनिकों का तर्क है कि जब नित्यज्ञान का आश्रयभूत ईश्वर ही असिद्ध है तो उसे वेद का कर्त्ता मानना तो सुतरां अप्रमाणिक है।[७]

---

१. सां.प्र.भा. ५/२. २. वही ५/३. ३. वही ५/४–५. ४. वही ५/६–७.
५. वही ५/८–९. ६. न्यायभा. २/१/६९, न्यायकु. ५. ७. सां.प्र.भा. ५/४६, १२८.

सांख्यदार्शनिकों के अनुसार नित्य-ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण का नितान्त अभाव है। ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष-प्रमाण से नहीं हो सकती क्योंकि सामान्यतः प्रत्यक्ष में बुद्धि और अर्थ का इन्द्रियों के माध्यम से सन्निकर्ष अपेक्षित है। ईश्वर रूप आदि से रहित है, अतः ईश्वर का इन्द्रियों से सन्निकर्ष हो नहीं सकता और इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव है। अनुमान भी ईश्वर के ज्ञान में सहायक नहीं है क्योंकि सृष्टि-क्रिया और ईश्वर में व्याप्य-व्यापक-भावरूप व्याप्ति की स्थापना कर सकना सम्भव नहीं है और विना व्याप्ति-सम्बन्ध के ज्ञान के सृष्टि-क्रिया आदि का व्यापकत्व भी सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यापक के रूप में ईश्वर की अनुमिति सम्भव नहीं है।[1] शब्द-प्रमाण से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती क्योंकि श्रुति जगत् को प्रधान का ही कार्य बताती है, किसी चेतन कारण का नहीं। विज्ञानभिक्षु अपने इस मत के समर्थन में 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' (श्वेता० उप० ४/५) तथा 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृह० उप० १/४/७) इत्यादि श्रुतियाँ उद्धृत करते हैं। चेतन तत्त्व को जगत् का कारण बतानेवाले 'तदैक्षत बहु स्याम' (छान्दो० उप० ६/२/३) इत्यादि श्रुति-वाक्य भी सर्ग के आदिकाल में उत्पन्न महत्तत्त्वोपाधिक पुरुष का ही ज्ञान कराते हैं। चेतन की कारणता द्योतित करनेवाली श्रुतियों को गौण मानना चाहिए अन्यथा 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणः' (श्वेता० उप० ६/११) आदि शब्दों से प्रतिपादित अपरिणामी पुरुष परिणामी हो जायेगा।[2] विज्ञानभिक्षु ईश्वर के खण्डन का औचित्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि सांख्य-दर्शन में ईश्वर का प्रतिषेध ऐश्वर्य से वैराग्य की भावना को उद्दीप्त करने के लिए किया गया है और इसलिए वहाँ ईश्वर-विषयक ज्ञान के अभाव में भी मोक्ष की उपलब्धि होने का प्रतिपादन प्रौढिवाद से हुआ है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु श्रुतियों में प्रतिपादित जन्य ईश्वर की सत्ता को सर्व-सम्मत और सांख्याभिमत मानते हैं।[3] ये जन्य ईश्वर प्रकृतिलीन जीव हैं जो दूसरे सर्ग के आरम्भ में ईश्वरत्व-भाव से पुनः आविर्भूत होते हैं[4] और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि नाम से व्यवहृत होते हैं। किन्तु ये ईश्वर नित्य ईश्वर या वास्तविक ईश्वर नहीं हैं अपितु पुरुषकोटिक हैं[5] और इनका ऐश्वर्य परिमित

----

१. सां. प्र. भा. ५/१०-११. २. वही ५/१२. ३. वही ३/५७.
४. वही ३/५४. ५. सां. सा. उत्तर. ६/३०.

होता है। महत्तत्त्वोपाधिक विष्णु परमेश्वर महान् ब्रह्मा कहे जाते हैं।[१] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने महत्तत्त्व कहे जानेवाले विष्णु को स्वयम्भू, जगत् का अङ्कुर, ईश्वर, सर्वात्मा, सर्वजयी कह कर उन्हें नमस्कार किया है। यही महत्तत्त्वोपाधिक विष्णु संसार का पालन आदि करते हैं।[३] विज्ञानभिक्षु अपने मत की पुष्टि के लिए श्रीमद्भागवत को उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि 'सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान् की उपलब्धि का स्थान रूप चित्र है वही महत्तत्त्व है तथा उसी को वासुदेव कहते हैं (भाग० ३/२६/२१)।'[४] सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व द्वारा सृष्टि तथा संहार आदि कार्य नहीं होते अपितु अहङ्कार से ही सृष्टि और संहार आदि कार्य सम्भव होते हैं, अतः नित्य ईश्वर से सृष्टि, संहार आदि कार्य मानने में प्रमाण का अभाव है। 'बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दो० उप० ६/२/३) में भी अहङ्कारपूर्वक सृष्टि करने का प्रतिपादन किया गया है। अहङ्कारोपाधिक ब्रह्मा तथा रुद्र सृष्टि, संहार आदि कार्य करते हैं।[५] इस मत की सिद्धि श्रुति एवं स्मृति से भी होती है।[६]

कुछ लोगों[७] की धारणा है कि विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य ईश्वरवादी है। विज्ञानभिक्षु स्वयं ईश्वरवादी थे यह मानने में किसी को विप्रतिपत्ति न होगी। उनका मत है कि नित्येश्वर की सिद्धि तर्कों से नहीं की जा सकती[८] इसलिए तर्कप्रवण सांख्यदार्शनिक[९] सांख्यशास्त्र को निरीश्वरवादी मानते हैं।[१०] सांख्यसूत्रों में किये गये ईश्वर के खण्डन की उन्होंने युक्तिपूर्वक स्पष्ट व्याख्या की है और वे सांख्य-प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों से भिन्न ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे सांख्य में परमार्थतः ईश्वर को स्वीकार किये जानेपर भी[११] सांख्य में सेश्वर और निरीश्वर का भेद प्रसिद्ध है—ऐसा स्वीकार करते हैं।[१२] किन्तु जिस समय आचार्य विज्ञानभिक्षु का आविर्भाव हुआ, वह वैष्णव-दर्शन एवं धर्म के उत्कर्ष का युग था। उस समय ईश्वर को स्वीकार किये विना किसी दर्शन की प्रतिष्ठा दुष्कर थी। अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर ने भी अपने दर्शन में मायोपाधिक ईश्वर की सत्ता स्वीकार की थी। वैशेषिकों तथा

---

१. सां. प्र. भा. ६/६६.
२. सां. सा. पूर्व. १/१.
३. सां.प्र.भा. ६/६६.
४. श्रीमद्भागवत महापुराण (गीता प्रेस संस्करण का अनुवाद)।
५. सां.प्र.भा. ६/६४.
६. सां. प्र. भा. ६/६४.
७. H. I. P., p. 223.
८. सां.प्र.भा. ६/६४.
९. विज्ञा. २/१/१.
१०. सां. प्र. भा. ५/८१.
११. विज्ञा. १/१/५.
१२. वही २/१/१.

मीमांसकों ने भी किसी-न-किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लिया था। समाधिसिद्धि के लिए सतत अध्यात्म-साधना के दुर्गम पथ पर प्रयत्नशील योगी एकाकी अग्रसर होने में प्रतिपद किसी समर्थ पुरुष की सहायता की अपेक्षा का अनुभव कर, इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ईश्वर-प्रणिधान को समाधिसिद्धि का साधन मानकर 'पूर्वेषामपि गुरुः' (योगसूत्र १/२६) ईश्वर को अपने दर्शन में स्थान दे चुके थे। अपने युग के दर्शन और जनमानस से सुपरिचित आचार्य विज्ञानभिक्षु ने श्रुतियों तथा स्मृतियों में प्रतिपादित सेश्वरवादी सांख्य के आधार पर सांख्य-दर्शन को परमार्थतः ईश्वरवादी मान लिया[1] तथा सांख्य-दर्शन में परम्पराप्राप्त ईश्वर के खण्डन को प्रौढिवाद से स्वीकार कर लिया।[2] उन्होंने यत्र-तत्र महत्तत्त्वरूप विष्णु, अहङ्काररूप ब्रह्मा तथा रुद्र को स्वीकार करके सांख्य-दर्शन का ईश्वरवादी दर्शनों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। वे स्वयं ईश्वरवादी विचारधारा के पोषक थे। उन्होंने सांख्य-प्रवचनभाष्य के मङ्गलाचरण में भगवान् हरि को मोक्षदायक कहा है तथा उनके प्रसन्न होने की प्रार्थना की है।[3] विज्ञानामृतभाष्य में वे स्वतन्त्र प्रधान-कारणतावाद के कापिल मत की अप्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए इस अंश में सांख्यशास्त्र को दुर्बल बताकर वेदान्त सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[4] इन मान्यताओं से केवल विज्ञानभिक्षु का ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है किन्तु परम्परा में प्राप्त सांख्य को वे सदैव निरीश्वरवादी मानते थे,[5] अतः उन्हें सेश्वर सांख्यवादी नहीं कहा जा सकता। डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[6] महादेव वेदान्ती भी विज्ञानभिक्षु की ही भाँति सांख्य-दर्शन में ईश्वर-प्रतिषेध को एकदेशियों के प्रौढिवाद से स्वीकृत मानते हैं।[7]

श्री अभयकुमार मजूमदार ने अपने ग्रन्थ 'The Sāṁkhya Conception of Personality' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सांख्य-दर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है और वह उसी कोटि का ईश्वरवादी दर्शन है जिस कोटि का वेदान्त।[8] उनका मत है कि जिन सूत्रों को अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु तथा महादेव वेदान्ती ने ईश्वर के खण्डन में प्रवृत्त माना है, उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जगत् का साक्षात् कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं, किन्तु

---

१. विज्ञा. १/१/५. २. सां. प्र. भा. १/९२. ३. सां.प्र.भा. मङ्गला. ६.
४. विज्ञा. २/१/१. ५. वही २/१/१. ६. आ.वि.भा.द. स्था., पृष्ठ १५८.
७. सां. सूत्र वृ. सा. १/९२. ८. T. S. C. P., p. 1.

प्रकृति का कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न होना ईश्वर के सन्निधान से ही सम्भव होता है। उन्होंने सांख्य-दर्शन में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए बहुत प्रयास किया है। उनकी धारणा है कि अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु तथा महादेव वेदान्ती ने सांख्य-दर्शन में प्रतिपाद्य ईश्वर तत्त्व की उचित व्याख्या नहीं की है।[१] श्री उदयवीर शास्त्री का मत प्रो० मजूमदार के मत के सदृश ही है। उनका कहना है कि सांख्य-दर्शन में जगत् का उपादान-कारण ईश्वर को नहीं माना गया है किन्तु प्रकृति की प्रेरणा तथा नियन्त्रण के लिए परमात्मा का अधिष्ठातृत्व स्वीकार किया गया है।[२] किन्तु डॉ० मजूमदार तथा श्री उदयवीर शास्त्री का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्य-दार्शनिक स्वतन्त्र प्रधान कारणवादी हैं[३] अतः वे जगत् की सृष्टि के लिए प्रकृति के अतिरिक्त किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं करते।

उपर्युक्त विवेचन से सांख्य-दर्शन का स्वरूप निरीश्वरवादी ही सिद्ध होता है। इस दर्शन में पुरुष और प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र, सृष्टिकर्ता ईश्वर की पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार की गयी है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्य में आत्म तथा अनात्म पदार्थ का विवेचन किया गया है, अतः सांख्य-शास्त्र में ईश्वर की व्यवस्था अनुपयोगी है।[४] ईश्वर की पृथक् सत्ता न मानने के कारण ही सांख्य-दर्शन को निरीश्वर-सांख्य तथा योग को सेश्वर-सांख्य कहा गया है क्योंकि वह सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को भी स्वीकार करता है। ईश्वर को स्वीकार करना सांख्य-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत है इसलिए विज्ञानभिक्षु ने स्वयं ईश्वरवादी होते हुए भी इन दो तत्त्वों से पृथक् ईश्वर की सत्ता को सांख्य-सम्मत नहीं स्वीकार किया। उन्होंने ईश्वर को इन दो तत्त्वों में ही बिखेर कर सन्तोष कर लिया और सांख्य-दर्शन के निरीश्वरवादी स्वरूप को स्वीकार कर लिया। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सांख्य-दर्शन अपने मूलरूप में भले ही ईश्वरवादी रहा हो, किन्तु उसका परवर्ती रूप (क्लासिकल सांख्य) निश्चित रूप से निरीश्वरवादी ही रहा है।

---

१. T. S. C. P., p. 17. २. सांख्य सिद्धा., पृष्ठ ५३.
३. विज्ञा. १/१/५, २/१/१. ४. विज्ञा. १/१/५.

सप्तम अध्याय

उपसंहार

पहले के अध्यायों में विज्ञानभिक्षु के अभिमत सांख्य-सिद्धान्त का सामान्य-रूप में निरूपण किया जा चुका है। अब इस अध्याय में हम उनके द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उनका मूल्याङ्कन करने का प्रयास करेंगे।

आचार्य विज्ञानभिक्षु सोलहवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य हैं। उनकी धारणा थी कि सांख्य-शास्त्र का अधिकांश भाग नष्ट हो गया है और उसका कुछ अंश ही अवशिष्ट है। उन्होंने सांख्यशास्त्र की क्षतिपूर्ति करने का सङ्कल्प किया[1] और इसे पूरा करने के लिए सांख्यप्रवचनसूत्र पर विस्तृत भाष्य तथा सांख्यसार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार उन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से सांख्य-दर्शन का संवर्धन किया तथा सांख्य-सिद्धान्तों पर अन्य दार्शनिकों द्वारा लगाये दोषों का परिहार करते हुए उनकी युक्तिपूर्ण व्याख्या की।

शङ्कराचार्य आदि कुछ दार्शनिक सांख्य-दर्शन को अवैदिक मानते हैं। सांख्यदार्शनिकों ने भी कभी अपने सिद्धान्तों को श्रुति से पुष्ट करने का प्रयास नहीं किया। सांख्य-परम्परा में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने ही सर्वप्रथम सांख्य-सिद्धान्तों को श्रुति तथा स्मृतियों से पुष्ट किया तथा उसपर लगे अवैदिक एवं श्रुतिविरुद्ध होने के आक्षेप का परिहार कर उसे भी वेदान्त-दर्शन की भाँति श्रौत-दर्शन की श्रेणी में खड़ा करने का कार्य किया।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रमा के सिद्धान्त की व्याख्या में भी अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया। वाचस्पति मिश्र[2] तथा अनिरुद्ध[3] का मत है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही बोध होता है और वह बोध ही प्रमा है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्त दोनों आचार्यों के मतों का खण्डन किया है।[4] उनका

---

१. कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥ (सां. प्र. भा. मङ्. ५)।

२. तत्त्वकौ. ५. ३. अनि. १/९८–९९. ४. सां.प्र.भा. १/९९.

मत है कि बुद्धिगत चैतन्य के प्रतिबिम्ब में स्थित ज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकता। उनके मतानुसार बुद्धि अपने अर्थाकार रूप में पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है और पुरुष में प्रतिबिम्बित होनेवाला ज्ञान ही प्रमा है और यही पौरुषेय-बोध है।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु के इस सिद्धान्त में दुहरे प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार किया गया है। पहले चिद्रूप पुरुष के प्रतिबिम्ब से अचेतन बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है तत्पश्चात् अर्थाकार बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है।[2] यही प्रतिबिम्बरूप ज्ञान प्रमा है। विज्ञानभिक्षु का यह अन्योऽन्यप्रतिबिम्ब का सिद्धान्त उनके दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके माध्यम से वे पुरुष के भोग तथा उसके बन्धन-मोक्ष की व्याख्या करने में अधिक सफल हुए हैं।

सांख्य के प्राचीन ग्रन्थों में उपेक्षित ख्याति सम्बन्धी सांख्य-मत की विशद विवेचना भी विज्ञानभिक्षु का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसका विस्तृत निरूपण हम पहले (पृष्ठ ७७–८७ पर) कर आये हैं अतः यहाँ उसका पिष्टपेषण करने से विरत होते हैं।

आत्मा या पुरुष के अस्तित्व में सभी दार्शनिकों के ऐकमत्य के कारण आचार्य विज्ञानभिक्षु उसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं समझते[3] और इसलिए उन्होंने 'जानेऽहमिति धीबलात्' पुरुष के सामान्यतः सिद्ध होने का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि बाधक प्रमाणों के अभाव के कारण 'मैं जानता हूँ' इत्यादि रूप अनुभूति से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है।[4] पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य सांख्य-दार्शनिकों से मतैक्य होनेपर भी पुरुष के भोग के सम्बन्ध में उनका अपना विशिष्ट मत है। आचार्य वाचस्पति मिश्र[5] तथा वृत्तिकार अनिरुद्ध[6] के अनुसार पुरुष वस्तुतः भोक्ता नहीं है। बुद्धि को ही भोग होता है पुरुष तो उसमें प्रतिबिम्बित होने के कारण भोक्ता होने का अभिमान कर लेता है और यही उसका भोग है। आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रतिबिम्बरूप से पुरुष में भोग स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि अर्थाकार बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा प्रमाणाख्यवृत्ति से प्रकृतिपुरुषादि प्रमेयवृत्ति के साथ ही पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर भासित

---

१. सां. प्र. भा. १/८७. २. वही १/९९.
३. वही १/१३८. ४. सां. सा. उत्तर भाग, १/२; सां. प्र. भा. ६/१.
५. तत्त्ववै. १/४. ६. अनि. १/१०६.

होता है। अतः अर्थोपरक्तवृत्ति के प्रतिबिम्ब का आदानमात्र ही पुरुष का भोग है।[1] पुरुष में भोग को प्रतिबिम्बरूप से ही मानने के कारण आचार्य विज्ञान-भिक्षु के मत में पुरुष को होनेवाले सुख-दुःख की व्याख्या हो जाती है। उन्होंने भोग तथा कैवल्य दोनों को पुरुषार्थ स्वीकार किया है तथा वे अपने अन्योन्यप्रतिबिम्ब के सिद्धान्त के द्वारा पुरुष के भोग की व्याख्या करने में सफल हुए हैं।

अन्य सांख्यदार्शनिकों के पुरुष को आनन्दरूप न मानने के मत का समर्थन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसार के उत्तर भाग के चतुर्थ परिच्छेद में पुरुष की सानन्दता का खण्डन किया है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि आत्मा की सुखरूपता या आनन्दरूपता वेदान्त का सिद्धान्त नहीं है। उनका मत है कि वेदान्तसूत्रों में भी आनन्दरूपता प्रधान का ही धर्म मानी गयी है, पुरुष का नहीं।[2]

आचार्य विज्ञानभिक्षु की सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त की व्याख्या का भी अपना वैशिष्ट्य है। उनका मत है कि श्रुतियों में आत्मा के एक और अद्वितीय कहे जाने का अभिप्राय आत्म-तत्त्व या पुरुष-तत्त्व का अखण्डत्व प्रतिपादन करना नहीं अपितु उनकी एकरूपता या सजातीयता का प्रतिपादन करना है।[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार आत्मतत्त्व की अद्वैतता प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों के साथ सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार उन्होंने सांख्य-सिद्धान्त का अद्वैतपरक श्रुतियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया है। यही एक ऐसा मार्ग है जिससे सांख्य का शुद्ध रूप भी अक्षुण्ण बना रहता है और अद्वैतपरक श्रुतियों के साथ विरोध नहीं होता अन्यथा सांख्य को आस्तिक-दर्शन या श्रुतिमूलक-दर्शन या वैदिक-दर्शन कहना ही स्ववचोव्याघात होता। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पुरुष तथा जीव के स्वरूप का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उनका मत है कि चितिरूप पुरुष अन्तःकरण से युक्त होनेपर जीव कहा जाता है।[4]

---

१. सां.प्र.भा. १/९९, १०४.
२. आनन्दाद्या प्रधानस्य इति वेदान्तसूत्रतः।
वेदान्तेऽपि न सिद्धान्तः आत्मनः सुखरूपता ॥ (सां. सा. उत्तर भाग, ४/९),
३. आत्मैक्यश्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति तासां जातिपरत्वात्। जातिः सामान्यमेकरूपत्वं तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात्, नत्वखण्डत्वे प्रयोजनाभावात्। (सां. प्र. भा. १/१५४)।
४. तथान्तःकरणैर्योगाज्जीव इत्युच्यते चितिः। (सां. सा. उत्तर भाग ५/२२)। द्रष्टव्य सां. प्र. भा. ६/६३.

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति की 'तीनों गुणों की साम्यावस्था' इस परिभाषा को संशोधित तथा परिमार्जित किया। उनका मत है कि सूत्रकार की यह परिभाषा उपलक्षण मात्र है, पूर्ण लक्षण नहीं। उनके अनुसार यदि साम्यावस्था को ही प्रकृति माना जायेगा तो गुणत्रय की वैषम्यावस्था में प्रकृति के नाश या अभाव का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। अतः प्रकृति को गुणों की अवस्थामात्र (साम्यावस्थामात्र) नहीं अपितु गुणत्रयरूप ही मानना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने प्रकृति की नवीन परिभाषा 'अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिः'[१] कह कर दी है। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के लक्षण पर विचार कर उसमें उपयुक्त परिष्कार किया।

इसी प्रकार विज्ञानभिक्षु ने गुणों का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से निर्धारित किया है। गुणों का इतना सुन्दर विवेचन विज्ञानभिक्षु से पूर्व न तो किसी व्याख्याकार की टीका में मिलता है और न महाभारत तथा चरक द्वारा प्रतिपादित प्राचीन सांख्य में ही। वे गुणों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये गुण वैशेषिक-दर्शन को मान्य द्रव्याश्रित गुण नहीं है, अपितु ये स्वयं गुणी हैं, अर्थात् द्रव्यरूप हैं। द्रव्य होनेपर भी उनके गुण कहे जाने का कारण यह है कि ये तीनों द्रव्य पुरुष का बन्ध, मोक्ष या भोगापवर्गरूप उपकार करते हैं अतः पुरुष का उपकरण होने के कारण इन्हें गुण कहा गया है।[२] गुणों की संख्या के विषय में स्पष्टीकरण देते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने बताया है कि सत्त्व आदि त्रिगुण भी व्यक्तिभेद से असंख्य है।[3] उनका त्रित्व केवल त्रिप्रकारत्व का द्योतक है, त्रिव्यक्तित्व का नहीं। ये तीनों गुण अनन्त हैं अर्थात् अनेक सत्त्वगुण, अनेक रजोगुण तथा अनेक तमोगुण हैं।[४] इन असंख्य गुणत्रय का वैशेषिकों के परमाणुओं से वैशिष्ट्य स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इन सत्त्व आदि गुणों में शब्द, स्पर्श आदि गुण नहीं रहते जब कि वैशेषिक-दर्शन में परमाणु शब्द स्पर्श आदि से युक्त माने जाते हैं।[५]

सांख्य-दर्शन में सृष्टि का कारण प्रकृति-पुरुष का संयोग माना गया है। प्रकृति-पुरुष का यह संयोग कैसे होता है इस प्रश्न का समाधान आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने दर्शन में अत्यन्त सुन्दर रीति से किया है। उनके अनुसार प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण अविवेक या अविद्या है। इस

---

१. सां. प्र. भा. १/६१. २. वही। ३. वही १/१२७.
४. वही १/१२८. ५. वही।

अविवेक के कारण ही प्रकृति-पुरुष-संयोग होता है जिससे प्रकृति में क्षोभ हो जाता है और सृष्टि-रचना प्रारम्भ हो जाती है। उनका मत है कि प्रकृति-पुरुष के संयोग की कारणभूत यह अविद्या अभावात्मक नहीं है।[1]

प्रकृति से सृष्टि के विकसित होने के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी उनका अपना विशिष्ट मत है। वे प्रकृति से सृष्टि के विकास को स्वतन्त्र रूप से हुआ नहीं अपितु ईश्वर की इच्छा से हुआ स्वीकार करते हैं। इस अंश में वे सांख्य-शास्त्र को दुर्बल मान कर वेदान्त का पक्ष ग्रहण करते हैं तथा कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है।[2] इनके अनुसार इस संयोग से महत्तत्त्वरूप हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है और इसी से पूरी सृष्टि का विकास होता है।[3] वे प्रकृति से होनेवाले इस सृष्टि के क्रम के लिए श्रुति-स्मृति को ही प्रमाण मानते हैं।[4] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर प्रकृति की स्वतन्त्र कारणता के सांख्य-मत पर किये जानेवाले आक्षेपों का परिहार करने की चेष्टा की है। उनका प्रतिपादित यह सिद्धान्त हमें महाभारत, गीता तथा पुराणों में प्रतिपादित सांख्य में भी मिलता है। इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ने अपने आद्यस्वरूप से विच्छिन्न सांख्य-परम्परा को पुनः उसके आद्यस्वरूप के अनुरूप बना दिया।

आचार्य विज्ञानभिक्षु महत्तत्त्व को सत्त्व, रजस् तथा तमस् के भेद से त्रिविध मानते हैं तथा अपने मत की पुष्टि में विष्णुपुराण का 'सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्' (विष्णुपु० १/२/३४) यह वाक्य उद्धृत करते हैं। उन्होंने इस त्रिविध महत्तत्त्व को ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपाधि धारण करनेवाला भी कहा है।[5] सृष्टि, स्थिति और संहार के सम्बन्ध में उनका मत है कि महत्तत्त्वोपाधिक विष्णु सृष्टि का पालन[6] तथा अहङ्कारोपाधिक ब्रह्मा एवं रुद्र क्रमशः सृष्टि और संहार करते हैं।[7] महत्तत्त्व की भाँति ही अहङ्कार को भी वे सत्त्व, रजस् तथा तमस् के भेद से त्रिविध मानते हैं[8] और अपने इस मत की पुष्टि के लिए कूर्मपुराण (१/४/१८–२३) को उद्धृत करते हैं। प्रकृति से महत् तथा महत् से अहङ्कार तक के सृष्टिक्रम में विज्ञानभिक्षु का सांख्यदार्शनिकों से मतैक्य है किन्तु इसके आगे उन्होंने प्रचलित सांख्य-सिद्धान्तों में परिवर्तन कर

---

१. सां.प्र.भा. १।५५. २. विज्ञा. १/१/२. ३. सां. प्र. भा. २/१३.
४. सां. सा. पूर्व भाग तृतीय परि., पृष्ठ ३०७. ५. वही पृष्ठ ३०६.
६. सां.प्र.भा. ६/६६. ७ वही ६/६४. ८. सां.सा. पूर्व भाग तृतीय परि., पृष्ठ ३०७.

दिये हैं। अन्य सांख्यदार्शनिकों की भाँति वे एकादश इन्द्रियों को सात्त्विक नहीं मानते प्रत्युत केवल मन को ही सात्त्विक स्वीकार करते हैं तथा अन्य दसों इन्द्रियों को राजस अहङ्कार से उत्पन्न मानते हैं।[1] उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए भागवतपुराण (३/५/३०–३१) को उद्धृत किया है जिसमें उक्त मत का ही प्रतिपादन हुआ है। उनका मत है कि पुराणों के अनुसार ही सांख्य-कारिका में भी मन को सात्त्विक तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को तैजस माना गया है।[2] आचार्य विज्ञानभिक्षु का यह मत भी पुराणों के अनुकूल है तथा उन्होंने सांख्यकारिका में भी इसी मत का प्रतिपादन स्वीकार किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति में कोई पौर्वापर्य-क्रम नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि इनमें परस्पर कार्य-कारण-भाव नहीं है।[3] तन्मात्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका अपना विशिष्ट मत है। वे तन्मात्रों की उत्पत्ति में क्रम स्वीकार करते हैं।[४] उनका मत है कि तन्मात्रों की उत्पत्ति में योगभाष्य के मत को ही ग्रहण करना चाहिए। उनके अनुसार अहङ्कार से शब्दतन्मात्र की उत्पत्ति होती है तत्पश्चात् अहङ्कार सहकृत शब्दतन्मात्र से शब्द तथा स्पर्श गुण वाले स्पर्शतन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार एक-एक गुण की वृद्धि से अन्य तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है।[5]

अन्तःकरण के सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु का अन्य सांख्यदार्शनिकों से भिन्न मत है। प्रायः सांख्य-दर्शन में तीन अन्तःकरण स्वीकार किये गये हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु का मत है कि अन्तःकरण एक ही है उसे वृत्तिभेद से ही त्रिविध माना गया है। तीन अन्तःकरण मानने के मत का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार बाँस में उसकी गाँठें बाँस के अवान्तर-भेद हैं उसी प्रकार अवान्तर-भेद का आश्रय लेकर ही तीन अन्तःकरण कहे गये हैं।[६] आचार्य विज्ञानभिक्षु बुद्धि को ही मुख्य करण मानते हैं।[७] त्रयोदश करण मानने के मत का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि इन्द्रियों के पुरुषार्थ में साधक होने के कारण बुद्धि के पुरुषार्थसाधकतमरूप करणत्वापादक गुण परम्परया उनमें भी आ जाते हैं इसलिए इन्द्रियों को भी करण कहा जाता है।[८] इसी प्रकार अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति प्राणवायु के सम्बन्ध में भी विज्ञानभिक्षु का

---

१. सां.प्र.भा. २/१८. २. वही। ३. सां. सा. पूर्व भाग तृतीय परि., पृष्ठ ३०८.
४. वही। ५. सां.प्र.भा. १/६२. ६. वही १/६४. ७. वही २/३८.
८. वही २/३९.

अन्य सांख्यदार्शनिकों से विशिष्ट मत है। सभी सांख्य-दार्शनिक प्राणों को वायु विशेष मानते हैं किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्राणों को वायु मानने के मत का खण्डन किया है[1] तथा वायुवत् सञ्चार के कारण उसे वायुवत् मानने के मत का प्रतिपादन किया है।[2]

लिङ्ग-शरीर के स्वरूप-निर्धारण में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने नवीन मत की स्थापना की है। सांख्य-दर्शन में सामान्यतः बुद्धि, अहङ्कार, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों से लिङ्ग-शरीर या सूक्ष्म-शरीर को निर्मित माना गया है।[3] किन्तु विज्ञानभिक्षु ने अहङ्कार का बुद्धितत्त्व में विलय करके लिङ्ग-शरीर के घटक सत्रह तत्त्व ही स्वीकार किये हैं।[4] उनका मत है कि यह सूक्ष्म-शरीर सृष्टि के प्रारम्भ में समष्टिरूप से एक ही रहता है[5] अर्थात् इसके सत्रहों अवयव मिलकर एक राशिरूप में रहते हैं। उनके अनुसार एक होनेपर भी यह सूक्ष्म-शरीर कर्म-भेद के अनुसार पृथक्-पृथक् अंशों में अभिव्यक्त होता है।[6] विज्ञानभिक्षु ने अपने इस मत का प्रतिपादन महाभारत के आधार पर किया है और अपने मत की पुष्टि के लिए महाभारत (१२/३५१/१५–१६) को उद्धृत भी किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु से पूर्व सांख्याचार्यों ने सूक्ष्म-शरीर और स्थूल-शरीर दो ही शरीर माने हैं। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु सूक्ष्म-शरीर का आधार सूक्ष्म महाभूतों से निर्मित अधिष्ठान-शरीर को तथा अधिष्ठान-शरीर का आधार स्थूल-शरीर को मानते हैं—इस प्रकार वे तीन शरीर स्वीकार करते हैं। उनका तीन शरीर मानने का सिद्धान्त भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सांख्य-दर्शन में स्वीकार किया गया है कि सूक्ष्म-शरीर विना किसी अधिष्ठान के नहीं रह सकता इसलिए अन्य सांख्य-दार्शनिकों ने सूक्ष्म-शरीर का आधार स्थूल-शरीर को माना है। किन्तु स्थूल-शरीर के त्याग करने के पश्चात् सूक्ष्म-शरीर लोकान्तर में किस प्रकार गमन करेगा—इस समस्या का समाधान इन आचार्यों के मत में नहीं हो पाया। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की कमी की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनका मत है कि सूक्ष्म-शरीर विना अधिष्ठान के रह नहीं सकता, इसलिए स्थूल-शरीर को छोड़कर अन्य लोक में गमन करने के लिए अधिष्ठान के रूप में अन्य शरीर की सिद्धि होती है और यही अधिष्ठान-शरीर है।[7] अपने इस सिद्धान्त में सूक्ष्म-शरीर के

---

१. सां. प्र. भा. २/३१. २. वही। ३. तत्त्वकौ. ४०.
४. सां. प्र. भा. ३/९. ५. वही। ६. वही। ७. वही ३/१२.

लोकान्तर-गमन की व्याख्या करने में विज्ञानभिक्षु अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों से अधिक सफल रहे हैं। उन्होंने इस अधिष्ठान-शरीर की सिद्धि में 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कठोप० १/६/१७) तथा 'अङ्गुष्ठ-मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' (महाभा० ३/२९७/१७) इत्यादि श्रुति, स्मृति के प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का यह सिद्धान्त भी श्रुति-स्मृति से अनुगृहीत तथा तर्कपुष्ट है। स्थूल-शरीर के स्वरूप-निर्धारण में भी आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। स्थूल-शरीर को सामान्यतः सांख्य-दर्शन में पाञ्चभौतिक माना गया है[१] किन्तु सांख्य-सूत्रकार ने स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक तथा एकभौतिक दोनों स्वीकार किया है।[२] सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार अनिरुद्ध[३] तथा विज्ञानभिक्षु[४] ने सूत्रकार के स्थूल-शरीर को पाञ्चभौतिक तथा एकभौतिक मानने के मत में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए स्थूल-शरीर को मुख्यतया एकभौतिक मानते हुए भी उपष्टम्भकरूप से अन्य चार भूतों को स्वीकार करके सांख्य-सूत्रकार के मत में दिखायी देनेवाले विरोधाभासों का परिहार तो किया ही है, प्रचलित सांख्य-सिद्धान्त के साथ भी सङ्गति बैठाने का प्रयास किया है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने त्रिविध दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति को पुरुषार्थ मानने के सांख्य-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया है। उन्होंने सांख्य-शास्त्र को मोक्ष-शास्त्र माना है तथा चिकित्सा-शास्त्र की भाँति उसे भी चतुर्व्यूहात्मक कहा है। उनका मत है कि जिस प्रकार रोग, आरोग्य, रोग-निदान तथा भैषज्य ये चार व्यूह चिकित्सा-शास्त्र के प्रतिपाद्य हैं उसी प्रकार हेय, हान, हेयहेतु तथा हानोपाय—ये चार व्यूह मोक्ष-शास्त्र के प्रतिपाद्य हैं।[५] वे पुरुष को नित्य शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त मानते हुए भी प्रतिबिम्बरूप से पुरुष में दुःख की सत्ता स्वीकार करते हैं।[६] उनके अनुसार अतीत के दुःख नष्ट हो चुके हैं तथा वर्त्तमान दुःख द्वितीय क्षण में स्वतः नष्ट हो जायेंगे इसलिए अनागत दुःख की ही निवृत्ति पुरुषार्थ है।[७] उनके मतानुसार पुरुष का दुःख से सम्बन्ध ही बन्धन है।[८] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि बन्धन चित्त का होता है किन्तु प्रतिबिम्बरूप से पुरुष में वह उपचरित होता है।[९] पुरुष का बन्धन और मोक्ष

---

१. गौड. ३९. २. सां. सूत्र ३/१७, ५/१०२. ३. अनि. ५/१०२.
४. सां. प्र. भा. ५/१०२ तथा अनि. ३/१९, ५/११२. ५. सां.प्र.भा. उपो., पृष्ठ ७.
६. वही १/१. ७. वही। ८. वही १/७. ९. वही १/५८.

प्रतिबिम्बरूप से स्वीकार करने के कारण सांख्य की पुरुष के बन्धन और मोक्ष की धारणा पर लगे आक्षेपों का उनके मत में समाधान हो जाता है। अन्य सांख्यदार्शनिकों की भाँति वे भी मोक्ष की अवस्था को आनन्द-विरहित अवस्था मानते हैं। उनका मत है कि श्रुतियों में जहाँ मोक्षावस्था में आनन्दरूपता का वर्णन है, वह केवल अधम साधकों की दृष्टि में मुक्ति की प्ररोचना करने के लिए ही है।[1] उनकी धारणा है कि आनन्दरूपता पुरुष का स्वरूप नहीं है इसलिए मोक्षावस्था में उसकी कल्पना असम्भव है।[2] अन्य सांख्यदार्शनिकों ने भी मोक्ष की अवस्था में आनन्द को नहीं स्वीकार किया है किन्तु इस सिद्धान्त को तर्क के साथ-साथ श्रुति-स्मृति के प्रमाणों से सिद्ध करने का श्रेय विज्ञानभिक्षु को ही है।

मोक्ष तत्त्वज्ञान से होता है इस सांख्य-सिद्धान्त की भी विज्ञानभिक्षु ने विशद व्याख्या की है। उन्होंने तत्त्वज्ञान के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की प्रक्रिया को स्वीकार किया है।[3] उनका मत है कि श्रवण, मनन निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान से विवेक का साक्षात्कार अर्थात् प्रकृति-पुरुष-भेद का अधिगम होता है।[4] विज्ञानभिक्षु ने जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया है तथा अपने ग्रन्थ सांख्यसार में जीवन्मुक्त का विशद एवं विस्तृत निरूपण भी किया है तथापि वे वास्तविक मोक्ष विदेह-कैवल्य को ही मानते हैं।[5]

भारतीय दर्शनों में सांख्य की गणना निरीश्वरवादी दर्शनों में की जाती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी कपिल-सांख्य को निरीश्वरवादी माना है।[6] किन्तु वे पारमार्थिकरूप से सांख्य को अनीश्वरवादी नहीं मानते। अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' (श्वेता० उप० ६/१३) में सांख्य के द्वारा ईश्वराभ्युपगम का उल्लेख है तथा 'जगदाहुरनीश्वरम्' (गीता १६/८) इत्यादि स्मृतियों में निरीश्वरवाद की अत्यन्त निन्दा की गयी है[7] इसलिए वैदिक परम्परावादी सांख्य-दर्शन परमार्थतः निरीश्वरवादी

---

१. सां. प्र. भा. ५/६८. २. वही ५/६६.

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि श्रुतिषु परमपुरुषार्थसाधनस्यात्मसाक्षात्कारस्य हेतुतया श्रवणादित्रयं विहितम्। (सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ २)।

४. द्रष्टव्य, वही ३/३०, ७५ आदि। ५. मोक्षश्च विदेहकैवल्यम्। (वही ५/११६)।

६. ईश्वरप्रतिषेधिन्याः कपिलस्मृतेः। (विज्ञा. २/१/१)।

७. न पुनरीश्वरमेव परमार्थतोऽपि सांख्या नाङ्गीकुर्वन्ति, तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्

नहीं हो सकता। उनका स्पष्ट मत है कि सांख्य में ईश्वर का खण्डन मीमांसकों[1] तथा बौद्धों[2] के मत को स्वीकार करके किया गया है। उनकी धारणा है कि सांख्य में अभ्युपगमवाद तथा प्रौढिवाद से व्यावहारिक ईश्वर का खण्डन किया गया है इसलिए सांख्य का ईश्वरवादी ब्रह्ममीमांसा तथा योग के साथ कोई विरोध नहीं है।[3]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यसूत्रों में ईश्वर का जो खण्डन किया गया है उसका तात्पर्य केवल यही प्रदर्शित करना है कि ईश्वर की सिद्धि प्रमाणों से नहीं की जा सकती। यदि सूत्रकार का यह मन्तव्य नहीं होता और वे ईश्वर का अभाव सिद्ध करना चाहते तो 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० सूत्र १/९२) इस सूत्र की रचना 'ईश्वराभावात्' (सां० प्र० भा० १/९२) इस प्रकार करते।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्रों में प्राप्त ईश्वर के खण्डन को प्रौढिवाद से स्वीकार किया और उसके निरीश्वरवादी स्वरूप का अपलाप न करते हुए भी उसे सेश्वरता की सम्भावना से युक्त कर दिया। उनका मत है कि सांख्य में ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण ही 'कारणब्रह्म' के रूप में निर्गुण पुरुष-सामान्य को स्वीकृत किया जाता है।[4] इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य की निरीश्वरवादी परम्परा को स्वीकार करते हुए भी नामान्तर से चित्सामान्य अर्थात् ईश्वर को सांख्य-दर्शन में प्रतिष्ठित कर दिया।[5] उन्होंने सांख्य-शास्त्र के प्रवर्तक कपिल को ईश्वर का अवतार[6] तथा ईश्वर को मोक्षदाता स्वीकार किया है।[7] उन्होंने स्पष्टतः स्वतन्त्र प्रधान कारणतावाद के कपिल-मत की अप्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए विज्ञानामृतभाष्य (२/१/१)

इत्युक्तश्रुत्यादिभिः तदभ्युपगमावगमात्। 'जगदाहुरनीश्वरम्' इत्यादिना स्मृतिषु आसुरत्वेन निरीश्वरवादस्य अत्यन्तनिन्दितत्वाच्च इति। (विज्ञा. १/१/५)।

१. कुमीमांसकानामीश्वरप्रतिषेधस्याभ्युपगमवादेन कपिलस्मृत्युपपत्ते ईश्वरप्रतिषेधकुतर्का अपि पारक्या एव तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन प्रौढ्या साङ्ख्यैः अनूद्यन्ते इति। (विज्ञा. २/१/१)।

२. सांख्या अनीश्वरबौद्धमताभ्युपगमवादेन प्रतिज्ञातम् आत्मानात्मविवेकं प्रतिपादयन्ति। (विज्ञा. १/१/५)।

३. तस्मादभ्युपगमवादप्रौढिवादादिनैव सांख्यस्य व्यावहारिकेश्वरप्रतिषेधपरतया ब्रह्ममीमांसा-योगाभ्यां सह न विरोधः। (सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ५)।

४. अत्र शास्त्रे कारणब्रह्म तु पुरुषसामान्यं निर्गुणमेवेष्यते ईश्वरानभ्युपगमात् (सां.प्र.भा. ६/६६)

५. पुमानेव जगत्कर्ता जगत्भर्ताऽखिलेश्वरः। (सां. सा. उत्तर भाग ५/१३)।

६. नारायणः कपिलमूर्तिः। (सां. प्र. भा. मङ्ग. २)।

७. मोक्षदो हरिः। (वही ६)।

में इस अंश में सांख्य-शास्त्र को दुर्बल बताया है तथा प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण ईश्वर को माना है।[1] यत्र-तत्र महत्तत्त्वोपाधिक विष्णु[2] और अहङ्कार-रूप ब्रह्मा तथा रुद्र को स्वीकार[3] करके उन्होंने सांख्य-दर्शन का ईश्वरवादी दर्शनों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने श्रुति-स्मृतियों में प्रतिपादित सांख्य के आद्य स्वरूप के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए तथा सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को श्रुति-स्मृति से अनुगृहीत सिद्ध करने के लिए सांख्य-शास्त्र को परमार्थतः अनीश्वरवादी मानने का निषेध किया है।[4] वे स्वयं व्यवहार में, योग तथा ईश्वरवाद के समर्थक थे[5] अतः उन्होंने सांख्य के प्रकृति-पुरुष के संयोग के लिए दिये जानेवाले तर्कों की कमजोरी समझ कर, उस (प्रकृति-पुरुष के संयोग) पर अन्य दार्शनिकों द्वारा लगाये गये आक्षेपों का परिहार करने के लिए ईश्वर को उसका कारण माना और ईश्वर का प्रतिषेध करने के अंश में सांख्य की दुर्बलता[6] तथा अप्रामाणिकता[7] स्वीकार कर इस अंश में वेदान्त-सिद्धान्त का ग्रहण करने का समर्थन किया। किन्तु उनका मत है कि सांख्य-शास्त्र मोक्ष-शास्त्र है जिसमें आत्मा तथा अनात्मा के विवेक से मोक्ष होने का प्रतिपादन किया गया है और इसीलिए ईश्वर की सिद्धि करना सांख्य के लिए आवश्यक नहीं है।[8] सम्भवतः इसीलिए उन्होंने अपने सांख्यसार में प्रकृति और पुरुष से पृथक् ईश्वर की सत्ता मानने के बजाय पुरुष को ही सृष्टि का कर्त्ता, पालक तथा ईश्वर मानने का प्रतिपादन किया है।[9]

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्य के दार्शनिकों में युक्तिदीपिकाकार के पश्चात् सबसे समर्थ दार्शनिक हैं।

---

१. अस्माभिस्तु प्रकृतिपुरुषसंयोग ईश्वरेण क्रियत इत्यभ्युपगम्यते। (विज्ञा. १/१/२)।
२. महत्तत्त्वोपाधिकं विष्णोः पालकत्वमुपपादितम्। (सां. प्र. भा. ६/६६)।
३. वही ६/६४.
४. विज्ञा. १/१/५.
५. व्यवहारे वयं योगाः तत्त्वषड्विंशगोचरे। (विज्ञा. १/१/३)।
६. सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति। (सां. प्र. भा. उपो. पृष्ठ ४)।
७. अथ वा कपिलैकदेशस्य अप्रामाण्यमस्तु। (विज्ञा. २/१/१)।
८. सांख्या ... आत्मानात्मविवेकं प्रतिपादयन्ति, ईश्वरव्यवस्थापनस्य स्वशास्त्रेऽनुपयोगात्। (विज्ञा. १/१/५)।
९. सां. सा. उत्तर भाग ५/१३.

जिस प्रकार युक्तिदीपिकाकार ने अपनी टीका में सांख्य-दर्शन के अनेक विस्मृत-प्राय प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का उल्लेख कर उनके परिप्रेक्ष्य में सांख्य-कारिका की नवीन व्याख्या कर सांख्य-परम्परा को पुनरुज्जीवित किया, उसी प्रकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-सिद्धान्तों को श्रुति-स्मृतियों तथा उनसे अनुगृहीत तर्कों के द्वारा पुनः प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। इस प्रकार इन दोनों सांख्य-दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों के द्वारा विशृङ्खल सांख्य-परम्परा को जोड़कर आगे बढ़ाने का श्लाघनीय कार्य किया। आचार्य विज्ञानभिक्षु का सांख्य-दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए भी है कि उन्होंने अपने विशिष्ट मतों के द्वारा सांख्य-सिद्धान्तों पर लगे आक्षेपों का परिहार करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने ये सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित नहीं किये प्रत्युत उन्हें श्रुतियों तथा स्मृतियों से ढूँढ़ा तथा उन्हें तर्क से पुष्ट किया। इस प्रकार उन्होंने सांख्य-दर्शन के तर्कप्रवणस्वरूप की रक्षा करते हुए भी उसे श्रौत-दर्शन की परम्परा का अन्यतम दर्शन बना दिया। वे समन्वयवादी दार्शनिक थे और सभी आस्तिक दर्शनों में अविरोध मानते थे, अतः उन्होंने अपने दर्शन में सभी दर्शनों के उत्कृष्ट सिद्धान्तों को ग्रहण किया तथा अपनी समन्वयात्मक सूझ-बूझ से उनमें सामञ्जस्य स्थापित किया। उनका समन्वित दर्शन एक ऐसा बीजमन्त्र है जिसने आस्तिक-दर्शनों के अविरोध का यथार्थ और अनिवार्य पाठ पढ़ाया है। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में सांख्य, योग और वेदान्त तीनों एक विराट् सत्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों की प्रमुखताओं के प्रकाशक हैं। वे सच्चे समन्वयवादी, सांख्याचार्य, योगी और वेदान्ती सब कुछ एक साथ हैं। यद्यपि उनसे पूर्व आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी सभी आस्तिक दर्शनों की उपादेयता और अविरोधिता स्वीकार की थी किन्तु अद्वैत-वेदान्त ही उनकी दृष्टि में पूर्ण दर्शन है सांख्य-योग आदि दर्शनों का महत्त्व केवल सोपान रूप है। आचार्य विज्ञानभिक्षु सभी आस्तिक दर्शनों में अविरोध तथा समन्वय तो मानते ही हैं वे सांख्य, योग एवं वेदान्त तीनों को पारमार्थिक भूमि पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हैं। ये तीनों दर्शन समवेत रूप से पूर्ण दर्शन हैं यद्यपि तीनों दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न है इसीलिए इनका क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् है। सांख्य, योग के अभेद का प्रतिपादन तो विज्ञानभिक्षु से बहुत पहले स्मृति-ग्रन्थों और महाभारत आदि में माना जा चुका था किन्तु वेदान्त का समन्वय सांख्य और योग के साथ स्पष्ट रूप से कभी

नहीं किया गया था। वेदान्त शाखा के कुछ विद्वानों ने पातञ्जल-योग के अष्टाङ्ग-योग को साधन-चतुष्टय में स्वीकार कर लिया था किन्तु पारमार्थिक सिद्धान्तों की दृष्टि से वेदान्त और योग को एक धरातल पर देखने का किसी ने प्रयास नहीं किया था। अतः इन तीनों दर्शनों में समन्वय की प्रतिष्ठा का श्रेय निश्चित रूप से आचार्य विज्ञानभिक्षु को प्राप्त है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस समन्वयवादी दृष्टिकोण से सर्वथा नवीन एवं परम्पराविहीन दिशा का उद्घाटन नहीं किया उन्होंने इस समन्वय के दृष्टिकोण को पुराणों से ग्रहण किया। पुराणों में सभी आस्तिक दर्शनों के चिन्तन का मिश्रण है। सांख्य, योग और वेदान्त आदि सभी विचारधाराओं का धार्मिक दृष्टिकोण से समन्वय पुराणों में मिलता है किन्तु मननात्मक शैली से समन्वय उनमें नहीं हुआ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पुराणों के धार्मिक एकीकरण क आन्तरिक भावना को दार्शनिक स्तर की महत्ता प्रदान की। उन्होंने पुराणों की समन्वय-साधना को तार्किक सम्बल प्रदान कर दर्शन-जगत् में मुखर कर दिया। दर्शनों के प्रति ऐक्य का विधान करके आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को अक्षुण्ण योगदान किया है। उन्होंने तीनों दर्शनों के हेय अंशों को छोड़कर तथा तीनों दर्शनों के प्रधान प्रतिपाद्य विषयों को सत्य और प्रामाणिक मान कर अपने समन्वयवाद की नींव रखी है अतः उनके सिद्धान्तों में न कहीं स्ववचोव्याघात है और न वैचारिक दुरूहता। समन्वय की सिद्धि में समानतन्त्रसिद्धान्तों के अन्तर्गत प्राप्य मतों को स्वीकार करके उन्होंने विरुद्ध अंशों के विरोध का सहज परिमार्जन किया है। वस्तुतः दर्शन-जगत् में यह समन्वय उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अद्वैत ब्रह्मसिद्धि : संपादक—वामन शास्त्री उपाध्याय इस्लामपुर (एशियाटिक सोसायटी आफ बङ्गाल, सन् १६७०).

अमरकोश (अमरकोशोद्घाटन टीका सहित) : सम्पादक—कृष्णजी गोविन्द ओक (ला प्रिंटिंग प्रेस, पूना, सन् १६१३).

अहिर्बुध्न्यसंहिता : आड्यार पुस्तकालय, आड्यार मद्रास, सन् १६१६.

आचार्य विज्ञानभिक्षु और उनका भारतीय दर्शन में स्थान : डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् १६६६).

उपनिषत्संग्रहः : मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण १६७०.

काशी की सारस्वत साधना : महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १६६५).

कूर्मपुराण : संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, प्रथम संस्करण, १६७०.

गरुडपुराण : संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, प्रथम संस्करण, १६७०.

चरकसंहिता : मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, सन् १६४०.

तर्क-संग्रह : बम्बई संस्कृत सीरीज, सन् १६६३.

धर्मशास्त्र का इतिहास : श्री पाण्डुरङ्ग वामन काणे (हिन्दी अनुवाद, हिन्दी समिति सूचना-विभाग, लखनऊ, प्रथम संस्करण, सन् १६६६).

न्याय-कुसुमाञ्जलि : तिरुपति प्रकाशन, सन् १६४१.

न्यायमञ्जरी : सम्पादक—महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, सन् १८६५).

न्यायवार्त्तिक : सम्पादक—विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १६१५).

न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १६२५.

पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यास-भाष्य—तत्त्ववैशारदी योगवार्त्तिक समेतम्) : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १६७१.

प्रमाणमीमांसा : सम्पादक—पण्डित सुखलाल सिन्धवी (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, सन् १६३६).

प्रमाणसमुच्चय : सम्पादक—एच० आर० रङ्गस्वामी अयङ्गर (मैसूर, १९३०).

ब्रह्मपुराण : संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, पञ्चम संस्करण, सन् १९७१.

ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य सत्यानन्दी दीपिका) : स्वामी सत्यानन्द सरस्वती.

ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य भामती कल्पतरु, परिमल सहित) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८.

ब्रह्मसूत्र (भास्करभाष्य) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७३.

ब्रह्मसूत्र (श्रीकण्ठभाष्य) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१८.

ब्रह्मसूत्र (श्रीकण्ठभाष्य पर शिवार्कमणि दीपिका) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१८.

भारतीय दर्शन : डॉ० राधाकृष्णन् (राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम खण्ड, सन् १९६६, द्वितीय खण्ड सन् १९६९).

भारतीय दर्शन : महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र (हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, सन् १९६४).

भारतीय दर्शन : श्री बलदेव उपाध्याय (शारदा मन्दिर, काशी, सन् १९४१).

भारतीय दर्शन : श्री बलदेव उपाध्याय (सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली).

भारतीय दर्शन : डॉ० पी० वी० वर्मा (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, शिक्षा साहित्य के प्रकाशक, आगरा–३).

भारतीय दर्शन का इतिहास : डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयपुर).

भारतीय दर्शन का इतिहास : डॉ० हरदत्त शास्त्री (साहित्य भण्डार, सुभाष नगर, मेरठ).

भारतीय दर्शन का परिचय : डॉ० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्रमोहन दत्त (पुस्तक भण्डार, पटना–४, सन् १९६१).

भारतीय दर्शन की रूपरेखा : एम० हिरियन्ना (राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् १९६५).

मनुस्मृति (कुल्लूक भट्ट कृत व्याख्या) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९).

मनुस्मृति (मेधातिथि रचित मनुभाष्य सहित) : एशियाटिक सोसायटी, बङ्गाल, कलकत्ता, सन् १९३२).

महाभारत : गीता प्रेस संस्करण.

महाभारत और पुराणों में सांख्य-दर्शन : डॉ० रामसुरेश पाण्डेय (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७२).

यतीन्द्रमतदीपिका : आनन्दाश्रम संस्करण, सन् १९३४.

याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य टीका : संपा० हरिनारायण आप्टे (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, सन् १९०४).

योगदर्शनम् (व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, बालराम उदासीन कृत टिप्पणी सहित) : चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, सन् १९११).

योगसार-संग्रह : मोतीलाल बनारसीदास, संवत् २०१४.

योगदर्शनम् (योगसिद्धान्त-चन्द्रिका सहित) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९११.

वायुपुराण : लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, सन् १९३३.

विष्णुपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, संवत् २०२६.

विष्णुसहस्रनाम (शाङ्करभाष्य सहित) : मैसूर विश्वविद्यालय, सन् १९६१.

विज्ञानामृतभाष्य : चौखम्बा बुक डिपो, बनारस, सन् १९००.

वेदान्तकौमुदी : रामद्वयाचार्य (एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास विश्वविद्यालय, सन् १९५५).

वेदान्तसार : सम्पादक एम. हिरियन्ना (पूना ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, सन् १९२९).

श्लोकवार्तिक : चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, सन् १८८९.

श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, अट्ठावनवाँ संस्करण, संवत् २०२६.

श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य तथा मध्वभाष्य सहित) : सम्पादक–वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, सन् १९३६).

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य : श्री बालगङ्गाधर तिलक (अनुवादक–माधवरावजी सप्रे, प्रकाशक–जयन्त श्रीधर तिलक, श्रीकान्त श्रीधर तिलक, ५६८ नारायण पेठ, लोकमान्य तिलक मन्दिर, पूना, चौदहवाँ संस्करण सन् १९६९).

श्रीमद्भागवतम् : गीता प्रेस, गोरखपुर, पञ्चम संस्करण, संवत् २०२१.

षड्दर्शनसमुच्चय (लघुवृत्ति एवं तर्करहस्यदीपिका सहित) : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९७०.

स्याद्वादमञ्जरी (हेमचन्द्रकृत टीका सहित) : चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, सन् १९००.

सन्मतितर्कप्रकरण : ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, सन् १९६३.

सर्वदर्शनसंग्रह : अनुवादक–उमाशङ्कर शर्मा, 'ऋषि' (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, सन् १९६४).

संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए. बी. कीथ (अनुवादक मङ्गलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६०).

सांख्यकारिका : ब्रजमोहन चतुर्वेदी (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६९).

सांख्यकारिका (गौडपादभाष्य सहित) : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६४.

सांख्यकारिका (तत्त्वप्रभा एवं युक्तिदीपिका सहित) : प्रकाशक–बालकृष्ण त्रिपाठी बी. २/२४२, भदैनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०.

सांख्यकारिका (माठरवृत्ति एवं जयमङ्गला सहित) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९७०.

सांख्यकारिका (विद्वत्तोषिणी सहित) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६९.

सांख्यकारिका की ज्योतिष्मती व्याख्या : डॉ. रामशङ्कर भट्टाचार्य (मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, सन् १९६७).

सांख्यचन्द्रिका : नारायण तीर्थ (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९५२).

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा । डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र (सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सन् १९६६).

सांख्यतत्त्वप्रदीप : डॉ. अमलधारी सिंह (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०).

सांख्यतत्त्वालोक : हरिहरानन्द आरण्य (गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, सन् १९३६).

सांख्यदर्शनम् (विद्योदयभाष्य सहित) : श्री उदयवीर शास्त्री (विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, संवत् २०१७).

सांख्यदर्शनम् (महादेव वेदान्तीकृत वृत्ति नागेशभट्टकृत टीकाद्वय सहितम्) : कृपाराम शर्मा के यन्त्रालय में प्रकाशित, प्रथम संस्करण, संवत् १९४६.

सांख्यदर्शन का इतिहास : श्री उदयवीर शास्त्री (श्री विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९५०).

सांख्यदर्शनकी ऐतिहासिक परम्परा : डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र (सत्य प्रकाशन, २६, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, सन् १९६७).

सांख्य-सिद्धान्त : श्री उदयवीर शास्त्री (विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, संवत् २०१९).

सांख्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार : श्री हरिशङ्कर जोशी (चौखम्बा विद्या भवन, प्रथम संस्करण, सन् १९६५).

सांख्यसंग्रह : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६६.

सांख्यसूत्रम् (अनिरुद्धवृत्ति सहित) : प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६४.

सांख्यसूत्रम् (सांख्यप्रवचनभाष्य, तत्त्वसमाससूत्र, सांख्यसार तहित) : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, संवत् २०२२.

सुवर्णसप्ततिशास्त्र : सम्पादक–एन. अय्यास्वामी शास्त्री (तिरुमलैतिरुपति, देवस्थानम् प्रेस, १९४४).

सौरपुराण : आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, सन् १९२४.

हिन्दी न्याय-दर्शन (वात्स्यायनभाष्य सहित) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९७०.

हिन्दी वैशेषिक सूत्रोपस्कार : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९६६.

हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त संस्करण) : पं. जवाहरलाल नेहरू (सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, सन् १९६५).

A Comparative Study of the Concept of Liberation in Indian Philosophy : A. K. Lad (Giridhar Lal Keshava Das, Chowk, Burhan Pur, M.P., 1957).

A Critical study of Sāṁkhya Philosophy : V. V. Sovani (Poona Oriental Book Agency, 1935).

A Critical Survey of Indian Philosophy : Dr. C.D. Sharma (Moti Lal Banarasi Das, 2nd edition, 1964).

A History of Indian Philosophy, Vol. I & III : Dr. S.N. Dasgupta (Cambridge University Press, Vol. I, 1951 & Vol. III 1961).

A History of Indian Philosophy, Vol. 1 : Dr. Yadu Nath Sinha (Central Book Agency, Calcutta, 1962).

An Introduction to Sāṁkhya Pravacana Bhāṣya : F. E. Hall.

Aspects of Indian Thought : Gopi Nath Kavirāj (Tne University of Burdvan, 1966).

Atman and Mokṣa : G. N. Joshi (Gujrat University, Ahmedabad).

Classical Sāṁkhya : Dr. J. G. Larson (Motilal Banarasi Dass, First edition, 1969).

Classical Sāṁkhya : A Critical Study : Dr. Anima Sen Gupta (Gaur Ashrama, Lucknow, First edition, 1969).

Development of Moral Philosophy in India : Surma Das Gupta (Oriental Longmans, First edition, 1961).

Early Sāṁkhya : E. H. Johnston (Patronage of the Royal Asiatic Society, 1937).

Essays on Sāṁkhya and other system of Indian Philosophy : Dr. Anima Sen Gupta (M. H. Sen, 65/64, Moti Mahal, Kanpur, First edition, 1964).

Hindu Philosophy and Religion : The Secret of the Sacrad Book of the Hindus : N. V. Thadani (Bharati Research Institute, Delhi).

History of Indian Epistemology : Jwala Prasad (Munshi Ram Manohar Lal, Delhi–6, 2nd edition, 1958).

History of Indian Literature : M. Winternitz (Trans. Subhadra Jha, Published by Moti Lal Banarasi Dass, First edi., 1961).

History of Sanskṛta Literature : A. B. Keith (Oxford University Press, First edition, 1920).

Indian Atheism : Devi Prasad Chattopadhyaya (Manish Granthalaya, 1969).

Indian Epistemology of Perception : Yadu Nath Sinha (Sinha Publishing House Private Limited, Calcutta, First edition, 1969).

Indian Philosophy--Its exposition in the Light of Vijñānabhikṣu: A Modern approach : Dr. Narayana Kumar Chattopadhyaya (Sanskrita Pustak Bhandar, 38, Bidhan Sarani, Calcutta).

Indian Philosophical Studies : M. Hiriyanna (Kavyalaya Publishers Mysore, First edition, 1957).

Indian Thought : A Critical Survey : K. Damodaran (Asia Publishing House, 1967).

Nature of Consciousness in Hindu Philosophy : S. K. Saksena (Moti Lal Banarasi Dass, Second edition, 1971).

Origin and Development of Sāṁkhya System of Thought : P. B. Chakravarti (Calcutta Sanskrita Series 1951).

Popular Essays in Indian Philosophy : M. Hiriyanna (Kavyalaya Publishers, Mysore, First edition).

Philosophies of India : Heinrich Zimmer (R.K.P. Ltd., London, Second edition, 1953).

Presuppositions of India's Philosophy : Potter (P. Hall of India Private Ltd., New Delhi, 1965).

Sāṁkhya Aphorism of Kapil : J. R. Ballantyne (Chaukhambha Sanskrita Series, 1963).

Sāṁkhya Conception of Personality : A. K. Majumdar (Calcutta University Press, 1930).

Sāṁkhya Pravacana Bhāṣya : Edited by Richard Garbe (The Harward Oriental Series, 1895).

Sāṁkhya Sāra : Edited by F. E. Hall (C. B. Lauris, Baptist Mission Press, 1862).

The Essentials of Indian Philosophy : M. Hiriyanna (George Allen & Unwin Ltd., First edition, 1949).

The Evolution of Sāṁkhya School of Thought : Dr. Anima Sen Gupta (Pioneer Press Ltd., Lucknow, 1959).

The Naturalistic Tradition in Indian Thought : Dale Riepe (Moti Lal Banarasi Dass, Second edition, 1964).

The Sāṁkhya Kārikā : Edited by H. H. Wilson.

The Sāṁkhya Kārikā : Translated by Surya Narayana Shastri.

The Sāṁkhya Kārikā of Īśwarakṛṣṇa : John Davies (Sushila Gupta India Ltd. Calcutta, Second edition, 1957).

The Sāṁkhya Kārikā of Īśwarakṛṣṇa : Radha Natha Pukhan (Firma K. L. Mukhopadhyaya, 6/1 A, Bancharam Akrur Lane, Calcutta–12).

The Sāṁkhya Philosophy : Nanda Lal Sinha (The Pāṇini Office, Bhuvaneshwari Aśrama, Bahadurganj, Allahabad, 1915).

The Six Systems of Indian Philosophy : Maxmuller (Chaukhambha Sanskrita Series, 2nd edition, 1903).

Thoughts on Sāṁkhya, Buddhism and Vedānta : Swami Abhedananda Ram (Krishna Vedanta Math, Calcutta, 1967).

The Wisdom of Sāṁkhya : K. P. Bahadur (Sterling Publishers Private Ltd., AB/9 Safdarjanga Enclave, New Delhi–110016).

Theism of Pre-classical Sāṃkhya : K. B. Ramkrishna Rao (University of Mysore, Mysore, First edition, 1966).

The Theory of Rebirth : Radha Nath Pukhan (Firma K. L. Mukhopadhyaya, 6/1A, Banchharam Akrur Lane, Calcutta-12).

Yoga Aphorism of Patañjali (with the Commentary of Bhoja Rāja : Bibliotheca Indica, New Series, 1883).

Yoga Philosophy : Dr. S. N. Das Gupta (University of Calcutta).

Yuktidīpikā : Edited by R. C. Pandey (Moti Lal Banarasi Dass First edition, 1967).

शोध-निबन्ध

Jīvanmukti : S.S. Surya Narayana Shastri (Philosophical Quarterly, Vol. XIV 1938–39).

Māṭharavṛtti : S. K. Belvalkar (Annals of the Bhandarkar Institute, Vol. V, Poona, 1924).

Māṭharavṛtti and the date of Īśvarakṛṣṇa : S. K. Belvalkar (R. G. Bhandarkar Commenoration Volume, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1917).

Some Problems of Sāṁkhya Philosophy and Sāṁkhya Literature : Kalipada Bhattacharya (The Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, Calcutta, 1932).

The Chronology of Vijñānabhikṣu and his disciple Bhāvāgaṇeśa, the Leader of the Chit-pavan Brahmins of Banaras P. K. Gode (Adyar Library Bulletin, Vol. VIII, 1944).

The Doctrine of Bondage and Release in the Sāṁkhya Philosophy : A. K. Majumdar (Philosophical Review, Vol. 35, 1926).

The Ṣaṣṭitantra and Vārṣagaṇya : M. Hiriyanna (Journal of Oriental Research Madras, 1929).

Trividhamanumānam or A Study in Nyāya-Sūtra 1/1/5 : A. B. Dhruva (Proceedings of Transactions of the First Oriental Conference, Poona, Vol. 2, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1922).

शब्दकोष

वाचस्पत्यम् : श्री तारानाथ भट्टाचार्य तर्कवाचस्पति (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६२).

शब्दकल्पद्रुम : स्यार राजा राधाकान्त बहादुर (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६१).

Encyclopedia of Religion and Ethics : Edited James Hastings (J & J Clark, Edinburgh).

दार्शनिक-पद अनुक्रमणिका

अकर्ता ५०, ८९, १०१-२, ९-१०, ९९

अचेतन ३४, ८८, ९०, ९५, ९७, ९९-१००, २, ९, ११, ३०, ३३, ३५-६, ३९, ४३, ६७, ९१, २००, १८, २२, २८-९, ४२

अज्ञान ८२, ९९, १२७, ४८, ७८, ८७, २००, ४, ६, १०, १५-६

अणुपरिमाण १७-८, ५९-६०, १२३, ५४, ६६

अर्थापत्ति ६९-७०

अदृष्ट १६२, ८३, ९४

अद्वैत ४६, ७३, १०६-७, ९२, ९६, २१६, २४, ४३

अद्वैत वेदान्त/अद्वैतमत ३२, ४१, ७१, ७३, ७६-७, ८४-५, १०१, ५, ६, १४, १६, ६७, ९७, २१५-७, ३८, ५२

अधिष्ठाता ९२-३, १०१-२, ९-११, २१-२२, २६, २९, ३१, ३६, ४०

अधिष्ठान शरीर/आतिवाहिक शरीर १६५-६७, २४७-८

अधिभूत सर्ग १४१-२

अध्यवसाय/निश्चय ५७, १४३, ४८, ५४-५, ५७, ६०

अध्यात्म सर्ग १४१-२, ५१

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद ७७, ८४-५

अनीश्वरवाद/निरीश्वरवाद ४१, ४४, १३२, २१८-२०, २६-९, ३२-४, ३८-४०, ४९, ५१

अनुपलब्धि ६९-७०, १०८

अनुमान ३, १४, ५६, ६०-६६, ६९-७०, ९१, ९८, ११२, २०-१, ३२, ३७

अनैश्वर्य १४४, ४८, २०४, ६

अन्तःकरण	६२, ७८, १६१-२, ७२, ६६, २४३, ४६
अन्यथा ख्यातिवाद	७७, ८३, ८५, ८७
अन्वयि	६३, १६५
अन्वयि-व्यतिरेक	६३
अभाव	७१-४, ८०, ८२, १००, २, ४, ६, ३६, ५५, ६३, २००, ३, ३०-१, ३३, ३५, ३७, ४२, ४५, ५०
अभिमान	८६, ६८, १०६-७, ४०, ४८-६, ५४, ५७, ५६, ८८-६, २०४, १४, ३५, ४२
अविद्या	३४-५, ८६, १०१, ७, १६-७, १६, २०, ७२-४, ७८, ६२-३, ६७-२०१, ४, १०, १४, ४४-५
अविवेक	८१, ८३, ६३, ६५, ६७, १००-१, ३८, ५५, ५७, ८०, ८७-८, ६६-२००, ६, १०, ४४-५
अवीत	६३
अवैराग्य	१४४-८, २०४, ६
अव्यक्त	२, २३, ३४, ५०-१, ५६, ७०, ८१, ६०, ११५, १७-२१, २५, ३६, ४१-२, ८६-७, ६६, २०८, २५,
अशक्ति	१७२, ७५, ६६
असत्	५५, ७१-५, ८२, १६७
अहङ्कार	१६, २३, ३५, ६०, १०८, १६, ४१, ४३, ४८, ६०, ६३, ७०, ७३, ७८-६, ६०, २००, ४, ७, १२, १४-५, ३८-६, ४५-७, ५१
आत्मख्यातिवाद	७७
आत्मा	४, ४३, ४७, ५१, ७८, ८८-६०, १०१-३, ५-६, १४, ५३-५५, ५८, ६४, ७५, ८६, ६१, ६३, ६७, ६६, २०३, ८-६, १५-१७, १६, २६, ३२, ३४-५, ४०, ४२-३
आधिदैविकदुःख	३४, १८०, ८३
आधिभौतिकदुःख	३४, १८०, ८३
आध्यात्मिकदुःख	३४, १८०
आनन्द	४३, ८६-६०, १६०, ७३, २०२, ४३, ४६

आविर्भाव ७०, १२०
इन्द्रिय १६, २३, ५३, ५६–६०, ६५, ७८, ८५, ८८, ९०, ९३–४, १०४, ११२–३, ४२–३, ४५–६, ४९–५५, ५८–९, ६१, ६३–४, ७५, ८०, ८९–९०, ९३, ९९, २००-१, १२, २४, २९, ३७, ४६-७
ईश्वर/परमात्मा/परमेश्वर ५७–८, १०७, ३२, ३६, ३८, ४०, २०३, १८–४०, ४५, ४९–५१
ईश्वरवाद/सेश्वर ४१, १७८, २१८–२०, २२–४, २६–८, ३२–४, ३८–४०, ५०–१
उत्पत्ति ७०, ७७, १०४, १५, २४, २७, ३८, ४७–५२, ५५–७, ७८, ८७, ९८, २३२
उपनिषद् १, ४५, ४७–९, ५१–२, ८८, १४०, २१८-२२, ३२
उपमान ६९, ७०
उपादानकारण ७२, ७४–५, १०२–३, १९–२१, ३८–९, ४९, ५१, ५३, ६९–७०, ७६, ८२, ९५, ९८, २१८, ४०
उपाधि ९५–६, १०४–८, ४३, ८८, ९२, २०४
ऐतिह्य ७०
ऐश्वर्यं १४४, ४६–८, ७२, ७४, २०३–४, ६, ३३, ३७
कर्ता १०–११, १७, ३४–५, ८१, ८६, ८९, ९१, १०१–३, ११, ३६, ८७, ९४, २२०, ३०–१, ३६, ४०, ५१
कर्म ३४–५, ३९, ११०, १९–२०, ३२–३३, ३६, ६४, ६७, ७७–८, ८५, ९०, ९२, ९६, ९८–९, २०४, ६–७, ९–१५, २१, ३०, ३६, ४७
कर्मेन्द्रियाँ १४१, ५०–२, ५४–५५, ५७, ५९–६१, ६३, ६७, ७५, २४६
करण ९७, १०४, १३, ४१–२, ५३, ५७–६४, २४६
कारण ७६, १७८, ८७, ९४–५, ९८, ९९, २०५, ७, ९–१०, १२, १४, २३–५, २९, ३३, ३७, ३९–४०,

५०–१

कार्य ३४, ६३–४, ७०–६, ६४–५, ६७, ११५, २०–१, २४, २६, २८, ४३, ५०, ५४–६, ५६–६०, ६६, ७८, ८२, ८७, ६४–५, २०२, ७, ६–११, २४–५ ३०–१, ३६, ३८

काल ७५, ६६, ११५, १६, ३३, ५४, ७१, ७५, ६१, ६३, ६५, ६६, २२४–२५

क्रिया ६५, ८०, ८६, ६३, १०२, २७, ३३, ५३, ५५, ६६, ६७, २३७

ख्याति २, ७३, ७७–८, ८३, ८७, १४२, ४८, २००, ४२

गुण १६, २४, ३४, ५१, ७२, ८१–२, ८५, ८८–६१, ६७, १००, १०३, ११–२, १५–८, २१–३०, ३७, ३६, ४२, ४५, ४७, ५६, ५८, ७२, ८५, ६६, २०२–३, ६–७, ६–११ ४४, ४६

चार्वाक स्वभाव-वाद/जड़वाद ४६, २२०, ३३

चित्त ७, ४७, ४६, ५३, १४६, ८२, २०१, ८–११, ३३, ४८

चेतन/चैतन्य/चित् ३४–५, ७८, ८५, ८८–६१, ६३, ६५–१००, २, ६, ६, ११, २०, ३०–१, ३३, ३५, ३७, ४०, ४३, ५५, ७७, ६१, ६६–२००, २, ५–६, ८, १२, १६, २२, २४–५, २८–६, ३३, ३७, ४२–३, ५०

जगत् १, २४, ३४, ७१–३, ७६, ८४–५, ११३, ११६–२०, २३–५, ३६, २१८, २०–१, २३, २५, २६, २६–२, ३५, ३७–४०

जीव २०, ४३, ६०, १०७–१२, ६३, ७८, ६३, २०३, १६, २१–२२, २५, २६–३०, ३७, ४३

जीवन्मुक्ति ३५, ८१, १०१, ११, २०१, ७–८, १६, ३०, ४६

जैन ४६, ६८, ७०, ८०, २२०

ज्ञ ५१, ६०, १०६–१०, ८६–७

ज्ञाता ७६, ८६, ६७–८

ज्ञान १–६, २२–३, २५, ३५, ४०–१, ४४, ५०, ५३, ५५–६२, ६४–८, ७१, ७३–४, ७६, ७८–८६, ८६, ६७–१०१, ४, १६, ३१, ३८, ४४–५, ४८, ५४, ५७–८, ६०, ८०, ८२, ८७–८८, ६१, ६८–२०१, ३–१२, १५, ३१–२, ३५–७, ४२, ४६

ज्ञानेन्द्रियाँ १४१, ५०–३, ५५, ५७, ५६–६१, ६३, ६७, ७५, ८८, २४६

तत्त्व ४, ५, २१, ३३–४, ४८, ५२, ७१, ८१–२, ८८–६०, ११६–२०, २५, ३०, ३३, ३५–६, ३८, ४३, ४६, ६३, ७६, ८२–३, ८६, ८६, ६१–२, ६५–६, २०३, ५, ८, १४, १६–७, २०–२२, २५–६, ३१–२, ३४, ३७–८, ४०

तत्त्वज्ञान/तत्त्व साक्षात्कार ८, ४८, ६७, १३२, ४३, ८७, २१५–६, २४६

तन्मात्र/सूक्ष्मभूत/अविशेष १६, २३, ५१, ११६, ४१, ४६–५२, ६६, ७७, २०६, १२, २१, ४६–७

तमोगुण/तमस् ३४, ५०, १०५, १२, १७, २१, २५–७, २६, ४०, ४३–४, ४६, ४६–५२ ६६, ७७, २०६, १२, २१, ४४–५

तिरोभाव ७७, १२०

तुष्टि १६, १७२, ७५–६, ६६

दिक्/देश ७५, ६६, ११५, १६, ५४, ७१, ६१

दुःख १६, ३४–५, ४६, ७१–७, ६०–२, ६४–८, १०१, ६–११, २०–१, २५–७, २६, ३४–५, ६१, ६८, ७१–४, ७६–७, ७६–६०, ६२, ६६, ६८–२०१, ४–६, ११–१४, १६–७, २६, २६, ३१, ३६, ४८

दृष्ट ६६, १६२, ८३

द्रव्य १२२, ४१, ७२, ८२, ६०, २०३, ४४

द्रष्टा ५०, ८७, ८६–६०, ६६, १०१, २००, ६

द्वैत/द्वैतवाद ३४, ४४, ४६, ४८, ६३, १०६–७, २१६, १६–२२, २४
धर्म २०, ५४, ५६, ६४, ६६, ७४, ८६–६२, ६४–६, ६६, १०४, ८, १८, २०, २२, २६–७, ४२–४४, ४७, ५५–६, ६४, ६७, ७७, ८४, ८७–८८, ६०–२, ६६, ६८–२०२, ४-७, ६, १२–५, २१–२२, ३८, ४३
नित्य ६६, ७५–६, ७८, ८८–६०, १०६–१०, १२–३, १६, १८, २५, ५४, ८६, ६१, ६६, २०४, ६, ११, १४, २३, २५, ३१, ३३–४, ३६–७, ४८
निदिध्यासन १८७, २१०, १६, ४६
निमित्त कारण १२०, ३३, २१८, ३०
नियमन/नियन्त्रण १२७–८, २३६, ४०
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ५८-६, १५४
न्यायदर्शन/नैयायिक ३३, ५५, ७१, ७३, ७८–६, ८३, ८५. ११५, ५४, ६३, २०२–३, १५–१६, १६, ३०, ३२, ३६
न्याय-वैशेषिक १३, १५, १६, ७३, ८३, १६६, ७१, २१५
पदार्थ/अर्थ १०, ३४, ५५–६, ५६–६०, ६२, ६४–७, ६६, ७२–३, ७८–८६, ६१–२, ६८–१००, ६, १५, १६, २१, २५, ४१–२, ५४, ७२, ८५, ६२, ६४–६, २०३–४, ६, १६, २१, ३४, ४०–३
पुनर्जन्म १८५, २०६, ११
परिच्छिन्न परि-
माण/मध्यम परिमाण १२३–४, ५३–५५, ६६
परिणाम ४४, ४६, ५०, ५५, ७३, ७६–७, ८४, ६२, १००, २–४, १५–६, १८, २४–५, २७, २६, ३०, ३३, ३६, ७५, ८०, ८८, २००, ४–५, १७, २१, २४, ३७
पुराण २, २४, ४०, ४६, ६८, १४०, ४५, ५०, ५२, ७८, ८७, २२०, २४, २६, ३२, ४५–६, ५३

पुरुष	२–३, २०, २२, २४, ३५, ४४, ५०–१, ५३–४, ६१, ६४–६६, ६६, ७८–६, ८१, ८३, ८५–६, ८८–११६, २१–३, ३०–४१, ४३, ४५, ४६, ५१, ५८, ६२–४, ६७, ७८–८०, ८३, ८७–६३, ६६–२०६, ११–२, १४–६, १८–२२, २४–५, २८, ३१, ३३, ३६–७, ३६–४५, ४८–५१
पुरुष-बहुत्व/पुरुष–/ अनेकत्व	५१, ७६, १०३–५, ७–६, ११–४, २१, २६, ४३
पुरुषार्थ	२, ४५, १०४, ११, २७, ३३–६, ३८, ५८, ६२, ६७, ७६–८०, ८२–३, ८५–६, ८८–६, ६६, २०१–३, ५, ८–६, १४, १७, ४३, ४६, ४८
पूर्ववत्	६३–४
प्रकाश	८६, ६६, १२७–८, ५२, ५६–६०, २२४
प्रकृति	२–४, १६, २२–४, ३४, ४४, ४७, ५०–१, ५६–६०, ६४–५, ७०, ७७, ८८–६३, ६६–७, १०२, ६–११, १३, १५–२५, २७, ३०–४२, ४५, ७३, ७५–६, ७८, ८७, ८६, ६०, ६२, ६६, ६८–२०१, ३–१०, १२, १४–६, १८–२६, ३१, ३६, ३६, ४०, ४३–५, ४६, ५१
प्रकृति-पुरुष-विवेक	७७, २०४, ६
प्रकृति-विकृति	११६
प्रतिबिम्ब	२०, ५४–५५, ७६, ८२, ८५, ८६, ६२, ६४–५, ६७, ६६, १००–१, ३, ११, १४, ३३–५, ४३, ७६, ८७–८, ६०, २००, ४, ११, १४–५, ३१, ४१–३, ४८–६
प्रत्यक्ष	३०, ५६–६०, ६४, ६६, ६६, ७०, ७६, ८५, १२१, २३०, ३२, ३७
प्रधान	२६, ४६, ५१, ६०, ११५, १७, २४, ३१, ३३, ३५, ४१, ५७–८, ६२, २२१–२२, २४–६, २८, ३२, ३७, ३६–४०, ४३, ५०

प्रमा	३, ५३-६, ६६, ७८, २४१-२
प्रमाण	५३-६, ६५, ६७, ७६, ७८, १०७, २२, ८४, ९६, २०३, १७, ३०, ३२, ३५, ३७, ३८, ४२, ४५, ४६-५०
प्रमा-प्रमाण	५३, ७८
प्रमेय/ज्ञेय	५३, ५६, ६६, ७६, ११५, २०३, १६, ३३, ४२
प्रमाता	५३, ७८-६
प्रलय	२५, ८८, १३०, ३८, ६३, ८६, ९२, २२४
प्रवृत्ति	८४, ९३, ९८, १०५, १०, १३, २६-८, ३१-६, ४०, ६१-२, २०५, १८
प्राण	९०, १०८, ६०-१, ६७, २११, ४६-७
प्रारब्ध कर्म	३५, १११, २०७-८, १३, २२
बन्धन/बद्ध	३४-५, ७१, १०१, ४, ८-१३, २३, ३४-५, ८९-२०१, ३-५, ७-११, १४-६, २१, ३०, ३५, ४२-४, ४८-९
बुद्धि	२१, ३३, ५०, ५३-७, ६६, ७८-८१, ८३, ८६, ८९-९०, ९२-१०३, ८, ११, १३, ४१-४४, ४८-९, ५४-५, ५७-९, ६२-४, ६७, ७२, ७५, ७८, ८८-९, ९९, २००, ४, ७, १०-१२, १४-५, २४, ३७, ४१-२, ४६-७
बौद्धदर्शन/बौद्ध दार्शनिक	४१, ४६, ५५, ६८-७२, ८३-४, ९१, ११५, २५, ९२-३, ९५, २०३, १६, १९-२०, २७, ३४, ५०
ब्रह्म	२०, २२, २५, ४३, ७१, ७३, ७६, ९०, ११८, ३१, ४८, ९७, २०२, ९-१०, १५-६, १८, २०-४, २६, ३३-४, ५०
भाव	७१-५, ११९, ३७, ३९, ४९, ५५, ९३, ९५-७, २००, ६-७, १३-४, १६, १८
भोक्ता	२४, ९०-४, ९८-९९, १०१-२, ९-११, ९४, २००, २१, ४२
भोग	२०, २४, ८९-१०२, ४, ९, ११, १४, ३२-५,

३७, ४०, ४२–३, ६४, ६७–८, ७४, ७८, ८०, ८५, ८८, २००, ४–८, १३, ४२–३
भोगापवर्ग ११६, २२–३, ५१, ६२, २१८, ४४
भ्रम ५४, ७३, ८१–६, ६०, १०४, १६, ४६, ५८, ६३, ६७, २१०, १६
मन/मनस् १, १८, २३, ५६, ७६, ८४–५, १०८, ४१–३, ५०–५५, ५७, ५६–६०, ६३, ६६, ७८, ८८, २०६, १५, २५, ४६
मनन १७५, २१०, १६, ४९
महत् ४, १६–७, २०, २३, ५०–१, ५३–४, ६०–१, ६३, ११५, १९–२१, २५, ३०, ३२–३३, ३६, ४०–३, ४५, ४८–९, ५५, ५७, ७०, ७३, ७८, २००, ५, २३, २५, २९, ३७–९, ४५, ५१
महत्परिणाम १५६
महाभूत/स्थूलभूत/विशेष १६, २३, २५, ५१, ६०, १२५, ४०–१, ४७, ४६–५०, ५५–७, ६१, ६५, ६८–७०, ७३, ८६, ६०, २२३
माया ७१, ११६–७, ६३, ६७–८, २०६–१०, २१, २५, ३८
मीमांसा/मीमांसक १६, ५५, ८६, १४५, ८३, ८५, २३४–५, ३६, ५०
मूलप्रकृति ११५, १७, १६, ४१, २२१
मोह/मूढ़ ७१–२, ९१, १०६, २०–१, २५–६, २९, ६१, ७३, ७७, ८८, ६६–२००, ४, ६, ८, १४, ३५
मोक्ष/कैवल्य/मुक्ति/अपवर्ग १–२, २३, ३४–५, ४०–१, ४७, ४९–५०, ५६, ७२, ८१, ९१–३, ९९–१०१, ४, ६–१०, १२–३, २३, ३३–५, ३७–४०, ४३, ४५, ७५, ७८–८०, ८५–७, ६१, ६३, ६९–२१२, १४–७, २२, २६, २८, ३०, ३२–३३, ३५, ३७, ३६, ४२–४४, ४८–५०
यथार्थख्यातिवाद ७८

योग ७, २५–६, ४०–१, ४३, ५७, १६२, २१०, १६, २१, ३३–४, ५१–३

योगदर्शन/पातञ्जलदर्शन १६, २३, २५, ४१, ४३, ७५, ८०, ८३, १४७–८, ७२, ८०, ८२, ६७–८, २१०–११, ४०, ५०, ५३

रजोगुण १७, ३४, ५०, ८६, १०५, १२, १७, २२–३, २५–६, ४०, ४३–४४, ४६, ५१, ६६, ७७, ८०, ८७, २०२, १२, २१, ४४–६

लय १२४, ३८, ७८, ६६, २०३, ८

लिङ्ग/हेतु/व्याप्य/साधन ६१–२, ६६, ७३, ८०–१, ६६, ६८, १३८, ५३, ६२, ६८, २०६, ११, ३२, ३६

लिङ्गि/व्यापक/साध्य ६१, २३२, ३७

विकार/विकृति १६, २३, ८६, ६३–४, ६६, १०६, १५, १६, २५, ४०–१, ५१, ८६–६१, ६६, २००, १३

विकास १२२, ३२, ३८–४१, ७८, २१६, ४५

विज्ञान/विज्ञानवाद ७६, १८७, ६२–३, ६५–६, २०३

विदेह-मुक्ति/विदेह-कैवल्य ३५, ४०, २०८, ४६

विपर्यय १६, १४८, ७२–५

विभु ६०, ८८, ६६, १११, १६, २३–४, ५३–५५, ६३, ६६, ७१, ६६

विवर्तवाद ४६, ७३, ७६–७७, १३६

विवेक/विवेकज्ञान/विवेक लाभ ३–४, ५३, ८१, ८६, ८८, ६४, १०६, १३, ३७, ४५, ५५, ६२, ७५–६, ७८–८०, ८४, ८७, ६६, २०५–१०, १२, १५, ३२–३३, ४६

विवेकख्याति २, ४१, ७७, ८६, १८०, ८६–७, २००, ५, ७, ६, ३४

विसदृश परिणाम १२५, ३०, ३६

वीत ६३

वेद/वैदिक ४४–५, ४६, ५२, ६७–६, १४६, २३२, ३६, ४६

वेदान्त/ब्रह्ममीमांसा १६, ४१, ४३–६, ४८, ७६, ८६–६०, ६७, १०१, ३, ५–६, १३, १६, ३२, ३६, ४०–१, ६६, ७८, २०२, १३, १६, ३३, ३६, ४१, ४३, ४५, ५०–३

वैराग्य/विराग २०, १४४–६, ४८, ७६, २०४, ६, ११, ३७

वैशेषिक १५, ६५, ६६, ७४, १२२, ५६, ६३, २०३, ८, १६, ३५, ३८, ४४

व्यक्त २, ४, ३६, ५१, ५५–६, ७०, ८१, ११५, २०–१, ३८–६, ४२, ८६–७, ६६, २०६, २५

व्यतिरेकि ६३–४, १६५, ६८

व्याप्ति ६०–२, ६५, ६६, २३२

शब्दप्रमाण/आप्तवचन ५६, ६५–३, १२२, ४५, ४८, ५४–७, ६०, २३७,

शून्यवाद ८४, १६५–६, २०३

शेषवत्/परिशेषानुमान ६३–४

श्रवण ८, १७५, ६२, २१६, ४६

श्रुति ३, ४५–६, ४८–६, ५२–३, ६६, ६६, ७३, ७५–६, १०४–८, १३–६, १८, २०–१, २४, ३२, ४०, ४४, ५३–४, ६६, ७८, ८४, ८६–८८, ६१, ६४–५, २०२, ८, १०, ३१–७, ३६, ४१, ४३, ४५, ४८–६, ५१–२

सङ्कल्प १३१–३२, ५७, ६०, ७०, ८४, २३५

सङ्घात/संहत ६१, ६३, १०४, ६, ११, ६७

सञ्चितकर्म २०७, १३

सञ्चीयमानकर्म/क्रियमाणकर्म २०७, १३

सत् ७०–४, ७६–७७, ८२, ८४–६, १०७, १६, ३६, ६७

सत्कार्यवाद २६, ३४, ५०–१, ५६, ७०–१, ७४–७७, १२०, ३६, ८२, ८७

सत्त्वगुण ३४, ५०, ५५, ८५, १००, ५, १७–८, २२–६, ४०, ४२–४४, ४६–५, ५५, ६६, ७७, ८५, ६८, २०२, ६–७, ६–१२, १६, २१, ४४–६

सत्त्वपुरुषान्यताख्याति २, ७७, १७८, ८७, २००, ५, १०

सदसत्ख्यातिवाद ७७, ८३, ८५–७

सदृश परिणाम १२५, ३०, ३६

सविकल्पक प्रत्यक्ष ५८–६, १५४

सामान्यतोदृष्ट अनुमान ६३–५, ११६

साम्यावस्था ३४–११६–८, २२, ३०, ३६, २४४

साक्षी ३४–५, ५०, ५३, ७८–६, ६३, १०२–३, २००, ३७

संसरण १६३, ६७, ७८, २००, ६, ११-४

सांख्यदर्शन/सांख्यशास्त्र १-४, ६-७, ९, १९-६, २८-९, ३३-५, ४१-५६, ५९, ६०-१, ६३-४, ६६, ६८, ७०-१, ७४, ७६-८३, ८६ ९, ९३-८, १०१-५, ७-११, १३-६, १९, २१-२२, २४-५, ३२-३३, ३५ ४३, ५०-६, ६२-४, ६७, ६९, ७१, ७५, ७७-८०, ८३, ८४, ८६-७, ८९, २०१-४, ६-७, ११, १३-३०, ३२-५, ३७-५३

सांख्यदार्शनिक/सांख्याचार्य २-३, २०, २६, २८, ४६, ४८-९, ५२, ६४-७१, ७३-४, ७७-८, ८२, ८६, ८९, ९३, १०८-९, ११, १४, ३१, ३५-६, ३८-४२, ५३, ५५, ५७, ६१, ६३, ६५, ८२, ८५-७, २०२-३, ५-६, १०, १३, १६, १९, २२, २४, ३२, ३४, ३६-८, ४०-३, ४५-७, ४९-५

सांख्य-योग ३, १६, २२, २६, ४४, ७७, ८३, ८६, १२३, २०१, ३३, ५२

सिद्धि १७१, ७२, ७५-६, ९९

सुख ५७, ७१-२, ८९-९२, ९४-९९, १०१, ९-११, १५, २०-१, २५-६, ४५, ५६, ६१, ६८, ७३, ७९-८०, ८४-८८, ९९-२००, २, ४, ६, ७, ११-१७, २६, २९, ४३

सूक्ष्मशरीर/लिङ्गशरीर २४, ३९, १६२-६८, ८५, २००, २, ११-१४, ४७

सृष्टि/सर्ग १, ७, ३४, ४८, ५०, ७०, ७६-७, ८८, ९६-७, १०९, १५, २०-१, २५, ३०-४३, ५१, ५५, ६३-४, ७७-८, ९४-९८, २०४, ६, १०, १७-८, २२, २४-५, २८-१, ३५-४०, ४४-५, ४७, ५१

स्थूलशरीर/भौतिकशरीर १६३-७१, ७३, ८५, २१२-४, ४७-८

स्मृति २, ४४, ४६, ५४, ५९, ६७-८, ७६, ८४, १०४-५ ८, १६-८, २१, २४, ३२, ४०, ५३, ५९, ६६, ७८, ८७, ९५, २१०, २०, ३२-३३, ३५, ३८, ४१, ४५, ४८-९, ५१-२

हिरण्यगर्भ ७, ७६, १३२, ४०-१, ६४-५, ७८, २४५

क्षणिकवाद १९४-६, २०३

क्षोभ १३०, ३६, २५, ४५

ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

अद्वैत ब्रह्मसिद्धि	३७–६
अनिरुद्धवृत्ति/सांख्य-सूत्रवृत्ति	१२, १४–५, ३३, ५४–५, ५७–६२, ६७, ७३, ८४–५, ६६, १०८, १७, ५०, ५५, ६२, ६६, ६८–६, ७१, ७३–७, ८८, २०२, ३०–२, ४१–२, ४८
अनुगीता	१४२–४३
अनुयोगद्वारसूत्र	२६
अपरादित्य टीका	१६, १८–६, २६
अमरकोश	३, १७
अष्टाध्यायी	२६
अहिर्बुध्यसंहिता	६, १७, २२६
आचार्य विज्ञानभिक्षु और उनका भारतीय दर्शन में स्थान	३८, ४०, ४३–४४, २३६
ईश्वरगीताभाष्य	४२
उपदेशरत्नमाला	४२, ४४
उपनिषद् भाष्य	४४
ऋग्वेद	५०, ८८, १८६
ऐतरेय उपनिषद्	१०५
कठवल्ल्युपनिषद्	४२
कठोपनिषद्	४, ८, ४५, ४८, ४६, ५०, १३२, ६६, २२०–२१, ४८
कठोपनिषद् शाङ्करभाष्य	१४०–१
कपिलसूत्रविवरण	३०
कारिकार्थ विनिश्चय	४१
काशीकी सारस्वत साधना	४१
कूर्मपुराण	४२, १३२, ४६, ५७, ६१
कैवल्योपनिषदालोक	४२

कौमुदी प्रभा ११, २२

क्रमदीपिका ३३

गरुड़ पुराण ५

गीता ३, ५, १६, २५, ४५–८, ५१, ७१, १८०, ८५, २२३–४, २३२–३३, ४५, ४६

गीताभाष्य ४४

गीता मध्वभाष्य ४

गीता शाङ्करभाष्य ३, ५

गौडपादभाष्य ६, ८, २२, २४, २८–६, ३१–२, ४३, ५७–८, ६३–५, ६२, ६७, १०६, १७, २७–६, ४४–५, ४७–८, ५६–६०, ६२–३, ६८, ७३, ७७, ८१, ८६, २१३, २८–६, ४८

चरकसंहिता २२६–७

छान्दोग्योपनिषद् ४, ४८–५०, ७५, १०५, ५३, २३७–८

जयमङ्गला ८, १०, २०, २८–३०, ३२, ५७–८, ६१, ६३–५, ६७, १०३, १७, २७–२६, ४४–५, ४७–८, ५६–६०, ६२, ७३–४, ७६–७, ८१, ८६, २१३

जयमङ्गला (गोपीनाथ कविराज कृत भूमिका) ७, १०, ३२

तर्कभाषा ३६

तर्करहस्य दीपिका २८–६, ६५

तत्वकौमुदी २७–८, ३०, ३२, ३४, ५४, ५७–८, ६३–५, ६७–८, ७०–४, ७७, ७६, ८३, ६१, ६६, १०३, ११७–८, २७–६, ४४–८, ५३, ५६–६३, ६८, ७२–४, ७७, ८१, ८३, ८५, ८८–६०, २१३, २६, ४१, ४७

तत्त्वकौमुदी (गङ्गानाथ झा कृत भूमिका) ७, १०, ५०

तत्त्व प्रबोधिनी ३६–७, ३६

तत्त्वयाथार्थ्यदीपनटीका २१–२, ३३, ३७, ३६, ६२, ६०, १०३, ८, १८, २१, २३, ४२, ४३, ४६, ५३, ६१, ६३, ७१, ७७, ८६, ६०

तत्त्ववैशारदी	११, २१, ७७, ६६, १०१, २४३
तत्त्वसमाससूत्र	६, १२–३, १६–६, २१, ३०, ३३, ६०, ११६, २३, ७७, २०१
तत्वसमाससूत्र (सर्वोप-कारिणी टीका)	६, १२, ३०, ३३, ११६
तैत्तिरीय आरण्यक	१८६
तैत्तिरीयोपनिषद्	१५३, ६६
तैत्तिरीयोपनिपदालोक	४२
देवीभागवतपुराण	१२६
नैषधीयचरित	१७–८
नैषधीयचरित की मल्लिनाथी टीका	१८
न्याय कुसुमाञ्जलि	२३२, ३६
न्यायभाष्य	१६–७, २१६, ३२, ३६
न्यायमञ्जरी	३०, ५६, ५८
न्यायवार्तिक	२१, ३१, ५६, ६०
न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका	२५, ६०–१
न्यायसूची निबन्ध	३२
न्यायसूत्र	१६, १५२, २०१
प्रमाण मीमांसा	५६
प्रमाणसमुच्चयवृत्ति	६०
प्रश्नोपनिषद्	४६, ५१
प्रश्नोपनिषदालोक	४२
बाजसनेयी संहिता	२३
बुद्धचरित	४, ८, २२०, २६
बृहदारण्यकोपनिषद्	४, ४८–५०, ७५, ८८, १०४, १३, ६६, ६१, २३७
ब्रह्मादर्श	४२, ४४
ब्रह्मपुराण	१४०, २२५
ब्रह्मसूत्र	१२–४, १६, ३६, ४४, ८४, ६०, १०५, ३१ ४१, ६१

ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य	६
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य	६, ६, २६, ४५, १३५–६, २२७
ब्रह्मसूत्र श्रीकण्ठभाष्य	१२, १६–७
भागवतपुराण	५–७, ४७, १८६, २२५, ३८, ४६
भामती	११, २७
भारतीय दर्शन(उमेश मिश्र)	१०६–१०, १३
भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय)	११२
भारतीय दर्शन, खण्ड १ (राधाकृष्णन्)	५०
भारतीय दर्शन, खण्ड २ (राधाकृष्णन्)	८, १४, २०–१, ३३, ३५, ४८, १३७, २२०, २६
भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड १	२१६, २३, २६–७
भारतीय दर्शनका परिचय	११२
भारतीय दर्शनकी रूपरेखा	८६, १२३, २५, २१६–२०
भिक्षुवार्तिक	४२–३
मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	२२१
मत्स्यपुराण	२३४
मनुस्मृति	२४, २८, ५६, २२६
मनुस्मृति की कुल्लूकभट्टीय व्याख्या	२४
महाभारत	१–६, ८, १६, १६, २१–६, ४६–६, ५१, १०८–६, ६३, ६६, ६६–७०, २२२–३, २६–७, ३२, ३४, ४४–५, ४७–८, ५२
महाभारत की नीलकण्ठकृत टीका	१३७
महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन	२, १२, २२०
माठरवृत्ति	८, १०, १६, २०–१, २५–६, २८–६, ३१, ५७–८, ६२–६६, ६२, ६७, १०३, २७–६, ४४–६, ४८, ५६–६०, ६२, ७३, ७५, ७७, ८१, ८५, ८६, २१३

माण्डूक्यकारिका ३१
माण्डूक्योपनिषद् ४२
मुण्डकोपनिषद् ४२, ५०, १६१
मेधातिथिभाष्य २८
मैत्रायिणी आरण्यक ७५
मैत्रायिणी उपनिषद् ४८–६, ५१, २२१
मैत्र्युपनिषदालोक ४२
यतीन्द्रमतदीपिका १५२
याज्ञवल्क्यस्मृति १६, १८, २६, ५२
युक्तिदीपिका ८, १०, १६–७, २०–१, २३, २६–३१, ५६–८, ६०–१, ६३–५, ६७, १३१, ४१–२, ४४–६, ४८–६, ५३, ५५, ५७–६, ६२–४, ७३, ७७, ८१, २१३, २८
योगभाष्य ५, ७, ६, ११, १६, २१–२, २५, २७, ५८, ७७, ७८, ७६, ८३, १०१, १८, २२, ४६, ५६, ७२, ८८, ६६, २०८, ४६
योगवार्तिक ७, ३६–२, ४४, ५३, १७१–२
योगसारसंग्रह ४२, ४४
योगसिद्धान्त चन्द्रिका ३६
योगसूत्र १३–४, १६, २५, ७७, ७६–८०, ११८, ४४, ७६, ८२, ६८–६६, २०१, ३६
योगसूत्र की बालराम उदासीन-कृत टीका ७, ११
योगसूत्रवृत्ति २८, ८३
योगसूत्रवृत्तिसार ३६
राजवार्तिक ३०–१
रामायण ४६
लघुवृत्ति २
वाक्यपदीय ३१
वायुपुराण ६, २२६

विज्ञानामृतभाष्य ३६–४०, ४२, ४४, १३२, ३६, ४०, २२०, ३२–३४, ३८–४०, ४५, ४६–५१
विद्वत्तोषिणी टीका ६७, १४६, ६१–२, ८१, ८७
विष्णुपुराण ५, २२४–५, ३४, ४५
विष्णु सहस्रनाम शाङ्करभाष्य ४
विष्णुस्मृति ५१
वेदान्त कौमुदी ३६
वेदान्तालोक ४२–३
वेदान्तसार ३८–६, १५२, ६७
वैशेषिक शास्त्र ४२–३
वैशेषिकसूत्र १७१
व्यासस्मृति ४
शङ्ख संहिता २३
शतपथ ब्राह्मण २०, २३
शारीरकारिका भाष्य ४१
शारीरकारिकाभाष्य-वार्तिक ४१
शिवार्कमणिदीपिका १३, १७
शिशुपालवध ७७
शिशुपालवध की मल्लि-नाथी टीका ७७
शुक्ल यजुर्वेद २३
श्लोकवार्तिक २८, ३१, १६३
श्वेताश्वतरोपनिषद् १, ४–५, ८, ४२, ४५, ४८, ५०–१, ८८, १०४, ६, १३, ८६, २१८, २०–१, ३३, ३७, ४६
षड्दर्शनसमुच्चय ८, १७, २२, २६
षष्टितन्त्र ६–१३, १७–६, २१, २७, ६२
सन्मतितर्कप्रकरण ५६
सर्वदर्शनसंग्रह ५५
सांख्यकारिका १, ६–१०, १३–४, १७, १६, २०–१, २७–३२, ३४, ५४, ५६–६, ६१, ६३, ६६, ७०, ७४, ७६, ८१, ८६, ६०–२, ६६–७, १०१, ३–४, ६–१०, १५,

१७-२०, २२, २५-७, ३०, ३३-४, ३७, ४१, ४३-४४, ४६, ५०-१, ५७, ५६-६२, ६४-५, ६७-८, ७२-३, ७५, ७७, ८७, २००, ४-६, ८-६, १२-३, २०, २८, ४६, ५२

सांख्यकारिका (वृजमोहन चतुर्वेदी) ११३
सांख्यकारिकाभाष्य ४२-३
सांख्यचन्द्रिका २८, ३३, १२७-६, ५६-६०, ८६-६०, २१३, २६
सांख्यतत्वकौमुदी ज्योतिष्मती व्याख्या ३३, १५२
सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा ३३, १५२
सांख्यतत्त्वालोक १, ३४, १४६
सांख्यतत्त्वविवेचनम् ६०, १२३, ७७
सांख्यदर्शनम् १६६
सांख्यदर्शन का इतिहास १, ६, ६, ११-५, १७, २६, २८-६, ३२-६, ३६, १३१
सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा ४, ६, १२, १४-५, १७, ३२-३, १५२, ६६-७०
सांख्यप्रवचनभाष्य २, ६, १२, १४, ३३-४, ३८, ४०-२, ४४-५, ४६, ५३-५५, ५७-६५, ६७, ६६, ७०, ७२-७७, ८२-६, ८८-६३, ६८-१००, २-६, ८-६, ११, १३, १५-२४, २६-७, ३२-६, ३८, ४०-४४, ४८-६, ५३-६३, ६६-६, ७१-३, ७५-८, ८०-१, ८३, ८५-६, ८८-२११, १३, २०, ३२-६, ४१-५१
सांख्ययोगदर्शन ३३
सांख्यसार २२, ३६, ४२-४४, ७७, ८८-६०, १०६, १५, १७-२१, २३, २६, ४१-३, ४६, ५५, ६३-४, ६७, ७१, ७८, २०७, ३८, ४१-३, ४५-६, ४६-१
सांख्यसिद्धान्त १०३, ५१, ५७, २४०
सांख्यसूत्र/सांख्यप्रवचनसूत्र ६, १२-२०, २२, २४, ३३, ४५, ४६, ५४, ५६-८, ६०-४, ६६-६, ७१, ७३-५, ८३-५, ८६-६३, ६८-६, १०१, ३, ११, १५-८, २०-२, २५, ३०-१, ३३-४, ३७-८, ४१, ४८, ५०-१, ५४,

५७, ५६, ६१–६६, ६८–१, ७३, ७५, ७७, ७६, ८०, ८६, २१०–१, २०, २६–३०, ३२, ३४–५, ३८, ४१, ४८, ५०

सांख्यसूत्रम् १७६

सांख्यसूत्रविवरण ३०, ३३

सांख्यसूत्रवृत्तिसार ३३, ३८, १६१, ६६, ७५, ७७, २०६

सुवर्णसप्ततिशास्त्र २०, २७–६, ६४–५, ६२, ११७, २८, ४४–४७, ५६–६०, ६२, ८१, २१३

सौरपुराण ८६

स्याद्वादमञ्जरी २८

हिन्दुस्तान की कहानी १

A comparative study of the conception of liberation in Indian Philosophy 207

A Critical Survey of Indian Philosophy 109, 12, 35, 37, 216, 17, 20

A History of Indian Philosophy Vol. I 19, 27, 33, 35, 238.

Aniruddha Vritti (Introduction : Rechard Garbe) 5

Classical Sankhya : A Critical Study 93, 101, 10–2, 22

Early Sankhya 29, 48, 106

Encyclopedia of Religion & Ethics 47

History o Philosophy East & West 58

History of Sanskrit Literature 37–8

Indian Epistemology of Perception 87

Indian Literature 35

Indian Philosophical Studies 79, 81–3, 6

Sankhya Sar (Edited by F. E. Hall) 12, 15, 41

Sankhya System 7, 10, 20, 7, 8, 35, 47, 169

Sankhya Yoga 20

Six Systems of Indian Philosophy 179

The Evolution of Sankhya School of Thought 226–7

The Sankhya Conception of Personality 239–40

The Sankhya Karika (Translated by S. S. Surya Narayana Sastri) 28, 47

The Sankhya Karika of Ishvarkrishna (John Davis) 1

The Sankhya Karika of Ishvarkrishna (Radha Nath Pukhan) 113

Theism of Pre-classical Sankhya 226

The Theory of Rebirth 213

Yuktidipika (Edited by R. C. Pandey) 3

नाम-अनुक्रमणिका

अङ्गिरस २४
अणिमा सेनगुप्ता ६३, १०१, १०-१२, २२०, २३, २६-२७
अनिरुद्ध १२, १४-५, १६, ३३, ३६, ३८-६, ५४, ५७-६३, ६६-७, ७१-३, ८४-५, ६८-६, १०८, १७, ५०, ५५, ६१-२, ६६, ६८, ७०, ७१, ७३, ७६-८, २२६-३२, ३६, ३६-४२, ४८
अप्पय दीक्षित १२, १७
अभयकुमार मजुमदार २३६-४०
अमर सिंह (अमरकोशकार) ३
अय्यास्वामी शास्त्री २७, २६
अराड ४, ८, २२०, २६
अशोककुमार लाड २०६-७
अश्वघोष ४, २२६
असित २२२
अत्रि २४
आद्याप्रसाद मिश्र २, ६, १४-५, १७-६, २३, ३०-३२, ११२, ४८, ५१-२, ६६-७०
आर्षिषेठा २४
आसुरि ५, ७-८, १०, १२, १६-२१, २२, २७, ६४-६, ६८, १०३, ८, २२२, २७
ईश्वरकृष्ण १, ८-१०, १२-३, १६-७, १६, २५-८, ३०, ५६, ५६, ६६, ६७, १०६, २०, २६, ३७, २०५-६, १३, २०, २८-६
उदयन ६०
उदयवीर शास्त्री ५, ६, ६, ११-५, १७-६, २३, २६, २८-२६, ३१-३, ३६-८, ८६, १०१-२, ५१, ५७, ६६, २२७, ४०
उमेश मिश्र २६-३०, १०८, १०, १३
उलूक २६
ऋषभेश्वर २८
कपिल १, ४-६, ११-७, १६, २२, २७, ४५, ४७, ५१, ६८, ६४, १०१, ३, ८, ५३, ७०, २१८, २६-७, ३३, ४६-५०
कश्यप २४
कालिदास ४०
कालीपद भट्टाचार्य ८, २४, ३१
कुमारिल ८६
के० वी० रामकृष्ण राव २२६
कैरात २८
कौडिन्य २८
क्रतु २४

गणेश दीक्षित ३७
गुणरत्न सूरि २०, २२, २६
गोपीनाथ कविराज १, ७, १०, १६, ३२, ४१
गौडपाद ३१–३२, ४३, ५७, ७०, १०६, २७–६, ४४–५, ४७–८, ५६, ६३, ६८, ७३–४, ७७, २१३, २८
चन्द्रधर शर्मा १०६, ११–१३, ३५, ३७, २२०
चरक २२७, ४४
चित्सुख ३६
जनक/दिवरातिजनक/कराल जनक २१–३, ५१, २२२
जयन्त भट्ट ३०
जयमङ्गलाकार ३२, ५७–८, ७०, १२८–६, ४४–५, ४७, ५६, ६२, ७३, ७६–७, ८६, २१३
जैगीषव्य २४–५
दक्ष २४
दिङ्नाग ३१, ६०
दिव्य सिंह मिश्र ४१
देवल १५–१६, १८, २५–६, ४५
नागेश भट्ट ३६
नाथूराम प्रेमी २६
नारद २४–२५, २२२
नारायणतीर्थ/सांख्यचन्द्रिकाकार २८, ३३, ३६, ७०, १२८–२६, ५६–६०, ८६, २१३
पञ्चशिख ५, ६–१३, १५, १६, २१–३, २७, ५१, १०१, ३, ८, २५–६, ३१, ६६–७०, ८४, ८६, २०१, १६, २२–३, २६–७
पञ्चाधिकरण २८, ३०, १४१, ५३, ५७, ५८, ६३–४, २१३
पतञ्जलि (योगसूत्रकार) ६१, १६८
पयञ्जलि (सांख्याचार्य) २८, ३०, १०३, ८, ४१, ५८, ६४
परमार्थ २७–६
पराशर २६
प्रसादमाधव योगी ४१
पाणिनी २६
पुलस्त्य २४
पुलह २४
पौरिक २८, ३०
प्लुति २४
प्रभाकर ८३–४, ८६
बलदेव उपाध्याय ११२
बसुबन्धु ३१
बादरायण ४६–७
बालगङ्गाधर तिलक २८, ३१, २२४, २८
बालराम उदासीन/विद्वत्तोषिणीकार ६, ११, ६७, १४६, ४८, ६१, ६२, ८१
ब्रह्मदत्त ४६
भर्तृप्रपञ्च ४६
भावागणेश २१–२२, ३६–७, ३६, ४१, ६२, ६६, ६०, १०३, ८, १७–६, २१, २३, ४२–३, ४६, ५३, ६१, ६३, ६५, ७१, ७७, ८६–६०, २०१

भास्कराचार्य ६, ४६
भार्गव २६
भीष्म २५, २२३
भृगु २४
भोजराज ३०
मध्वाचार्य ४, ४६
मनु ४५, ६६, १५३
मल्लिनाथ १७
मरीचि २४
महादेव वेदान्ती १६, ३३–४, ३७–८, १५१, ६१, ६६, ७७, २३६–४०
महाभारतकार ४६
माघ ४०
माठर १०, २६, ५७, ६६, ७७, १२७–६, ४५, ४८, ५६, ६२, ७३–४, ७७, ८५, ८६, २१३
माधवाचार्य ५५
माधव परिव्राजक ३०
यदुनाथ सिन्हा ८७
याज्ञवल्क्य २२–३, २२२
युक्तिदीपिकाकार १०, १८, २०, २६, ३०–१, ५७, ७०, १४१, ४३, ४५–६, ४८, ५६–६०, ६२–३, ७७, २१३, ५१–२
युधिष्ठिर २२३
रघुनाथ शिरोमणि ३८
राधानाथ फूखन ११३, २१३
रामचन्द्र पाण्डेय ३१
रामद्वयाचार्य ३६
रामशङ्कर भट्टाचार्य १४८, ५४, ७६
रामसुरेश पाण्डेय ६, १२, १८, २२०
रामानुजाचार्य ४६
वल्लभाचार्य ४६
वशिष्ठ २, २२–३, २२२
वाचस्पतिमिश्र/तत्त्वकौमुदीकार ११, १६, २१–२, २५, ३०–३३, ३८–६, ५३–४, ५७, ६०, ६३–५, ६७–८, ७०–१, ७३, ७८, ८०, ६७–६, १०१, १८, २८–६, ४४–८, ५३, ५६–६०, ६२–३, ७२–३, ७६–७७, ८४, ८८–६, २१३, २६, ४१–२, ५२
वात्स्यायन १६–८
वाद्धलि २८
वामन शास्त्री इस्लामपुरकर ३८
वाल्मीकि २६
वार्षगण्य ११–२, २६–७, ३०, ५६, ५८, १३१, ४१, ५७, १५८, २२७–८
विज्ञानभिक्षु २–३, ६–७, १२, १४–५, १६, २२–३, ३५–४४, ४६, ५३–६७, ६६–७६, ८२–६२, ६६, ६८–१०६, ११, १३–२६, ३८, ४०–४३, ४८–५६, ६१–७४, ७६–८, ८०–६, ८८–८६, २०२–३, ५, ८, १०–१२, १४–१५, १६–२०, ३२–५३
विन्ध्यवासी २७–८, ३०, ५६, ५८, ६५–८, १०२, ४६, ५३, ५५, ५७, ६३, २१३
विन्ध्येश्वरी प्रसाद ४२–३

वृजमोहन चतुर्वेदी ११३
बोद्ध २४
व्यास २१, ५६, १०१, ५६, ७२
शङ्कर ३२
शङ्कराचार्य ४–६, ६, २६, ३१–२, ४०, ४४-७, १३१, ३५–६, ४०–१, २२७, ३८, ४१
शङ्करार्य ३२
शङ्ख २
शबर ३१
शुक २४
शुक्र २४
श्रीकण्ठ १६–७,
षिमानन्द ६०, १२३, ७७
सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ११२
सदानन्द यति ३७–६
सनक २४
सनत्कुमार २४
सनन्दन २४
सनन्दाचार्य १६, २४
सर्वपल्ली राधाकृष्न् २०–२२, ३३, ३५, ४८, ५०, १३७, २१६, २६
सहदेव २४
सातकडि मुखर्जी ५८
सांख्यसूत्रकार १६, ७४, ८४–५, ६७ १२१ ६२
सुलभा ५१
सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त १६, २७, ३३, ३५, २१६, २३, २६, २७
सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य ३७, ४०, ४३–४४, २३६
सुवर्णसप्ततिकार २८, १४४–४७, ५६, ६२, २१३
सूर्यनारायण शास्त्री २८
सोमतिलकसुरि १
स्वप्नेश्वर, १२, २०
हयवदन राव ४०
हरदत्त शर्मा ७, १०, ५०
हरिभद्र सूरि १७, २२
हरिहरानन्द आरण्य ३३, १०६
हर्ष ३६
हारीत २६
हिरियन्ना १०, ११, ७६, ८१, ८६, १२३–४, २२०, २३
हेमचन्द्र २८
क्षीरस्वामी १७
A B. Keith 7, 10, 20, 28, 35. 37–8, 47, 169–70
Aujrecht 36, 42–3
Belvalkar 28
Colebrook 7
E. H. Johnston 29, 47
F. E. Hall 12, 22, 36, 41
Jacobi 7
John Davis 1
Maxmuller 7, 179
P. K. Gode 36, 37, 39
D. D. Wadekar 110
Rcchard Garbe 1, 2, 5, 20–1, 35, 47, 223
Takakusu 27–8
Weber 4

शुद्धिपत्र

	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ ४३ अनुच्छेद २ पंक्ति ६	ब्रह्म	ब्रह्मा
पृष्ठ ६४ पंक्ति १	धूप	धूम
पृष्ठ ७६ पं. ६ तथा पृष्ठ २३८ पं. ६	चित्र	चित्त
पृष्ठ ८५ पैराग्राफ २ पंक्ति ६	रजत-स्फटिक	रक्त-स्फटिक
पृष्ठ ८६ पादटिप्पणी ३	भा० द०	भा० द० रू० रे०
पृष्ठ १०५ पैराग्राफ १ पंक्ति १	साख्यकारिका	सांख्यकारिका
पृष्ठ १२८ पंक्ति २	सत्व	तमस्
पृष्ठ १३४ पैराग्राफ १ पंक्ति १४	पुरुषार्ष	पुरुषार्थ
पृष्ठ १६४ पंक्ति ११	अतिवाहिक	आतिवाहिक
पृष्ठ १६६ पंक्ति १०	प्रमाडी	प्रनाडी
पृष्ठ १७५ पैराग्राफ २ पंक्ति २	सांख्यकारिकाओं	सांख्यकारिका
पृष्ठ १७६ पंक्ति १२	अम्म	अम्भ
पृष्ठ १७७ पैराग्राफ १ पंक्ति ४	येदान्ती	वेदान्ती
पृष्ठ १७७ पादटिप्पणी ७	जद्यम०	जयम०
पृष्ठ १६४ पैराग्राफ १ पंक्ति ७	आदि श्रुतियों तथा 'कथमसतः सज्जायेत' (छान्दो० उप० ६।२।३)	तथा 'कथमसतः सज्जायेत, (छान्दो. उप० ६।२।३) आदि श्रुतियों
पृष्ठ २११ पैराग्राफ ३ पंक्ति १	तत्त्वों	दर्शनों

‘‘सांख्य दर्शन की विज्ञानभिक्षुकृत व्याख्या का एक समीक्षात्मक अध्ययन’’ शीर्षक... ...प्रबन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु की कृतियों में निरूपित सांख्य सिद्धान्तों का व्य .स्थित विवेचन प्रस्तुत किया गया है । लेखिका ने विज्ञानभिक्षु के मूल ग्रंथों के आधार पर उनके द्वारा प्रतिपादित सांख्य के प्रमाण, प्रकृति, पुरुष, सृष्टि - विकास, दुःख-मोक्ष और ईश्वर विषयक विचारों की, सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में, सुसम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत की है और विज्ञानभिक्षु के मत-वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए सांख्य दर्शन को उनके योगदान का मूल्यांकन किया है । इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अनुसंधात्री को पर्याप्त सफलता मिली है और उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध अनुसंधात्री के गहन अध्ययन का परिणाम है और उन्होंने यत्र तत्र अपनी आलोचन शक्ति तथा निर्णयात्मक बुद्धि का भी परिचय दिया है । प्रबन्ध की भाषा अच्छी है ।

डॉ० चन्द्रधर शर्मा
आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर (म. प्र.)

सांख्य दर्शन और विज्ञानभिक्षु

डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी